नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५६, सं० २०००

संपादक

कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का ५)

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।

वार्षिक विषय-सूची

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५६] संवत् २००८ [अंक १

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज

उन्नीसवीं त्रैवार्षिक विवरणिका

संवत् २००१–२००३ वि०

[श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र]

सभा के नियमानुसार इसके सभी कार्यों में पहले से ही सौर विक्रम संवत् का उपयोग होता आ रहा है। परंतु इसके पहले की खोज-विवरणिकाओं में अंग्रेजी शासन में प्रांतीय सरकार के (जिसकी सहायता से यह कार्य हो रहा है) नियमानुकूल ईसाई सन् का ही व्यवहार होता रहा। खोज की प्रस्तुत त्रैवार्षिक विवरणिका विक्रम संवत् के क्रम से तैयार की गई है। वैसे इसमें तीन ही वर्षों के विवरण-पत्र रहने चाहिए थे, परंतु वि० संवत् पूरा करने के लिये इसमें लगभग चार मास के विवरण-पत्र और सम्मिलित कर देने पड़े। आगे से खोज-विवरणिकाएँ अंग्रेजी में न छपकर हिंदी में ही छपेंगी।

खोज की उक्त कार्यावधि में तीन अन्वेषकों—श्री दौलतराम जुयाल, श्री विद्याधर त्रिवेदी और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी—ने विवरण लेने का कार्य किया। श्री विद्याधर त्रिवेदी ने प्रस्तुत त्रिवर्षी के आरंभ में ही थोड़े दिन काम करके त्याग-पत्र दे दिया था, जिसके एक वर्ष पश्चात् श्री कृष्णकुमार वाजपेयी उनके स्थान पर नियुक्त हुए। इस प्रकार वर्ष भर एक अन्वेषक का काम बंद रहने से विवरण लेने के कार्य में निश्चय ही कुछ कमी हुई।

श्री दौलतराम जुयाल ने सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के थोड़े से ग्रंथों के विवरण लेने का कार्य निपटाकर आजमगढ़, गोरखपुर, इलाहाबाद और सुलतानपुर जिलों में कार्य किया। प्रथम तीन जिलों का कार्य समाप्त हो गया है और अब सुलतानपुर में कार्य चल रहा है। श्री कृष्णकुमार वाजपेयी ने गाजीपुर जिले का कार्य समाप्त करके जौनपुर जिले में कार्य आरंभ किया ही था कि वहाँ के अधिकांश भागों में प्लेग का प्रकोप हो गया। अतः वहाँ का कार्य स्थगित कर उन्हें श्री जुयाल जी के साथ ही काम करने के लिये सुलतानपुर भेज दिया गया।

प्रस्तुत त्रिवर्ष में १२५४ ग्रंथों के विवरण लिए गए। इसमें ३४७ ग्रंथों के विवरण श्री कंठमणि शास्त्री (विद्याविभाग, काँकरोली) और ३७ ग्रंथों के विवरण श्री मोतीलाल अग्रवाल (एक्साइज इंस्पेक्टर, रियासत छतरपुर) से प्राप्त हुए। शेष कार्य तीन वर्षों में इस प्रकार विभक्त है—

सं० २००० (पौष–चैत्र) में २०१ विवरण; सं० २००१ में १२६; सं० २००२ में २४१ और सं० २००३ में ३१२ विवरण।

५६६ ग्रंथकारों के रचे ८७२ ग्रंथों की ९९७ प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त २५७ ग्रंथ ऐसे हैं जिनके रचयिता अज्ञात हैं। ४०३ ग्रंथकारों के रचे ५६७ ग्रंथ खोज में बिलकुल नए हैं। इनमें १६३ ऐसे नवीन ग्रंथ सम्मिलित हैं जिनके रचयिता तो ज्ञात थे; किंतु उनके इन ग्रंथों का पता न था।

ग्रंथों और उनके रचयिताओं का शताब्दि-क्रम निम्नलिखित है—

शताब्दी	१०वीं	१३वीं	१४वीं	१५ वीं	१६वीं	१७ वीं	१८वीं	१९ वीं	२०वीं	अज्ञात	योग
ग्रंथकार	१	१	१	५	१२	४३	७३	८७	३१	३१२	५६६
ग्रंथ	१	१	१	२३	२८	१७८	९२	१४१	४५	४७४	१२५४

विषय-विभाग की सारिणी यों है—

काव्य–१३९; दर्शन और अध्यात्म–७३; भक्ति–१५०; योग–३; अलंकार–१७; शृंगार–१२२; पिंगल–११; नाटक–२; संगीत–६; कोश–७; व्याकरण–१; भूगोल–७; ज्योतिष तथा गणित–२६; पुराण और इतिहास–२६; पौराणिक कथाएँ–५५; कथा-कहानी–५८; परिचयी या जीवनवार्ता–६; धार्मिक और सांप्रदायिक–५०; लीलाविहार–६२; नीति, राजनीति और ज्ञानोपदेश–९५; माहात्म्य और स्तोत्र–५०;

वैद्यक-३६; कोकशास्त्र-५; स्वरोदय-६; शालिहोत्र-१०; रमल और शकुन-६; वंशावली-६; वास्तुविद्या-२; यात्रा-६; पाकविद्या-१; पहेली-१; रत्नपरीक्षा-१; जंत्र, मंत्र और तंत्र-५; सामुद्रिक-४; रसायन-१; आखेट-१; धनुर्विद्या-१; फुटकल-१८६।

नवीन रचयिताओं में ईश्वरदास, कन्हैयालाल भट्ट "कान्ह", कान्ह कवि (लघु-कान्ह), कुदरतीदास या कुदरती साहब, कृष्णदास, गंगाराम, घनदेव कान्यकुब्ज (वैष्णव), चतुर्भुज मिश्र, छविनाथ, जान कवि, मिरजा मुहम्मद जान, तामसन साहब, थेधनाथ या थेघू, देवेश्वर माथुर, नवरंगदास स्वामी, पंचौली देवकर्ण, प्राणनाथ सोती, फणींद्र मिश्र, बलदेव कवि, बलरामदास, भगवतदास, भरसी मिश्र-रामनाथ पंडित, भारथ सिंह या भारथ साहि, भीम, महीपति या महीप, मुरलीधर कविराइ, शिवदत्त त्रिपाठी, शिवदास गदाधर, शेख अहमद, शेख निसार, समाधान, हसन अली खाँ, हेमरतन और हेमराज मथेन मुख्य हैं।

ईश्वरदास (इशरदास)

इनकी एक रचना 'सत्यवती की कथा' (काशी नागरीप्रचारिणी सभा में विद्यमान) का पता खोज में प्रथम वार ही लगा है। यह खंडित है जिसमें केवल संख्या ४, १८ और १६ के तीन ही पत्रे हैं। रचनाकाल और लिपिकाल तो अज्ञात हैं ही, पर इन पत्रों द्वारा रचना के नाम का भी पता न चल सका। ग्रंथकार का नाम अंतिम पत्र में इशरदास (ईश्वरदास) दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत हिंदी साहित्य के इतिहास में इस नाम के एक रचयिता की रचना 'सत्यवती-कथा' का उल्लेख है। उसमें कथा का सार भी दिया है। मिलान करने पर पता चला कि प्रस्तुत रचना में भी वही कथा है। इसी आधार पर इसका नाम 'सत्यवती-कथा' विदित हुआ। उक्त इतिहास में रचनाकाल तथा रचयिता के संबंध में ये उद्धरण दिए हैं—

भादौ मास पाख उजियारा। तिथि नौमी औ मंगल वारा॥
नषत अस्विनी मेषक चंदा। पंच जना सो सदा अनंदा॥
जोगिनिपुर दिल्ली बड़ थाना। साह सिकंदर बड़ सुलताना॥
कंठे बैठ सरसुती, विद्या गनपति दीन।
ता दिन कथा आरंभ यह, "इसरदास" कवि कीन्ह॥

इसके अनुसार रचयिता दिल्लीपति शाह सिकंदर के राज्यकाल (संवत् १५४६-१५७४ वि०) में वर्तमान थे और दिल्ली के ही पास जोगिनीपुर स्थान के

निवासी थे। भाव, भाषा और शैली के विचार से, विवरणिका में आए "भरत-विलाप"[१] (संख्या २१)[२] और "अंगदपैज"[३] (संख्या २३) भी इन्हीं के रचे जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिये इन ग्रंथों से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

सत्यवती की कथा

कंठे बैठ सरसुती, विद्या गनपति दीन्ह।
ता दिन कथा आरंभ यह, इसरदास कवि कीन॥
रोवै ब्याधि बहुत पुकारी। छोहन बिछु रोवै सब झारी॥
बाघ सिंघ रोवत वनमांही। रोवत पंछी बहुत ओनाही॥

(हिंदी साहित्य का इतिहास)

रिषिअन के राआ पुछत हव मौ तोहि।
कैसे बाढे हो पाचौ पंडौ चोपे अरथ सुनावहु मोहि॥

(खोज में प्राप्त प्रति)

भरतविलाप

सुरसत चरन मनिवहु, मनमै बहुत उछाह।
राम कथा कछु भाषहु, जाकै गुन औगाह॥
रामचंदर छाडा असथाना। रोए नगर सकल परधाना॥
रोए सीआ सतीवर नारी। राम लखन वीनु अवध उजारी॥

× × × ×

चोपे दूत विदा जब भयऊ। अतरवास जोजन सत गयऊ॥

× × × ×

१—भरतविलाप की चार प्रतियों का पता इस प्रकार है—(१) सं० १८८० की लिखी प्रति पं० गयाप्रसाद शास्त्री (ग्राम बेलासदाँ, डाकघर भदैयाँ, जिला सुलतानपुर) के पास; (२) नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (याज्ञिकसंग्रह) में; (३) श्री दौलत राम पांडेय (ग्राम और डाकघर सहिजादपुर, जिला इलाहाबाद) के पास; (४) नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में।

२—यहाँ तथा आगे भी इस प्रकार कोष्ठक में निर्दिष्ट संख्याएँ विस्तृत विवरणिका की हैं।

३—अंगदपैज का पता—पं० रामअनंद त्रिपाठी, ग्राम दरवेशपुर, डाकघर भरवारी, जिला इलाहाबाद।

घर घर रोअही पुरुखर नारी। राह बाट रोए पनिहारी ॥
मन मह रोवत पसु ओ पंछी। हाहाकार रोए जल मंछी ॥

× × ×

भरथवीलाप कथा वीमल, इसरदास कही गाव।
जो नर सुनही जो गावही, जनम जनम अघ जाइ ॥

× × ×

अंगद पैज

मारी दोहई मंत्री चोपे पठवहु एक दूता।
वेगि जइ लै अवही वलि रइक पुत्रा (? वालिराइ के पूता) ॥

× × ×

रघुनंदन अस बोले अंगद को नही जन (जान ?)।
राम राम जग तरन इसरदास कवि मान ॥

"भरतविलाप" और "अंगदपैज" तो एक ही ग्रंथ के अंश जान पड़ते हैं। संभव है कवि ने "रामचरित्र" पूरा लिखा हो और उसी के ये अंश हों। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सरस्वती की वंदना "सत्यवती कथा" और "भरतविलाप" दोनों में की गई है। "अंगदपैज" की प्रति खंडित मिली है जिससे उसके—यदि वह स्वतंत्र रचना हो– मंगलाचरण के उद्धरण प्राप्त नहीं; पर विलाप-वर्णन दोनों के मिलते-जुलते हैं। कवि का नाम "इसरदास" तीनों ग्रंथों में दिया है। भाषा भी सबकी अवधी ही है।

कन्हैयालाल भट्ट उपनाम "कान्ह"

इनका पता भी इस त्रिवर्ष में नया ही लगा है। ये जयपुर के निवासी थे और मथुरा में रहने लगे थे। इन्होंने अपने को किसी सरदार नरेश का मंत्र-सिरताज कहा है—

श्री सिरदार नरेस कौ सकल मंत्र सिरताज।
जग जाहर जसरा के हित यह रचित समाज ॥
श्री जैपुर वासी सुकवि मथुरास्थ दुजराज।
'कानभट्ट' कीने कवित्त विंशति श्लेष समाज ॥

इनकी "श्लेषार्थविंशति" (श्री सरस्वती-भंडार, विद्याविभाग, कांकरौली में वर्तमान) नामक एक महत्त्वपूर्ण रचना के विवरण लिए गए हैं, जिसमें श्लेषालंकार

पर एक सौ कवित्त हैं। ग्रंथ पूर्ण होते हुए भी उसमें रचनाकाल और लिपिकाल का उल्लेख नहीं। नीचे इनका एक कवित्त दिया जाता है—

सुबरन कर सोभी हे अछरनलोभी है छंद के प्रबंध तै होत हिय तर तर।
धर्न यति यमक बिचारि मित्रिगनहु को विरसन मुंच वध जल मल फर फर।
बिरजन सक्त मतु मानहु विरंग गति अगराज नंदन कर जस रूप धर धर।
कवियत्वि कंज कुंज प्रभा सभा लोक कोक सर वर कान मान रमा उमा हरि हरि ॥१४५॥

कान्ह कवि (लघुकान्ह)

उन्होंने संवत् १६१६ में "हरिनाथविनोद"[४] नामक नायिका-भेद विषयक ग्रंथ की रचना की। ये पाली शहर के निवासी मनिराम के वंशज थे। ग्रंथ के दूसरे अध्याय की समाप्ति के लेख से पता चलता है कि ये जगदंबा के भक्त थे—

इति श्री सकल गुन विचछन स्वच्छ लछ्छन प्रतच्छ परेस्वर पदारविंद अनुरक्त भक्त भवद जोतम स्वयंवर सुवन दुवन दहन रोगवन अनल विध्वंसन कुलधर वंसावतंस समथ परमार्थ स्वारथानुरक्त वैद्यराज हरिनाथविनोदे जगदंब जन कान्ह कृते संछेप स्वकीया वनन नाम द्वितीयोध्याय ॥

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना इन्होंने किसी हरिनाथ के नाम पर की है जो अलवर-नरेश विनेश के यहाँ छः रत्नों में से एक थे—

''''''उपजे जू पंडित जहाँ पाली सहर जरूर ॥ ४ ॥
मनीराम के वंश मैं कान्ह सुजान। कीनी रचना ग्रंथ की रस सिंगार पहिचान ॥
श्री विनेश भूपति भयो भू पर भान समान। जिनकी कीरति छंद पढ़ि कवि कल करत बषान ॥
तिन कर कृपा कटाक्ष ये राखे छै गुनवंत। एक स्वयंवर वौध कौ लषिगुन गूढ़ अनंत ॥
दूजे कवि हरिनाथ कौ भवभूपनि मनिमानि। '''''''''''''''''''''' ॥
''''''''''''''''''''तिनके हित यह कान्ह कवि रचो ग्रंथ सुखदाई ॥"

इन उद्धरणों से यह भी विदित होता है कि हरिनाथ के पिता का नाम स्वयं-वर वौध (वैद्य ?) था। दोनों पिता-पुत्र वैद्य और बड़े गुणी तथा अलवर राजदरबार के छः रत्नों में से प्रथम दो रत्न थे। ये पाठक ब्राह्मण थे। ग्रंथ-स्वामी गयाप्रसाद पाठक का कहना है कि हरिनाथ पाठक उनके बाबा थे और मईं ग्राम-जहाँ ग्रंथ-स्वामी रहते हैं—के निवासी थे।

४—पता—पं० गयाप्रसाद पाठक, ग्राम मईं, डा० केराकत, जि० जौनपुर।

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति खंडित तथा जीर्णावस्था में मिली है। बहुत से स्थानों की स्याही उखड़ गई है और अक्षर भी ठीक पढ़े नहीं जाते। अतः रचयिता के उपर्युक्त वृत्त के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ग्रंथ का लिपिकाल अज्ञात है। काव्य की दृष्टि से रचना सुंदर है। रचना के कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

नायक लक्षण।

॥ मोतीदाम छंद ॥

कहौ पहिले सुचि सील सुभाई। उदार धनाधि सहै कविराई ॥
जुवा सब केलि कलान प्रवीन। तिया यक चाह सदा गुन लीन ॥

ऋतु-वर्णन (वर्षा)

बरसै सम जात घरी पलहू न॰ (सु ?) वियोग विथा (तन में) सरसै।
सरसै अँखियान ते नीर प्रवाह कराहि कराहि हिये करसै।
करसै न बसात कछू बसरी "कवि कान्ह" सुजान बिना परसै।
परसै तनसौं तन हाय दई घनघोर घमंड घने बरसै ॥ १८ ॥

कुदरतीदास या कुदरती साहब

इनकी दो रचनाएँ "रामायण" (अनुमान से) और "विश्वकारन"[५] मिली हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है—

रामायण—यह खंडित है जिसमें ग्रंथ के नाम तक का उल्लेख नहीं। विषय को देखकर ही इसका नाम "रामायण" रखा गया है। इसमें चौपाई और साखियों में रामचरित वर्णित है। दोहे के लिये साखी शब्द प्रयुक्त हुआ है। कथावस्तु में जहाँ तहाँ परिवर्तन किया गया है। अनेक कथाएँ स्वतंत्र रूप से वर्णित हैं और कितनी ही छोड़ भी दी गई हैं। कथारंभ रचयिता ने अपना पूर्व जन्म का इतिहास देकर किया है, जिसका वर्णन स्वयं भगवान रामचंद्र करते हैं। ग्रंथ में कांडों, अध्यायों और सर्गों आदि का उपयोग नहीं हुआ है और कथा भी अत्यंत. संक्षेप में लिखी गई है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं।

विश्वकारन—यह ग्रंथ पूर्ण है। इसमें जगत् की उत्पत्ति के कारण तथा भस्मासुर की कथा का वर्णन है। रचनाकाल अज्ञात है पर लिपिकाल संवत् १९०८ वि० दिया है।

५—दोनों का पता—श्री गुसांईं रामस्वरूप दास, कुटी सठियाँव, डा० जहानागंज रोड, जि० आजमगढ़।

इन ग्रंथों के द्वारा रचयिता के विषय में केवल इतना ही पता चलता है कि इनको स्वप्न में राम-दर्शन होने पर भक्ति का वरदान मिला था। अन्य कोई विवरण नहीं मिलता। परंतु ग्रंथ-स्वामी (गुसाँई रामस्वरूपदास; कुटी, सठियाँव; डाकघर जहानागंजरोड; जिला, आजमगढ़) के कथनानुसार ये जिला गोरखपुर के अंतर्गत गोला बाजार के निकट बराहगाँव के रहनेवाले ब्राह्मण थे। संत-मत ग्रहण करने पर इन्होंने अपना नाम कुदरतसाहब रख लिया था। इन्होंने बहुत से ग्रंथों की रचना की। लगभग चौबीस ग्रंथ ग्रंथ-स्वामी के पास थे जो काल-गति से नष्ट हो गए और कुछ इधर उधर चले गए। उनमें एक ग्रंथ "जगसमाधि" भी था।

ग्रंथों को पढ़ने से पता चलता है कि रचयिता निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति के समर्थक थे। भक्ति करते हुए कष्टों को झेलना ये वांछनीय नहीं समझते थे। संसार के सब सुखों को भोग कर भी भक्ति की जा सकती है; परंतु सत्य और विश्वास अवश्य रहना चाहिए। इनसे कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

रामायण

पाँच ततु तेही भीतर, परम जोति परगास।
नारी पुरुस काके कहो, अवीनासी नाही नास ॥

चौपाई

अजर अडोल अाचींत सरीरा। सो निरगुन गुन सहीत मथीरा ॥
निरगुन ब्रंभ ताहा ते आवा। सगुन रूप सोए दास कहावा ॥

× × ×

साषी

सात दीप नव षंड भरी, महीमा तीनों लोक।
जनक विदेही प्रन कियो, जो विधि करही सोक ॥

चौपाई

जाना प्रन एह कठिन हमारा। बोले तब नॄप जनक वीचारा ॥
जब वीधी प्रभुता सीतही दीन्हा। सौ समान वर काहे न कीन्हा ॥
सीता सम पटतर कोउ नाही। करही बषान वेद वीधी जाही ॥
सो प्रभुता लषी प्रन हम ठाना। अब मै सोक समुद्र समाना ॥

विश्वकारन

पानी पवन आगीनी कीओ, धरती ततु अकास।
ब्रंभा वीस्नु महेस भो, तीनो गुर परगास ॥

रजगुन सतगुन तामसा, कारन करता कर्म ।
ताते बीस करमा, धरती धारा धर्म ॥
ब्रंभ वाकी ब्रह्मंड, में ब्रंभा पूजा कीन्ह ।
ह्रिदआ नाभी कवल मह, वीस्नु वास तहा लीन्ह ॥

× × ×

बार बार करि दंडवत, संभु गए कैलास ।
तब गीरीजही समुझाए के, जो प्रभु कीआ प्रकास ॥
हरी चरीत्र गुन वरनत, महीमा वारहीवार ।
आगम अगोचर आपु हरी, गुन अजीत वैपार ॥

कृष्णदास

संवत् १६२८ में इन्होंने "जैमुनि कथा" (का० ना० प्र० सभा में विद्यमान) की रचना की जिसमें पांडवों के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। इसकी वर्तमान प्रति संवत् १८६७ में लिखी गई। इसमें मध्यकाल का कुछ ऐतिहासिक लेख मिलने से ग्रंथ महत्त्व का है। इसके अनुसार रचयिता सरजू और गंडक के बीच गोरखपुर प्रांत के निवासी थे। इनके पितामह का नाम धानो और पिता का परान था। पिता का जन्म सरजू और गंडक के संगम पर बसे कलेश्वर स्थान में हुआ था जहाँ उदैसिंह नाम का राजा राज्य करता था। राज्यविद्रोह होने के कारण इनके पितामह तथा पिता कुटुंब सहित उस स्थान से भागकर तिवई जदुनंदन पुर में जा बसे। ये चार भाई थे जिनके नाम मुकुंद, भक्तमनि, केदार और कृष्णदास थे। वह समय अकबर बादशाह का था।

एक अनंत भौ सागर तरना। कृष्णदास प्रभु प्रनवै चरना ॥
कविन मांह हम कवित आना। पुन्यभूमि गोरखपुर थाना ॥
इत सरजू उत गंडक सीला। कलेस्वर मध्य मनोरम मीला ॥
उदैसिंह तह भयो नरेसा। पीता हमार जन्म तेही देसा ॥
पितु परान पितामह धानो। राज उपद्रौ अगमन जानो ॥
सकुल सहित लै तुरित सिधाए। तीवई जदुनंदनपुर आए ॥
विन्हए पुन्य दया सत धर्मा। चारि पुत्र मति मानस कर्मा ॥
प्रथम मकुंद महा मतिमाना। प्रभु भक्त मनि शुद्ध सुजाना ॥
तीसर पुत्र केदार सुख्याता। चौथे कृष्णदास विख्याता ॥
संवतसर जो गयो सतैसा। सोरह सौ जो उपर अठैसा ॥

जेठ मास जे पछ उजियारा। तिथि सातै ता दिन गुरुवारा॥
कीन्ह अरंभ तब कथा समाजा। अकबर साह छत्रपति राजा॥

नीचे "जैमुनि कथा" का थोड़ा सा नमूना दिया जाता है—

पुर्न्य जग्य हस्तिनापुर भए। चौदह वर्ष बीती तह गए॥
जग्य कीन सब रिषयन जाना। ध्रम दुदीस्ठील सत्य समाना॥
कुंती सहित रहे पुर, चौदह वर्ष भुग्रार।
श्रीपति अग्या मानी नृप, पहुचे जाइ हेवार॥

गंगाराम

इनकी एक पुस्तक "पोथी मैनसत के उत्तर" (पता—पृ० ४, टि० ३ में) नाम से मिली है जिसमें मैन नाम की सती की कथा है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है—सतन कुँवर के दूत के कहने पर रतन मालिनी ने लोर की पत्नी मैन का सत डिगाने की बड़ी चेष्टा की, पर असफल रही। विरह के अवसर पर बारहमासों के कष्टों का वर्णन कर पर-पुरुष से प्रेम करने के लिये उसने मैन को उत्साहित करना चाहा; परंतु वह तिल भर भी सत से विचलित न हुई। अंत में जब मालिनी की पापयुक्त बातें सहन न हो सकीं तो मैन ने उसकी दुर्गति करने का निश्चय किया। उसने उसके केश मुँडवा दिए, शिर सिंदूर से रँगवा दिया और माथे पर काले पीले टीके लगवा गदहे पर बिठलाकर हाट-हाट फिराने के पश्चात् निकाल दिया। इस प्रकार सत की विजय हुई।

रचना प्राचीन प्रेम-कथानक के ढंग की है और प्राचीन अवधी में लिखी गई है। इसकी प्रस्तुत प्रति कैथी लिपि में है जो अत्यंत भ्रष्ट है और ठीक ठीक पढ़ी नहीं जाती। रचनाकाल अज्ञात है। लिपिकाल अस्पष्ट संवत् ८३२ दिया है। अनुमान से इसको संवत् १८३२ मान लिया गया है। रचयिता का नाम ग्रंथांत में तथा पुष्पिका में "गंग" या "गंगाराम" लिखा है। अन्य परिचय नहीं मिलता। इस नाम के कई रचयिताओं का उल्लेख पिछली खोज-रिपोर्टों में पाया जाता है, पर ये उन सबसे भिन्न ज्ञात होते हैं।

यहाँ इनकी कविता का थोड़ा सा उदाहरण दिया जाता है—

मलीनी जइ मदील मो पैठी। मैन जह सीघसन बैठी॥
चंप को फूल चौसर (चौलर?) हरु। दीन भेट औ कीन्ह जोहरु॥

हसिकै पुछु मैन रनी। कहु गवन कीन जजमनी ॥
कह मलीनी सुन चलती मैन। अनचीन्ह कस बोलसी वैन ॥
तोरे पीतै धइ (धाई ?) मोही कीन्हा। मै तोही धरै असथन दीन्हा ॥
मन न रहे चीत गहवरे, अगी उठी तन मोही।
सवरीन्ह चीत उपजे, भेटन अइउ तोही ॥
तसो कीजे नेह, जसौ और नीवहोए।
वोसो कौन सनेह, टुट कंच सु तजेउ (तजिए ?) ॥

धनदेव कान्यकुब्ज (वैष्णव)

इनकी "नवलनेह" (विद्याविभाग, कांकरौली में वर्तमान) नाम की रचना मिली है जिसमें कृष्णलीलाओं के अंतर्गत मिलन और वियोग-शृंगार का सुंदर वर्णन है। रचनाकाल संवत् १८५४ है। लिपिकाल नहीं है।

रचयिता काशी-निवासी कान्यकुब्ज दुबे ब्राह्मण थे। इस ग्रंथ की रचना इन्होंने द्वारावती जाकर की थी जहाँ के भूमिपति का उल्लेख इन्होंने "राणा श्री सुरतान" कहकर किया है—

संमत अष्टादस सुसत, चौपन ही परमान।
माघ मास दसमी सुकल वार, भानु सुत जानि ॥९॥
कहे ग्रंथ धनदेव कवि, विप्र वनारस वासि।
कान्यकुब्ज दुबे सही, जेसी बुध प्रकास ॥१०॥
पछिम धरि द्वारावती, देस कुसस्थल जानि।
पुरी सुदामा बसत तहा, महामुक्ति की दानि ॥११॥
ताहा भूमिपति जानिये, हे राणा श्री सुरतान।
दाता ईस मानि पुनि, वीर जथा हनुमान ॥१२॥
दरस द्वारिकानाथ को, आप करे धनदेव।
पुनि पूरब हर में तहा, कीनो ग्रंथ सुभेव ॥१३॥

नीचे इनका एक सवैया उद्धृत किया जाता है—

चंद समान भये वृजचंद जो हो जो चकोर को रूप धरोगी।
सुर समान कहे हरी सो जुपे कंज मे कंज को रूप...रोगी।
जो रस रास कहे उनसो वृजनार ह्वै पाइ न जाय परोगी।
वा नंद नंदन सो नित मिलो सखी रूप सुधा अँखियान भरोगी ॥४८॥

चतुर्भुज मिश्र

प्रस्तुत खोज में इनका "भाषा-संग्रह" (विद्याविभाग, काँकरोली में वर्तमान) नामक ग्रंथ मिला है, जिसमें रचनाकाल संवत् १७०२ वि० दिया है। लिपिकाल अज्ञात है। यह महत्त्वपूर्ण संग्रह है जिसमें इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों के नौ रसों पर रचे गए १२०० छंद संगृहीत हैं। कवियों के नाम अंत के दो पत्रों में इस प्रकार दिए हैं—

गंग, केसोदास, अनंत, सुंदर, प्रसिद्ध, सुकविराइ, बीरवर, रामकृष्ण, गोपीनाथमिश्र, प्रेमनाथमिश्र, शंकरमिश्र, नरोत्तममिश्र, गोवर्द्धनमिश्र, सूरदास, सूरदास-मदनमोहन, नंददास, गो० तुलसीदास, परमानंद, कबीर, ईश्वरदास, दयादेव, शिरोमनि, माधो, जगदीस, अभिमन्यु, हरिवंश, रूपनारायन, शंकर, श्याम, मंडन, परवत-मधुसूदन, विद्यापति, कासीराम, ब्रह्म, दामोदर, नैन, वान, जगजीवन, बलभद्र, नारायण, जदुनाथ, सज्जन, लघुगंग, विश्वंभर, असद, राजा जगतमनि, छीत, मल्ल, मुकुट, पुरुषोत्तम और राम।

इसमें संग्रहकर्ता के स्वरचित १६० छंद हैं। इसको इन्होंने सायस्ताखान के आदेश से तैयार किया था—

"यो भाषा संग्रह भयो, नौरस कवित समेत।
साहिब साइस्तखान के, मन रंजन के हेत॥

ये सायस्ताखान संभवतः औरंगजेब के सेनापति थे जो शिवाजी को जीतने के अभिप्राय से पूना गए थे, पर हारकर भाग खड़े हुए थे। रचयिता का अन्य वृत्त नहीं मिलता। पिछली खोज रिपोर्ट (१७-३८;३८-२७) में आए चतुर्भुज मिश्र से ये भिन्न जान पड़ते हैं। संग्रह के ऊपर "गोस्वामी श्री गोकुलनाथात्मज श्री पुरुषोत्तमस्य" लिखा है, अतः इसका लिपिकाल इनके (श्री पुरुषोत्तम के) समय संवत् १८४७-१९०३ के लगभग होना चाहिए। संग्रहकर्ता की स्वरचित एक कविता दी जाती है—

अभिसारिका वर्णन

सोने से अंग सरोजमुखी चली स्याम पे कों (यों ?) ससि के सटकें।
पग नूपुर घुंघुरू खोलि धरै सकुचे अति जेहरि कें खटकें।
गुरु मुरुनि (ऊरुनि ?) ओरु छटी सी कटी न चली रही छुद्र घटी अटकें।
बिजुरी अटकें हटकी सी चले लटकी सी परे लटकें लटकें॥८०॥

छविनाथ

इनके पिंगल विषयक "माधव-सुयश-प्रकाश" (विद्याविभाग, काँकरोली में वर्तमान) नामक ग्रंथ के विवरण लिए गए हैं। इसमें छंदों के जो उदाहरण दिए हैं उनमें जयपुर-नरेश महाराज माधवसिंह का यश वर्णित है। जयपुर राज्य का भी सुंदर वर्णन है। रचनाकाल का ग्रंथ में कोई उल्लेख नहीं, पर जयपुराधीश राजा माधोसिंह का राज्यकाल काँकरोली के इतिहास के अनुसार संवत् १८२५ के लगभग है। अतः इसी समय प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई होगी। लिपिकाल का संवत् भी अज्ञात है, पर मास, पक्ष, तिथि और वार दिए हैं जो इस प्रकार हैं—"बहुधान्य संवत्सरे उत्तरायणे शिशिर ऋतौ फाल्गुने मासि कृष्णपक्षे एकादश्यां गुरुवासरे समाप्तः।" यह रचनाकाल निदित होता है, क्योंकि इसमें लिपिकर्ता का कोई उल्लेख नहीं। यदि यह नकल की हुई होती तो लिपिकर्ता ने अपना नाम भी अवश्य दिया होता।

रचयिता उपमन्यु गोत्र के कान्यकुब्ज अवस्थी ब्राह्मण थे। पिता का नाम गोविंददास था। गंगा के तट पर स्थित बक्सर (बगसर, जिला उन्नाव ?) के ये निवासी थे, जहाँ एक ओर चंडी का और दूसरी ओर महादेव का मंदिर है। यहाँ के राजा भवानीसिंह थे। ये (रचयिता) द्वारिकेश (श्री कृष्ण) की सेवा करते थे और महाराज माधवेश के आश्रम में रहते थे—

गंगा जू के निकट सहर बगिसर सोंहै जामे एक ओर चंडी दूजी धा महेश है।
जामे चारि वर्णहू कों पालै मरजाद ही सों सुख सों भवानीसिंह प्रबल नरेश है।
तामें गोविंददास उपमन्यवंशी आवस्थीक तापुत छविनाथ सेयि द्वारकेश है।
तिहिं शिरताज महाराज माधवेश जू कों सुजस प्रकाश करि दीनों ग्रंथ वेश है ॥२५॥

नीचे ग्रंथ से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

छंद लीलावती। गुरु लघ अक्षर नियम। रहित मात्रा।
पदमें ३२ जति विकु १। ऐसे ऐसे चरण ४ यथा—

भुजबल उदंड कटि खंड खंड भटगण प्रचंड जमपुरहि लहैं।
फटि विकट कुंभगज गिरत भूमि इमि प्रबल सुकवि छविनाथ ढहैं।
थल थल सिंदुर जल बहत दिघ्घ सत कोटि कटित मनु अचल ढहैं।
दुरधर अरिंघ (अरींद्र ?) माधव नृसिंघ जब समर मध्य कर खग्ग गहैं ॥५७॥

जान कवि

इस त्रिवर्ष में मिले नवीन और प्रमुख रचयिताओं में ये मुसलमान कवि भी हैं। हिंदुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) में इनकी छोटी-बड़ी ६९ रचनाओं का बृहद् हस्तलेख मिला है, जो अत्यंत जीर्णावस्था में है। रचनाओं में अधिकांश प्रेमकथाएँ हैं जो विवरणपत्रों में यथास्थान दे दी गई हैं। ग्रंथों के नाम रचनाकाल सहित नीचे दिए जाते हैं—

रत्नावती (१६९१ वि०), लैलेमजनू (१६९१ वि०), रतनमंजरी (१६८७ वि०), कथा नलदमयंती (१७१९ वि०), कथा पुहुपवरिखा (१६८५ वि०), कथा कँवलावती की (१६७० वि०), बारहमासा, सवैया या मूलना, बरवा, षट्ऋतुबरवा बंध, पवंगमषट्ऋतु वर्णन, कथा छबिसागर (१७०६ वि०), कथा कामलता की (१६७८ वि०), कथा छीता की (१६९३ वि०), कथा कलावंती की (१६७० वि०), कथा रूपमंजरी की (१६८५ वि०), मोहनी (१६९४ वि०), चंद्रसेन राजा शीलनिधान की कथा (१६९१ वि०), कथा अरदसेर पातसाहि (१६९० वि०), कथा कामरानी व पीतमदास की (१६९१ वि०), पाहनपरीछया, शृंगारसत (१६७१ वि०), भावसत (१६७१ वि०), विरहसत, बलूकिया विरही की कथा (१६८७ वि०), तमीम अंसारी की कथा (१७०२ वि०), कथाकलंदर की (१७०२ वि०), कथा निरमल की (१७०४ वि०), कथा सतवंती की (१६७८ वि०), कथा सीलवंती की (१६८४ वि०), कथा कुलवंती की (१६९३ वि०), कथा खिजरखाँ शाहजादे व देवल दे की (१६९४ वि०), कथा कनकावती की (१६७५ वि०), कथा कौतूहली की (१६७५ वि०), कथा सुभटराइ की (१७२० वि०), बुधिसागर या मधुकर मालती की कथा (१६९१), चेतनामा, सिखग्रंथ, ग्रंथ सुधासिख, ग्रंथ बुद्धिदाइक, बुद्धिदीप, घूंघट नावा, दरसनावा, अलकनावा, बरसनावा, बारहमासा, सतनावा (१६९३ वि०), वर्णनावा, बाँदीनावा, बाजनावा, कबूतरनावा, गूढ़ग्रंथ, ग्रंथ देसावली, ग्रंथ रसकोष (१६७६ वि०), ग्रंथ उत्तमशब्दा, सिषसागर पदनावां (१६९५ वि०), वैद्यकसतपदनावा (१६९५ वि०), सिंगार तिलक (१७०९), पैमसागर (१६९४ वि०), वियोगसागर (१७१३ वि०), रस तरंगिनी (१७११ वि०), कंद्रप कलोल, भाव कल्लोल (१७१३ वि०), पदनामा लुकमान का (१७२१ वि०), जफरनामा नौसेरवां (१७२१ वि०), मानविनोद, विरही कौ मनोरथ (१६९४ वि०), पैमुनामा (१६७५ वि०), नाममाला अनेकार्थ।

कथा कँवलावती, पुहुपवरिषा और कथा नलदमयंती से रचयिता के संबंध में निश्चित रूप से इतना ही पता चलता है कि इनका नाम "जान" है। इनके पीर हाँसी वाले शेख मुहम्मद चिश्ती थे। ये मुगल बादशाह जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में वर्तमान थे जिससे इनकी दीर्घायु का पता चलता है। ये संभवतः शिया मत के मुसलमान थे तथा आजम इमाम के मार्ग को मानते थे। शेख मुहम्मद चिश्ती के चार कुतुब बतलाए गए हैं जिनके नाम जमाल, बुरहान, नूरदी और मनवर थे—

अवहि साहि की अस्तुति करिहूँ। रसन धाग जस मुकुता भरिहूँ॥
जहाँगीर जानहुँ तिह नाव। आन फिरी जाकी सब ठाँव॥
पीर सेष महमद है चिसती। बदन नूरि भाषतु हौं फिसती॥
रहन ठांव जानहु तिह हांसी। देषत कटै चित्त की फांसी॥
क्यों न होइ पाछैं जिहिं कुतुब। चहूँ कूट प्रगट जिन रुतब॥

दोहा—पहिलै कुतुब जमाल है, दूसर है बुरहान।
नाव जाहि औषद परम, लये चिंत जुरहान॥
तीसर जानहु नूरदी, चतुर मनवर हेर।
सभ जग मैं जिनकी फिरी, कुतुब पने की रेर॥ (कँवलावती)

साहिजहाँ साहिन कौ साह। जहांगीर सुत जगतपनाह॥ (पुहुपवरिषा)

दारा सुजा षेत बिचराये। पुनि मुराद ग्वारेर चढाये॥
को अरि रह्यौ लरिन को नाहिं। इक छतराज करै जग मांहि॥
दीनहार वरवड्डौ जूझार। औरंगजेब साहिम् द्वार॥ (नलदमयंती)

"राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" नामक पुस्तक के प्रथम भाग में इनके विषय में इस प्रकार लिखा है—

"ये मुसलमान जाति के कवि मुगल सम्राट् शाहजहाँ के समय में जयपुर राज्य के फतेहपुर परगने के नवाब थे। इनका असली नाम अलफ खाँ था। कविता में अपना नाम "जान" लिखा करते थे। इनके पिता का नाम मुहम्मद खाँ और दादा का ताज खाँ था। इनका "रसमंजरी" नामक ग्रंथ मिला है जो संवत् १७०६ वि० में लिखा गया था। यह इसी नाम के किसी संस्कृत ग्रंथ का भाषांतर है। इनके सिवा इनके रचे चार और ग्रंथों का पता है—रत्नावती, सतवंती, मदनविनोद, कविवल्लभ। ये ग्रंथ जैपुर के प्रसिद्ध विद्वान् हरिनारायण पुरोहित बी० ए० के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं"

प्रथम दो ग्रंथ प्रस्तुत रिपोर्ट में आ गए हैं। श्री अगरचंद नाहटा का एक लेख "कविवर जान और उनका कायमरासौ" शीर्षक से "हिंदुस्तानी (अप्रैल-जून ४५ ई०) में छपा है जिससे रचयिता के संबंध में यह पता चलता है—

"फतेहपुर (जयपुर के अंतर्गत के कायमखानी नवाबों के वंश में अलफ खाँ के पुत्र न्यामत खाँ "जान कवि" थे। इनके अन्य भाई दौलत खाँ, जरीफ खाँ और फकीर खाँ थे। ये दौलत खाँ से छोटे और अंतिम तीन भाइयों से बड़े थे। इनका वंश पहले चौहान था जिसका कवि को अपने जीवन में बड़ा गर्व था।"

'पुहुपबरिषा' रचना से भी विदित होता है कि अलफ खाँ का पुत्र दौलत खाँ था जिसके दादौ (पुरखे) का नाम क्याम खाँ था। इसमें दौलत खाँ की वीरता का वर्णन है—

जहांगीर प्रिथी के पाल। साहिन साहि भये बस काल॥
उपज्यो सोर मेदनी माही। काहू कै मन कौ कल नाहि॥
कियो अचानक साहि पयानो। सकल जगत पल में थहरानौ॥
जेहे बडडे राजे राने। घर आगजे सब तजि तजि थाने॥
तिहिं छिन दौलत खाँ चहुवान। रोपे पाव मेर परवान॥
नीकैं राख्यौ काँगरौ, स्वामधर्म ज्यों माहिं।
अलिफ खान जाकौ पिता, तातैं अचिरज नांहि॥

इनकौ दादौ क्यामखाँ, मार्‍यौ पेरोसाहि।
दौलतखाँ कौं वावनी दै, करिहौं सम ताहि॥

रचनाओं को देखने से पता चलता है कि "जान" बड़े प्रतिभा-संपन्न कवि थे। विषयों की विविधता से इनकी बहुज्ञता का भी परिचय मिलता है। हिंदी में लिखनेवाले मुसलमान रचयिताओं में सबसे अधिक इन्हीं की रचनाएँ हैं और संभवतः सबसे अधिक प्रेम-कथानक काव्य लिखनेवाले भी ये ही हैं। प्रेम-कथानक काव्यों की कथावस्तु भारतीय और भारतीयेतर दोनों तरह की हैं। इनकी भाषा अवधी न होकर ब्रज और ग्वालियरी है। ग्वालियरी का "कथा कनकावती" में उल्लेख स्पष्ट है—

भाषा आनी जो मुख आई। ग्वारेरीहू मनसा धाई॥

प्रस्तुत ग्रंथों में कथा नलदमयंती, कथा कुलवंती, कथा खिजिरखाँ शाहजादे व देवल दे की, और कथा "सुभटराई" ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। "कथा खिजिर-

खाँ शाहजादे व देवलदे" में हिंदुओं पर मुसलमानों के अत्याचारों का उल्लेख है जिसके अनुसार मुसलमानी काल में हिंदुओं को बलात् मुसलमान (तुरक) बनाया जाता था। जो मुसलमान बनना अस्वीकार करते उनको मार दिया जाता था—

हिंदू बहुत तुरक करि डारे। जे न भये ते पल में मारे॥

"सिख ग्रंथ" और ग्रंथ "सुधासिख" में जहाँ दशावतारों को ईश्वर न समझने का वर्णन है वहाँ मक्का-मदीना जाने का उपदेश किया गया है।

निरंजन एक कौ धावहु। कहा चौबीस दस गावहु॥
अयोध्या राम कहिए ना। सुमथुरा स्याम लहिए ना।
भए वे काल बस सिगरे। तिनहिं मानहु जनम धिगरे॥ (सिख ग्रंथ)

करता दये जुग पाइ रे। मकै मदीने जाइ रे॥
..............सेवा करहु चित लाइ रे॥ (सुधासिख)

स्वर्ग में भी हिंदू मुसलमानों का द्वेष दिखलाया गया है। "बलूकिया बिरही की कथा" और "तमीम अंसारी की कथा" में हिंदू अप्सराओं (अप्सरों) और मुसलमान अप्सराओं की लड़ाई का उल्लेख है, जिसमें उत्तर पक्ष की विजय होती है। साहित्यिक, ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टियों से ये ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। पाहन-परीक्षा, बाजनामा और कबूतरनामा भी अपने विषय की सुंदर रचनाएँ हैं। "रत्नावती" में रचयिता ने प्राचीन कथा को नई करने का उल्लेख किया है—

कथा पुरातन कीनी नई। नौ दिन में संपूरन भई॥

लैलामजनू, नलदमयंती, छीता, अरदसेर पातसाहि, तमीम अंसारी आदि कथाएँ प्राचीन हैं। रतनमंजरी, पुहुपवरिषा, छबिसागर, कँवलावती, कामलता, कलावंती, रूपमंजरी आदि कथाओं का प्राचीन आधार संभाव्य है।

मिरजा मुहम्मद "जान"

इनकी "प्रेमलीला"[६] नामक पुस्तक प्रेममार्गी शैली की है जिसमें प्रेम के अंतर्गत कोमल और मधुर भावों का अत्यंत स्वाभाविक और सरस वर्णन है। इसमें कोई प्रेम-कथा नहीं दी है वरन् प्रेम की ही अनेक व्यंजनाएँ हैं। रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। लिपिकाल हिजरी सन् १२६५ (१६०६ वि० ?) है।

६—पता-श्री गोपालचंद्र सिंह, विशेष कार्याधिकारी, प्रांतीय सचिवालय, लखनऊ

प्रस्तुत रचना के साथ साथ इन्होंने इसका फारसी अनुवाद भी रखा है। कविता का नमूना लीजिए—

बाँसुरिया बिछुरन भइ भारी। बिछुरन दुख वह रोइ पुकारी॥
जब वह रोइ बिछुर बनवारी। धुनि सुन रोये पुरुष अरुनारी॥
जल सों बिछुरि मछरिया रोई। मेरो मिलन बहुरि कब होई॥
कैसे निबहै जीवन मेरो। रीत परे संग तजौं न तेरो॥
निकसि तीर सों बाहर पड़ी। खन उलटी खन सूधी गड़ी॥
तरुवर सों जिमि पाती झड़ी। पौन की मारी इत उत पड़ी॥
बिरह बियोग किमि जाने कोई। जापर बीते जाने सोई॥

अपने प्रीतम लाल से, मिलि बिछुरै जनि कोइ।
बिछुरन दुख सो जानहिं, जो कोइ बिछुरा होइ॥

तामसन साहब

इनका "ज्योतिष और गोलाध्याय"[७] नाम से एक पुराना छपा ग्रंथ मिला है। यह पहले बंगला में था जिसका इन्होंने हिंदी खड़ी बोली गद्य में अनुवाद कर श्रीरामपुर (बंगाल) में सन् १८२२ ई० (संवत् १८६६ वि०) में छपवाया था। इसमें भूगोल और खगोल का वर्णन प्राचीन भारतीय ग्रंथों एवं आधुनिक खोज और विज्ञान के आधार पर किया गया है। नीचे इनकी भाषा का नमूना दिया जाता है—

ज्योतिष के विवरण

आकर्षण विषय

ईश्वर ने सब वस्तुओं को ऐसा स्थापन किया है कि सब वस्तु महत्व क्षुद्रत्व के अनुसार आपस में आकर्षण करती है तिससे सब बड़ी वस्तु चारों ओड़ को छोटी वस्तुओं को अपनी तर्फ खेंचती हैं इसलिए सूर्य पृथ्वी को अरु और और ग्रह को आकर्षण करता है और पृथ्वी चान्द को आकर्षण करती है क्योंकि वह पृथ्वी से छोटा है।

थेघनाथ या थेघू

इस त्रिवर्षी में इनका "गीताभाषा" (याज्ञिक संग्रह, आर्यभाषा पुस्तकालय, ना० प्र० सभा, काशी) नामक ग्रंथ मिला है जो गीता का पद्यानुवाद है। रचना-

---

७—श्री महावीर मिश्र, ग्राम ठटा, डाक० बीबीपुर, जिला इलाहाबाद।

काल संवत् १५५७ वि० दिया है। लिपिकाल चतुरदास कृत भागवत एकादश स्कंध के आधार पर संवत् १७२७ है। ये दोनों ग्रंथ एक ही जिल्द में थे; परंतु जिल्द टूट जाने पर इनको अलग अलग बँधवा दिया गया। इसके अंत में स्वर्गीय मयाशंकर जी याज्ञिक ने निम्नलिखित टिप्पणी लिखी है—

"थेघनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल संवत् १७२७ वि० मानना चाहिए कारण कि चतुरदास कृत एकादश स्कंध (भागवत) की प्रति जो इसी जिल्द में थी उसका लिपिकाल १७२७ वि० है। दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं। देखो प्रति नं० २७८।५०। जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग कर दी गई हैं।"

रचयिता का नाम थेघनाथ या 'थेघू' है। इनके आश्रयदाता का नाम भानुकुँवर था जो गोपाचल (ग्वालियर) के तत्कालीन राजा मानसाहि के पुरुषों में थे। उनके पिता का नाम कीरतसिंह था।

पद्रसै सत्तावनि आनु। गढु गोपाचल उत्तम ठानु ॥
मान साहि तिह दुर्ग्ग निरिंदु। जनु अमरावति सोहै ईंद ॥
ता घर भान महा भरु तिसै। हथनापुर महि भीषम जिसे ॥
सर्व जीव प्रतिपालै दया। भानु निरंदु करै तिह मया ॥

× × ×

इहि संसार न कोऊ रह्यौ। भान कुवरु थेघू सों कह्यौ ॥
माता पिता पुत्र संसारु। यहि सब दीसै माया जारु ॥
जाहि नाम ना कलजुग रहै। जीवै सदा मुवौ को कहै ॥
कहा बहुत करि कीजै आनु। जो जानै गीता को ग्यानु ॥

देवेश्वर माथुर

इन्होंने भरतपुर-नरेश बहादुरसिंह के पुत्र पहौपसिंह के नाम पर "पहौप-प्रकाश" (याज्ञिक संग्रह, ना० प्र० सभा, काशी) की रचना की। इसमें शारदा-स्तुति, श्रीकृष्ण और राधिका का गुण-वर्णन, प्रीतपावस, वसंत-वर्णन, राजकुल वर्णन, नगर-वर्णन आदि पर रचनाएँ हैं। रचनाकाल और लिपिकाल संवत् १८३९ वि० है।

रचयिता ने ग्रंथ को प्रस्तुत करने में सुजानसिंह को भी हेतु माना है।

ताही छिन उत्पति कीय, उन मन मतो उपाइ ।
सिंह सुजान बैठ्यौ हुतो, परपाटी की प्यार ॥
पिता पिता के नाम के, द्वै स्कंद उधारि ।
वेउ हित करिकें करैं, पौहौप प्रकाश प्रकार ॥
सिंघ सुजान सुभ गौर कुल, राजस्यंघ कौ भाय ।
कहौ क्यों न विधिपूरवक, देवेश्वर सौं जाय ॥

× × ×

इम सुजान म अइसु पाइब । गिरा गनेस ध्यान धरि ध्याइब ॥
जुक्त युक्त तिनतै तब पाइव । यथा यथा परसंग रचाइव ॥

॥ दोहा ॥

टिप्पन देवेस्वर कियब, जुरति जुगति सौ सांढि ।
वासुदेव वसुदेव सुत, वरस गांठि कौं गांठि ॥

इस अवतरण से स्पष्ट है कि पहौपसिंह ने गौड़-कुलोद्भव सुजानसिंह को आज्ञा दी कि वह देवेश्वर की सहायता से पहौपप्रकाश की रचना करे । अस्तु ।

देवेश्वर माथुर पहौपसिंह के आश्रित थे, जिनके वंश के साथ इनका परंपरागत संबंध था । ग्रंथ के छठे अध्याय की पुष्पिका में इस प्रकार उल्लेख है—"इति श्री यदुकुल कलस भनिराजो राज पौहोपसिंह माथुर कुल कवि देवेस्वर मधुमंजरी षष्टमो दलः ६ ।"

पहौपसिंह वैरीगढ़ (भरतपुर राज्य) में रहते थे । इनकी वंशावली नीचे दी जाती है—
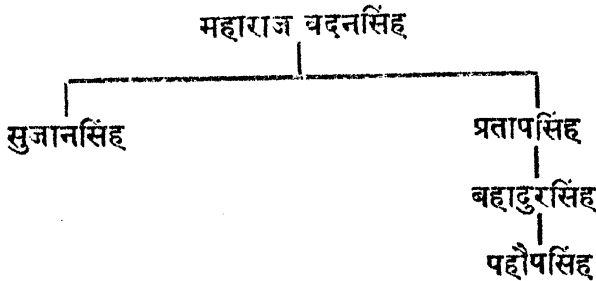
यहाँ ग्रंथ से एक कविता नमूने के तौर पर उद्धृत की जाती है—

प्रीतपावस

सीतल मंद सुगंध समीर सरीर लगै धुनि बोलतु होपि ।
भूमि हरी जल देषि भरी सुधि सरब हरी सुष की गति लोपि ॥

"देवेसुर" आन कहा कहियै चपला चमकै सु मनौं असि ओपि।
प्यारी हमारी गुहार लगौ लगं आजु घटा घन घेरि कें कोपि ॥

नवरंगदास

प्रस्तुत त्रिवर्षी में 'लीलाप्रकाश' नाम से इनका एक ग्रंथ मिला है, जिसमें धामी पंथ के सिद्धांतानुसार ब्रह्म के अवतारों की लीलाओं का वर्णन है। रचनाकाल एवं लिपिकाल अज्ञात हैं।

ग्रंथ द्वारा रचयिता के संबंध में इतना ही पता चलता है कि ये धामी पंथ के अनुयायी थे। मंदिरवालों (धामी पंथ का मंदिर, विशुनपुरा, डाक—भागलपुर, जिला गोरखपुर) से पूछने पर पता लगा कि ये स्वामी प्राणनाथ जी के शिष्य थे। इससे ग्रंथ की प्राचीनता प्रकट होती है।

उक्त मंदिर से तथा वहाँ रखे एक ग्रंथ "निजानंद चरितामृत" (रचयिता कानपुर-निवासी पं० कृष्णदत्त शास्त्री, प्रकाशक श्री निजानंद प्रि० प्रेस, श्री नवतन पुरी, जामनगर) से स्वामी प्राणनाथ जी के संबंध में बहुत सी नवीन बातें ज्ञात हुईं जो इस प्रकार हैं—

इंद्रावती, श्री जी और महामति स्वामी प्राणनाथ जी के नाम हैं। उनके निवास-स्थान का नाम नवतनपुरी (गुजरात), माता-पिता के नाम धनबाई और केशवराय, भाइयों के नाम क्रमशः हरिवंश जी, सामलिया जी, श्री महेराज जी (स्वयं प्राणनाथ जी) और उद्धव जी थे। पिता राजा के दीवान थे। गुरु का नाम श्री देवचंद था। फूलबाई और तेजकुँवरि इनकी स्त्रियाँ थीं। पिछली खोज-रिपोर्टों में इंद्रावती, श्री जी और महापति उनकी स्त्रियों के नाम माने गए हैं। स्वामी प्राणनाथ जी के लिये देखिए खोज-रिपोर्ट (२०—१२६; ६—६०; २६—३४६; ४१—१४०; दि० ३१—६५; ६६—२६६; ६—२२५; ३२—१६८; ३८—१०६)।

पंचौली देवकर्ण

ये 'वाराणसी-विलास' नामक बृहद् ग्रंथ (विद्याविभाग, काँकरोली) के रचयिता हैं। प्रस्तुत ग्रंथ बाराह-पुराणांतर्गत काशी-खंड के आधार पर लिखा गया है। रचनाकाल संवत् १८०७ और लिपिकाल १८०८ वि० है।

ग्रंथ की पुष्पिका के आधार पर रचयिता महाराणा जगतसिंह (मेवाड़ ?) के अमात्य थे। ग्रंथांत में इन्होंने अपने गुरु लछीराम का उल्लेख किया है—

ब्राह्मण माथुर एक जाति जाकी घरबारी।
हरजी मिश्रह नाम भक्त गणपति के भारी॥
तिन सुत उद्धवदास आहि जो चतुर सिरोमनि।
लछीराम तिन पुत्र देववानी प्रवीन मनि॥
जिन सम न वियौ भाषाय में, उन असीस की शक्ति सों।
मुहि करयौ कवी तब मैं रच्यौ, यहै ग्रंथ शिव भक्ति सों॥ ६७॥

इससे विदित होता है कि उनके गुरु लछीराम के पिता का नाम उद्धव जी और पितामह का नाम हरि जी मिश्र था। ये लोग माथुर चौबे थे। और कोई परिचय नहीं मिलता। "राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (प्रथम भाग)" में रचयिता का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—"ये कायस्थ जाति के कवि, मेवाड़ के राजा जगतसिंह (दूसरे) के दीवान थे। इनके पिता का नाम हरनाथ और दादा का महीदास था। संभवतः १८०३ में इन्होंने 'वाराणसी विलास' नामक एक बहुत बड़ा और उच्च कोटि का ग्रंथ वाराह पुराण के काशीखंड के आधार पर लिखा था—

आश्विन कृष्णा अनंत तिथि, अठारह सै तीन।
उदयपुर शुभ नगर में, उपज्यौ ग्रंथ नवीन॥

"देवकर्ण हिंदी, संस्कृत के अच्छे विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि थे। वाराणसी-विलास में इन्होंने कई प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है और विषय के अनुसार छंदों के बदलने में भी अच्छी पटुता प्रदर्शित की है। इनकी भाषा ब्रजभाषा है। कविता प्रौढ़, कर्णमधुर और सद्भावोत्पादक है।"

उपर्युक्त विवरण में दिया गया रचनाकाल प्रस्तुत प्रति के रचनाकाल से नहीं मिलता। प्रस्तुत प्रति में रचनाकाल इस प्रकार है—

श्री विक्रम तें वर्ष वीतिगे जबही इतने।
मुनि(७), नभ(०), वसु(८), अरु इँदु(१), जानि लीज्यौ चित तितने॥

परंतु यह रचनाकाल अनुक्रमणिका के अंश में दिया है, जो ग्रंथ की समाप्ति के पीछे जोड़ा गया होगा।

कविता का नमूना

छप्पय

सुंडा दंड प्रचंड रंग मंडित सिंदूर वर।
भालचंद जगवंद शुभ्र तिरपुंड तास तर।
मनिमय सुवन किरीट हेम सिर छत्र विराजित।
अलि गुंजत मद लोभ लोल कुंडल श्रुति राजत।
भुज चारि चारु भूषन कलित, लंबोदर असरन सरन।
नित देवकरन वंदित चरन, हरनंदन आनंद करन ॥२॥

प्राणनाथ सोती

इनकी 'जेहली जवाहिर' (ना० प्र० सभा काशी, याज्ञिक संग्रह) नाम से एक रचना मिली है जिसमें मूर्ख (जेहली) और सुकुमार (सोफी) तथा व्यसनी (अमली) और नपुंसक (नामर्द) लोगों की लड़ाई का वर्णन किया गया है। मूर्ख और सुकुमार एक ओर थे तथा व्यसनी और नपुंसक दूसरी ओर। पूर्व पक्ष लड़ाई में नष्ट हो जाता है। कथा हास्य-रस की है। रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल १७६० वि० है। रचयिता का नाम पुष्पिका के अनुसार प्राणनाथ सोती है। अन्य परिचय नहीं मिलता।

प्रस्तुत प्रति महत्त्वपूर्ण है। यह सुप्रसिद्ध कवि सोमनाथ की लिखी है। इससे उस समय के प्रसिद्ध कवियों की शुद्धाशुद्ध लेखन-शैली के विषय में पता चलता है। अनुस्वार के बदले चंद्रबिंदु प्रयुक्त हुआ है। प्रति शुद्ध है। एक महाकवि को दूसरे के ग्रंथ की प्रतिलिपि करने में अपने उत्तरदायित्व का किस प्रकार निर्वाह करना चाहिए, यह इससे प्रकट होता है। ग्रंथ से एक उद्धरण दिया जाता है—

घसि कै मारेंगे निसि सबै। तब हम भाजि सकैंगे कबै।
अमलिनु कियौ विचार सुनीकौ। जामै जानु न काहू जीकौ॥
परबत तैं पय नदी बहाओ। रहेब तिनकों मारि बहाओ॥
परबत तैं पय नदी जु छोड़ी। सिगरे बहे परी नहि ओड़ी॥
अमलिनु अमलिन सों यों कहीं। नामरदन की रैयति सही॥
अमल करैं सैलन कों जाही। नामरदन पै तें लै षाही॥
जौ ए कह्यौ हमारो डारैं। तौ इनकों बातनु सों मारैं॥

मारे सोफी जेहली, फते लही है आपु।
कंचन रैयति प्रभु दई, मिट्यौ सकल संतापु ॥

फणींद्र मिश्र

इन्होंने संवत् १७०१ में हुई एक पंचायत की अध्यक्षता की थी और मिताक्षरा के आधार पर उसमें न्याय भी किया था। यह न्याय एक देशी कागद के पत्र पर लिखा मिला जिसका विवरण लेते समय सुविधा की दृष्टि से "पंचायत का न्यायपत्र" (ना० प्र० सभा काशी) नाम रख दिया गया है। यह गद्य में है और इसकी भाषा पूर्वी अवधी है। मध्यकालीन पंचायतों की कार्यवाही का स्वरूप किस प्रकार था, इसके द्वारा उसकी जानकारी प्राप्त होती है। साथ ही इसमें प्रयुक्त तत्कालीन स्थानीय बोली का नमूना भी देखने को मिलता है, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से पठनीय है। नीचे पत्र की नकल दी जाती है—

श्री कृष्णश्शरणम् ॥

लि० फणींद्र मिश्र आगे हमने इहाँ भूमि के विवाद में मिताक्षरा पूँछे ऐलहि लाग वादी धारूराय प्रतिवादी विजयीराय से वद दुनौ वादी क शुनल दुनौ वादी मीचलिका लिखि दिहल मिताक्षरा कै पूजा मैलि मिताक्षरा देपल मिताक्षरा की उक्ति तें धारूराय कें दिव्य उतरल धारूराय लोहें आपन सत्व साधि लेहि वैशाख सुदि मह (?) आदितवार कें दिव्य होइ ॥ तथा च वाक्यं ॥ भोगे नष्टे ततः कश्चिद सोयं मे भुनक्त्युत। तद्दिवा देवि धातव्यं दिव्य विसारदैरिति वचनादेवेति किं बहु विस्तरेण = संवत् १७८८१ चैत्र वदि चतुर्दशी शनैश्चर =

लिखनक वृतांतदर्शी रेवतीराम पाठक

बलदेव कवि

इनका 'दशकुमार-चरित'[८] ग्रंथ मिला है जो इसी नाम के संस्कृत ग्रंथ का हिंदी अनुवाद है। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है जिसमें रचनाकाल और लिपिकाल का कोई पता नहीं चलता। रचयिता का इसके द्वारा इतना ही वृत्त मिलता है कि वे किसी बघेलखंडी राजा विक्रमाजीत देव के आश्रय में रहते थे—

"इति सकलाराति जनाकी कीर्तिक्षपामुपाभ्युदित्यं यशश्चंदचंद्रिकानंदि मित्र चकोर बघेल बंसावतंस श्रीमहाराजकुमार विक्रमाजीतदेव प्रोत्साहित बलदेव कवि विरंचिते दसकुमारचरिते अपहारवर्मा चरितं नाम सप्तमोछ्वासः ॥ ७ ॥"

८—कुँअर लक्ष्मणप्रताप सिंह, ग्राम साहिपुर (नौलखा), डाक० हँडियाखास, जिला इलाहाबाद।

अन्य विवरण अप्राप्त है। परंतु "शिवसिंहसरोज" (पृ० ४५५) में जिस बलदेव का उल्लेख है वे यही जान पड़ते हैं। उसमें इनका उल्लेख इस प्रकार है—

"ये कवि राजा विक्रमसाहि बघेल देवरानगर वाले के यहाँ थे। उन्हीं राजा की आज्ञानुसार एक ग्रंथ 'सतकविगिराविलास' नाम बहुत ही अद्भुत संग्रह बनाया इस ग्रंथ में १७ कवि लोगों की कविताई है अर्थात् शंभुनाथमिश्र १ शंभुराज सुलंकी २ चिंतामणि ३ मतिराम ४ नीलकंठ ५ सुखदेव पिंगली ६ कविंद त्रिवेदी ७ कालिदास ८ केशवदास ९ विहारी १० रविदत्त ११ मुकुंदलाल १२ विश्वनाथ अताई १३ बाबू केशवराइ १४ राजागुरुदत्तसिंह १५ नवाब हिम्मतिबहादुर १६ दूलह १७ और बलदेव की काव्य महा विचित्र हैं। २०९ सफा॥"

यहाँ इनकी थोड़ी सी कविता दी जाती है—

कह्यो सषे अब समय तुम्हारा। कहो आपनी कथा उदारा॥
हसि प्रनाम करि विनय अनेका। लग्यो कहन सोउ सविवेका॥

× × ×

उपहार वर्मा

फिरत मही मैं जो इक बारा। देषी मिथिला जाइ उदारा॥
जो विदेह नृप की रजधानी। भूमि स्वर्ग सी विबुध वषानी॥
निकट जाइ नहि कियो प्रवेसा। बाहर लषि एक कुटी सुदेसा॥

बलरामदास

"गीता-ग्रंथ-सार" (ना० प्र० सभा, काशी) नाम से इन्होंने गीता का अनुवाद किया है। रचनाकाल लिपिकाल ग्रंथ में नहीं दिए हैं। इसकी भाषा बिहार-उड़ीसा की सीमा पर बोली जानेवाली हिंदी है।

रचयिता के पिता का नाम सोमनाथ महापात्र था जो संभवतः नीलगिरि के राजा जगन्नाथ के मंत्री थे। इन्हीं जगन्नाथ की आज्ञा से प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई—

श्रीकृष्ण कहे अर्जुन सुणि गीता ग्रंथुसार। से योग बलरामदास भणिये आज्ञा देले जगन्नाथ॥१॥

× × ×

प्रथम अध्यागीता प्रश्नुधा बलरामदास भणी। नीलगिरी जगन्नाथदास प्रसने परम रस वखाणी १२५

× × ×

रामराज्य लद्मि सुखे भोग करु थांई श्री जगन्नाथ प्रसने गिता शास्त्र एहि अष्टादश अध्या गिता सार ए संपूर्ण पुठिला सुणिला लोकं कर बड़ पुन्य लिलगिरी विजये मो प्रभु जगन्नाथ मुकुट कुंडलहार संख चक्र हस्त स्थूल जोगभोग पुन्यर प्रकास निल मुख भावि भणे बलरामदास ६० मंत्रिवर महापात्र सोमनाथ नाम ताहार तनये मुंहि बलराम जगन्नाथ ठाकुर सुदया मोते कले विष्णुरपिरित बोलि लोके प्रते गते गले ६१ मंथन चतुरो वेदा सार उद्धार षोडसि लवणी भुंजंती ज्ञानिनो तिक्त भवंति पंडिता।

ये संभवतः बिहार-उडीसा की ही ओर के रहने वाले थे, जैसा ग्रंथ की भाषा से प्रकट होता है। नीलगिरि राज्य भी उधर ही है। अनुवाद का नमूना इस प्रकार है—

॥ दुतीय पीठवंध ॥ श्रीहरि घेनीण पांडेव वलं जाई प्रवेश रण रंग स्थान।
भीस्म सहिते सांग्राम भुमी आसि मीलिले कैरवमान ॥ १ ॥

॥ तृतीय पीठवंध ॥ एसनेक समये व्यास मुनि विजए धृतीराष्ट पास।
कल्याण करिण बोलइराये युध्य देखि कुटि कि आस ॥

॥ चतुर्थ पीठवंध ॥ जहुं से व्यास कृष्ण आज्ञा पाईण कष्ट कराइवा पाईं।
पुत्र मीत्र देखि वाकुतेयु नृपती की राईं ॥ ० ॥

भगवतदास

ये "शृंगाररससिंधु" (विद्याविभाग, काँकरोली) नामक ग्रंथ के रचयिता हैं। ग्रंथ में शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। रचनाकाल और लिपिकाल क्रमशः संवत् १७७० वि० और संवत् १७७७ वि० हैं। रचनाकाल का दोहा इस प्रकार है—

संवत् सत्रह से सुभग, सत्तर बरस बखानि।
माधव सित तृतीया गुरौ, धाता सोभन मानि ॥ २१ ॥

रचयिता पुष्पिका के अनुसार किसी कृष्णदास के वंशज थे; अन्य परिचय नहीं मिलता—

"इति श्री कृष्णदास वंस संभव भगवद्दास प्रकासिते शृंगाररस सिंधौ द्वादसमासवर्णनं नाम द्वादश कल्लोल संपूर्णं।"

पिछली खोज रिपोर्टों में आए इस नाम के रचयिताओं से ये भिन्न हैं। इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है—

अंकुर है भाव प्रेम कंदल प्रणय साखा पल्लव है राग सोई नीके कर जानिए।
अनुराग कलिका सों झुकि रह्यो चहूं ओर विसन कुसम नित प्रफुलित मानिए।
नेह फल नूतन अखण्ड है विराजमान कहे रिझवार भाव पूरन प्रमानीए।
लपटि रही हैं ब्रज सुंदरी लतानि जहां एसो रस रूप सुरतरु उर आनीए॥ १॥

× × ×

एक पाइ सों चांपि, पग दूजे दूजो पेलि।
वृक्षारूढ़ सो जानिये, पिअ भुज अंतर मेलि॥ ४॥

× × ×

भरसीमिश्र—रामनाथ पंडित

ये "नलोपाख्यान"[१] ग्रंथ के रचयिता हैं। ग्रंथ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। इसकी प्रस्तुत प्रति जीर्ण-शीर्ण एवं खंडित है। रचनाकाल और लिपिकाल का उससे कोई पता नहीं चलता। साहित्यिक दृष्टि से यह उत्तम रचना है।

रचयिता ने अपना जो वृत्त दिया है उसके कई अंश नष्ट हो गए हैं। जो कुछ बच गया है उसके अनुसार ये आजमगढ़ के दक्षिण मेहाग्राम के निवासी थे। इस गाँव से दक्षिण की ओर बसे महादेवपारा की इन्होंने प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त इनका और कोई वृत्त नहीं मिलता। परंतु ऐसा हो सकता है कि भरसी-मिश्र और रामनाथ पंडित अलग व्यक्ति हों। एक मेहाग्राम के और दूसरे महादेव पारा के।

आजमगढ़ के दछिन अहई। मेहाग्राम विदित जग कहई॥
ताके दखिन महदेवपारा। तापर रामदयाल कृपाला॥

× × ×

रामनाथ पंडित तहं रहई। राम कृपा ते बहु सुख लहई॥२४॥

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हर्ष-कृत नैषध के आधार पर हुई है जिसमें महाभारत की कथा से भी थोड़ी सहायता ली गई है—

नैषध कवि श्री हर्ष बनाए। विद्यामानन्द के...॥
ताहि विलोकि कियो हम भाषा। भारथ कथहि कछुक तहं राषा॥

नीचे कविता का नमूना दिया जाता है—

सोम वंस एक राजा भएऊ। वीरसेनि नामा जग तएऊ॥
जससागर नागर सुख धामा। वीरसेनि राजा शुभ नामा॥

१—श्री देवराज पांडेय, ग्राम नोनरा, डा० रामपुर, जि० गाजीपुर

धर्मसील नल सम नृपति, भयो न ह्वै है जानु।
दाता सुजस प्रताप जुत, कीरति तें अनुमानु॥

भारथसिंह या भारथसाहि

इन्होंने "सतकवि कुलदीपिका"[१०] नाम के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की है जिसमें साहित्य (पिंगल, अलंकार और नायिकाभेद) और कविशिक्षा (राजा, रानी, पुरोहित और सेनापति) संबंधी विषयों का वर्णन है। नीचे बिषयों का नामोल्लेख किया जाता है—

पिंगल, झूठ, सत्य, टेढा, त्रिकोण, आवर्त, सौत, कठिन, सुख, दुख, चंचल, वर्ण, ऋतुराज, राजा, रानी, कुमार, पुरोहित, सेनापति, आखेट, जुक्ताजुक्त, अतिशयोक्ति, उपमालंकार, किलकिंचित-हाव, नख-शिख, शृंगार, राग, अनुराग और अर्थविधान आदि।

रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया गया है। लिपिकाल संवत् १८६७ है। रचयिता ने अपने निवास-स्थान का नाम 'देउरा' और पिता का नाम 'हरिसिंघ' लिखा है। अपनी विस्तृत वंशावली भी दी है जिसके अनुसार ये राजवंशी थे। अतः ग्रंथ का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से और बढ़ जाता है। इनके मूल पुरुष पृथीचंद बांधवगढ़-नरेश शालिवाहन के भाई थे। इस गढ़ को सौमित्त (शत्रुघ्न ?) ने बनवाया था। पृथीचंद यहाँ से अमिला (जमुनातट, प्रयाग) में जा बसे और उनके पुत्र कर्णराय देउरी में। ग्रंथकर्त्ता ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

बाँधवगढ़ सब गढ़नि वर, बिरच्यौ जेहि सौमित्तु।
दुर्गम दुसह दुरूह अति, उन्नत अमित पवित्तु॥
दीर्घ कोस लौ उच्च अति, कोस चकरइ चारि।
केदली केतकि आदि वन, चहुँदिसि पुरित वारि॥ ४
घेरि सिषर चहुँ फैरि जहँ, सिध्यन केर निवास।
होम धूम प्रगटत महा, निसिवासर चहु पास॥
असगड के वर भूप भै, सालिवाँहि तेहि नाम।
ताहि सहोदर पुनिभै, प्रीथीचंद भै राव॥

१०—श्री लालसंकर्षण सिंह, ग्राम सुंदरपुर, डाक० बारा, जि० इलाहाबाद

वीउ पदवी पाइ तिनि, कीन अमिलिआ धाम।
जमुना तट पावन परम, सुख समूह वसु जाम ॥७॥

× × ×

पृथीचंद के प्रथम सुत, कर्नराय जेहि नाम।
छोडि अमिलिआ सो वसै, देउरा गुनमै धाम ॥
ताके सुत वर पुन्निमै, नाम मेदिनीसिंघ।
तेहि सन्मुष खलहु ह्वदै, भुलिहु रहै न रिंघ ॥१०॥
ताके प्रथम कुमार भे, मानसिंघ जेहि नाम।
ताके सुत वर पुन्निमै, राइसिंघ जसुधाम ॥
तासु तनै वर जुध्य कृत, जसीराव कल्यान।
फतेसिंघ ता सुत भए, सुंदर सील निधान ॥१२॥
तासुत भै पुनि राइजीव, महासुभट रनधीर।
दानि षानि गुन मानि हित, अति भरि ग्यान गंभीर ॥१३॥
सत्रुसाल ता तनुज भो, जाचक करत निहाल।
गऊ पाल ब्रह्मन सहित, सत्रुन के वर काल ॥१४॥
पृथीपति ता सुत भए, महासुभट रनधीर।
तेज देवाकर रूप ससि, सागर ग्यान गंभीर ॥१५॥
ताके प्रथम कुमार भो, नाम विक्रमाजीत।
जनपालक घालक द्रुमन, ब्रांभन कुल के मीत ॥१६॥
प्रतापदित्य ता तनुज भो, जग्तराज सुत ताहि।
छत्रपती ता सुत भए दाता, सील निबाहि ॥१७॥
हरीसिंघ विक्रम अनुज, ता सुत भारथसाहि।
एह सतकुल कविदीपिका, कीन्हौ ग्रंथ निवाहि ॥१८॥

इसमें संदेह नहीं कि रचयिता प्रौढ़ और सर्वतोमुखी प्रतिभा के कवि थे। नीचे इनकी कुछ कविता दी जाती है —

भाव अभाव मुग्धा अभिसारिका के उदाहरण

घनाक्षरी छंद

नवल सलोनी लोल लोचन विसाल जाके उरज (सु) माल मुष सोमित मयंक हैं।
आइ बृजवाल वाल वोलनि सु सैन काजै चलहु गोपाल लाल वैठे परजंक हैं।

प्रथम जुवनि जानि प्रीतम सनेह पूरे ससभि कलेस वड पाछे किश्र संक हैं।
"भारथ" भनत भाम वीरधै निधान रँगी परिहि निदान कीन्हे दीन्हौ विधि अंक हैं ॥६४॥

दोहा—गमन कीन निज पति भवन, अली ढकेलति ताहि।
मौंनहु मत्त गयंद वर, लिहे महावत जाहि।।

भीम

इनकी राजस्थानी भाषा में रची हुई "हरिलीला सोलह कला" (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन-संग्रहालय, प्रयाग) नामक रचना मिली है। इसमें भागवत का विषय विशेष कर श्रीकृष्ण चरित्र का संक्षेप में वर्णन किया गया है। रचनाकाल संवत् १५४१ वि० है—

संवत् १५ रुद्रनी बीस। वर्ष एक उपस्य (उपस्य = उपरि) चालीश ॥
उत्तमे उत्तरायण वीशेष। रतु वसंत संक्रांत्य मेष ॥ ८ ॥

अर्थात्, १५ सौ ऊपर एक चालीश या १५४१। 'रुद्रनी बीस' से यह तात्पर्य है कि उस समय रुद्र-बीसी चल रही थी। लिपिकाल संवत् १७२६ है।

रचयिता का नाम के अतिरिक्त और कोई वृत्त नहीं मिलता। परंतु प्रस्तुत ग्रंथ राजस्थानी भाषा में होने के कारण स्पष्ट है कि ये राजस्थान के रहनेवाले थे। प्रस्तुत विवरणिका में आए अपने नाम के रचयिता से ये सर्वथा भिन्न है।

रचना दोहा-चौपाइयों और पदों में की गई है। नीचे इनका एक पद दिया जाता है—

गीत राग वसंत वैराठी

अनंद एक अभीनवोरि वृंदावन मो भान्य।
वंश वजावे वीठलोरि तेणि छंद नाचे नान्य ॥३५॥
वृंदावन गोपी नाचे रि तेणि रंगे राचे राम।
राग मधूर स्वर आलवे रि गाए हरी वीलाश।
सूंदरी श्रवन वयोवनारि रंग भन्य षेले रास ॥३६॥
पाषल्य वृंद वीनती तणूंरि माहे सांमल वन।
"भीम" भणे अंतर ले लागोरि धन्य धन्य ते गोपीजन ॥३७॥

महीपति या महीप

ये "कविकुल-तिलक-प्रकास" नामक ग्रंथ के रचयिता है। ग्रंथ में नायिका-भेद, रस, अलंकार, गुण-दोष तथा पिंगल आदि का वर्णन है। इसमें संदेह नहीं कि यह साहित्यशास्त्र पर लिखे गए उत्तम ग्रंथों में से है। रचनाकाल संवत् १७६६ वि० है। लिपिकाल नहीं दिया गया है। आधुनिक बादामी कागज पर लिखी होने से इसकी प्रस्तुत प्रति बहुत प्राचीन नहीं।

रचयिता ने अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार इनका नाम 'महीपति' या 'महीप' है। ये रामपुर (अमेठी, सुलतानपुर, अवध) के रहनेवाले थे। अन्य वृत्त अप्राप्त है—

संवत सत्रह सौ मिलै, तापर छासठि दीन।
भादौ सुदि दसमी गुरौ, विदित ग्रंथ तब कीन्ह ॥७॥
गढ़ा अमेठी देश है, रायपुरा शुभ थान।
आश्रम-चारि बसै जहाँ, सब पंडित सब जान ॥८॥
सुललित ताहि नगर में, कियो "महीपति" बास।
तिन्ह कीन्हो सुषरासि यह, "कविकुल तिलक प्रकास"॥

ग्रंथस्वामी कुँवर रणंजयसिंह (ददन सदन, अमेठी, जि० सुलतानपुर) से पता चला कि ये (रचयिता) अमेठी राज्य के अधिपति थे। उनका वास्तविक नाम हिम्मतसिंह था। सुप्रसिद्ध कवि राजा गुरुदत्तसिंह उपनाम 'भूपति' के ये पिता थे। इनके आश्रय में सुखदेवमिश्र, कालिदास त्रिवेदी, उदयनाथ कविंद्र और दूलह आदि कवि रहते थे।

इनकी कविता का स्वरूप इस प्रकार है—

चारि भुजा अरु चंद्रलिलार लसै रद एक महा सुमती को।
दै मुष मंडल वंदन वेष धरे ही उदार बड़े ही जती को।
सेवत जाहि सदा सनकादिक प्रासोन आनि करै विनती को।
आदि "महीपति" को सुखदायक लायक पूत है पारवती को।

॥ अथ शृंगार रस निरूपनम् ॥

नवहू मे रसराज यह, याहि कहत यहि हेत।
स्याम देवता स्याम रंग, याते कहइ सचेत ॥११॥

मुरलीधर कविराइ

ये भागवत भाषा पंचम-स्कंध (ना० प्र० सभा काशी, याज्ञिक संग्रह) के रचयिता हैं। ग्रंथ में रचनाकाल और लिपिकाल नहीं दिए हैं तथा रचयिता का वृत्त भी अज्ञात है। अपने नाम में इन्होंने 'कविराई' शब्द जोड़ा है, इसकी पुष्टि ग्रंथ द्वारा भी होती है, जो काव्य की दृष्टि से सरस है। इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम राजा नवलसिंह लिखा है; परंतु यह पता नहीं चलता कि वे कहाँ के राजा थे। ग्रंथ में जहाँ तहाँ "यदुराज सुजान कौ सुत" आदि प्रयोगों से पता चलता है कि वे भरतपुर के महाराजा सुजानसिंह के पुत्र थे। पिछली खोज रिपोर्ट (१७-१७८) में उनका उल्लेख है, जिसके अनुसार वे संवत् १८१८ में वर्तमान थे।

ग्रंथ में चौपाइयों का प्रयोग न करके दोहा, सवैया, कवित्त, तोमर, छप्पय, कुंडलिया, भुजंगप्रयात, संखनारी, मालिनी और हरिगीतिका आदि छंदों में कविता की गई है। भाषा ब्रज है। पता चलता है कि रचयिता ने अपने आश्रयदाता के आदेशानुसार केवल पंचम-स्कंध का ही अनुवाद किया था—

नवलसिंह नृप ने कही, मुरलीधर कविराइ।
स्कंध पाँच यों भागवत भाषा देहु बनाइ॥

यहाँ इनकी कुछ कविता दी जाती है

सवैया

जाहि विरंचि समाधिन साधि अगाध अनंत न भेद बतायौ।
जाके लियें सब सिद्ध प्रसिद्ध सदा धरयो ध्यान नहीं मन आयौ।
जाकहु बेदहू सोधि रहे अनुमानहीं तें सुमिरयौ गुण गायौ।
सो मुरलीधर श्री शुकदेव परीछत कौं परतछि सुनायौ ॥३॥

कवित्त

कविनि की कामना पुजामन कौ सुरतर कामिनि के उरनि मनोज उनमान हैं।
मित्र कुमुदनि के विकासिवे कौं कलानिधि अरितम तोरिवे कौं तेजवंत भान हैं।
बीरनि में महावीर नृपत नवलसिंह रसिकन माझ सोहैं रसिक सुजान हैं।
ज्ञानिनु में देखियतु पूरौ ज्ञानमान पुनि मुनिनु की आसिषा है गुनिन कौ प्राण है ॥५॥

शिवदत्त त्रिपाठी

प्रस्तुत त्रिवर्षी में "दशकुमारचरित्र" (पता पृ० २४, पा० टि० ८ में) नाम से इनकी एक रचना मिली है, जो इस नाम के मूल संस्कृत ग्रंथ का सरस

हिंदी पद्यानुवाद है। इसमें दोहा, चौपाई, कवित्त और सवैया आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं। साहित्य की दृष्टि से रचना निस्संदेह उत्तम है। खेद है इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है जिससे रचनाकाल और लिपिकाल का पता नहीं चलता।

रचयिता ब्राह्मण थे और वनउध देश (संभवतः प्रयाग के अंतर्गत?) के अंतर्गत पटीपुर के राजा जबरेससिंह के आश्रित थे। अन्य विवरण अज्ञात है। आश्रयदाता का वंशवृत्त इस प्रकार है—
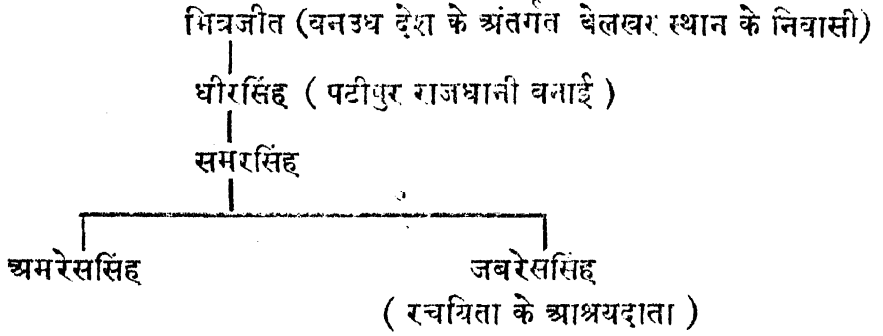
ये राजा वत्सगोत्रीय चौहान थे और पहले वनउध के अंतर्गत बेलखर में रहते थे—

धरनी चक्र समस्त में, वनवध देश अनूप।
नीति रीति जुत भीति विनु, विविध बसैं तह भूप॥
वनउध हू मै अति सुभग, सोभित बेलपर देस।
बसत लोक विनु सोक तहं, धन ते तुलित धनेस॥ ३॥

× × ×

ता पति सुरपति के सरिस, अद्भुत वीर चरित्र।
मित्रजीत भूपति भए, निज कुल सरसिज मित्र॥
जगत प्रसंसा होत जेहि, बंस विदित चौहान।
बछगोती विष्यात महि, उदभट उदित कृपान॥
धीरसिंह ताके तनै, भये प्रबल रनधीर।
को नर सकै सराहि तेहि, जैसी मति गंभीर॥

× × ×

नीति रीति बसकरि सबै, उन्नत धीर नरेस।
पटीपुर नृपपुर कियो, मध्य सकल निज देस॥१०॥

× × ×

धीरसिंह के सुत भये, समरसिंह छितिपाल।
नृपगुण रंचि विरंचि बहु, लिपे भाग्य जेहि भाल ॥

× × ×

श्री समरेस नरेस के, दो सुत भे अभिराम।
अमरसिंह जबरेस यौं, धरे जथारथ नाम ॥१७॥

× × ×

यों जबरेस महीपमनि, मंगलमय सब काल।
राजत राजसमाज मै, भूरि भाग्य भरि भाल ॥

× × ×

वार वार सिवदत्त द्विज, इमि करि वुद्धिविचार।
तेहि विनोद कारन रच्यौं, भाषा दसोकुमार ॥

× × ×

नमूने के लिये रचयिता का एक सवैया दिया जाता है—

सुद्ध दयाकर के छविदेह सुपुस्तक बीन विराजत पानी।
वाहन हंस लसे अवतंस सुपावन कीरति वेद बषानी।
सेत सरोज के आसन पैं बसि लोक के सोक सरोज हिमानी।
सानि सनेह हिये "सिवदत्त" के वानि जु आइ वसैं द्रिढ वानी ॥

शिवदास गदाधर

इन्होंने संवत् १९१० में "दिग्विजै चंपू" (पता—श्री लक्ष्मीदेव द्विवेदी, मु० अलीनगर, गोरखपुर) की रचना की, जिसमें सृष्टि-तत्त्व, राजनीति, धर्म और ज्ञानोपदेश वर्णित हैं। ज्ञानोपदेश देव्यागमों के आधार पर हुआ है जिसमें दीक्षा, निर्णय, योग, ध्यान, आसन, जप-तप, नियम-उपनियम, माला, नाम-स्मरण, पूजा-और कलि-संसर्ग-दोष आदि संमिलित हैं। पुष्टि और प्रमाणों के लिये शैवागमों और वैदिक ग्रंथों से भी उद्धरण दिए गए हैं। प्रत्येक विषय का वर्णन अध्यायों (खंडों) में काव्य-शैली पर हुआ है, अतः यह एक उत्तम काव्य भी है। यद्यपि इसको चंपू कहा गया है, पर यह सार्थक नहीं। समग्र रचना पद्य में ही है।

रचयिता का निवास-स्थान बलरामपुर रियासत (गोंडा, अवध) के अंतर्गत समोगरा स्थान था, जहाँ समग्रनाथ महाज्योतिर्लिंग बतलाया गया है। पिता का नाम रामदीन था जो उक्त रियासत के राजा नेवलसिंह के मंत्री थे। ये राजा

दिग्विजयसिंह (नेवलसिंह के पौत्र) के आश्रय में रहते थे। राजा दिग्विजयसिंह के पैतृक राज्य को शत्रुओं के चंगुल से छुड़ाने में इन्होंने उनकी अपूर्व सहायता की थी; ग्रंथारंभ में इसका इन्होंने बड़ा विस्तृत और कवित्वपूर्ण वर्णन किया है। ग्रंथ को पढ़ने से पता चलता है कि ये धुरंधर राजनीतिज्ञ, उद्भट विद्वान् प्रतिभा-संपन्न कवि और बड़े सहृदय व्यक्ति थे। संभवतः यो शैव थे और देवी की भी उपासना करते थे। इनके आश्रयदाता की वंशावली इस प्रकार है—

पावागढ़ गुजरात तें, आयो नृप जनवार।
सुभट वीर वरिवंड बहु, संघ में सैन अपार॥
सूबा अवध को जेर करि, छीनि मुल्क सब लीन।
ता मंह यह बलिरामपुर, सुभग थली निजु कीन॥

× × ×

तातें अब संछेप करि, कहत हौं सुनिये राज।
नौ पीढी के वादि भे, नेवलसिंह महाराज॥

× × ×

ता नृप के जुग तनै भै, सिंह बहादुर वीर।
अर्जुनसिंह भे सिंह सम, धीर वीर गंभीर॥
ता अर्जुन भूपाल के, भये उग्र द्वे वंस।
जैनारायन प्रथम भे, हंस वंस अवतंस॥
दूजो सुत है आप प्रभु, विदित तेज गुणधाम।
पसु पंछी सुर असुर नर, गावत जाको नाम॥
नेवलसिंह पर पिता तुम्हारे। ता समीप पितु आय हमारे॥
दीन कुलीन जानि विद्वाना। "रामदीन" अस नाम वषाना॥

× × ×

रामदीन को निज जन जानी। सौंपे पुनह सकल रजधानी॥
धमपुत्र महाराज को, ताको सुत मैं तात।
नाम गदाधरदास शिव, प्रगट जगत विष्यात॥२७६॥

ग्रंथ की पूर्णता की तिथि

नभ (०) इंदु (१) ग्रह (९) चंद (१) है, संवत सुभ वतमान।
बान (५) दीप (७) रिषि (७) ब्रह्ममो (१), सका सुभग सुजान॥

नृपवंश का वर्णन करने के कारण प्रस्तुत ग्रंथ का महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से भी बढ़ जाता है।

नीचे रचयिता की कुछ कविता दी जाती है—

दोहा

निरषि वाटिका अजर सुभ, चाबुक सब्द चकोर।
लग्यौ तरारे फिरि भरन, अस्त्र लेखनी मोर॥
कली तुल्य मुष चंद है, सिसिर क देषो तात।
यह बसंत सुख समै लषि, विगसत कली प्रभात॥
मंद गंध मकरंद जुत, चलत पौन सुभ भोर।
चहचहात चात्रिक विपुल, हरषित रहत चकोर॥
गुंजत मधुकर मद भरे, गान करत सारंग।
महकत लहकत द्रुम लता, विगसित सुमन सुरंग॥
हरित बसंती बसन को, पहिरो विर्छनि अंग।
पुष्प हसत लषि डार छवि, मुरछित होत अनंग॥

छंद

सुभ ज्वलित ललित ललाम। विजलेस्वरि जा नाम॥
त्रिकोंड मै है कुंड। पूजत असुर सुर झुंड॥
नित देत है बरदान। बरदेव वाको थान॥
अति सुंदरी मुसकात। है स्वच्छ निरमल गात॥
तन बसन सेत सोहाय। गल माल मणि छवि छाय॥

शेख अहमद

इनकी दो रचनाएँ 'वियोगसागर' और 'मोहनी' (पता—हिंदुस्तानी-एकेडमी, प्रयाग) मिली हैं जो एक ही विवरण में हैं। प्रथम में वियोग-शृंगार और दूसरी में शिख-नख का वर्णन है। काव्य की दृष्टि से दोनों सरस और उत्तम हैं तथा कवि की प्रतिभा को व्यक्त करती हैं। इनमें केवल दोहा छंद प्रयुक्त हुआ है। ये रचनाएँ प्रस्तुत विवरणिका की संख्या १२६ में आए जान कवि की रचनाओं के साथ एक ही हस्तलेख में हैं। रचनाकाल नहीं दिया है। लिपिकाल संवत् १७७८ है।

रचयिता के गुरु पीर साहि मुहुदी औलिया के पुत्र पीर जलाल मुहुदी थे। अन्य विवरण अज्ञात है। इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है—

मधुर बैन छवि नैन मय, मधुर जु सबै सरीर।
अरु लालन के गुन मधुर, करई विरहन पीर ॥
नैन नैन ते बैन कहि, रचना कहे न जाहि।
दुरि मुसकानि हुलास छवि, पल पल पेम लहांहि ॥
रोम रोम जिय जिय मिले, लह्यौ जु पेम पियार।
कहै सु बिछुरन की बिथा, करहि वियोग पुकारि पुकारि ॥ (वियोगसागर)

भौरन ते अति स्याम अलि, बिसहर तें विष केस।
डसहिं न मंत्र मानहीं, गारुरी होहु किन सेस ॥४॥
इ लांबे अरु घूंघरे, नप सिप लौं लहरांहि।
मनहु उडनिया नाग ज्यौं, देषत ही डंस जाहि ॥५॥ (मोहनी)

शेख निसार

इनकी सूफी शैली पर लिखी हुई 'यूसुफ जुलेखा' (पता—पृ० १७, टि० ६) सुंदर प्रेमकथानक काव्य है जिसमें यूसुफ और जुलेखा के प्रेम का अत्यंत सरस एवं उत्कृष्ट वर्णन किया गया है। रचनाकाल संवत् १८४७ और लिपिकाल संवत् १९५९ है। इसका कथानक रोम देश का है।

रचयिता शेखपुर (सुलतानपुर) के निवासी थे। इनके पुरखे रोम देश में रहते थे। पिता का नाम गुलाम मुहम्मद और पितामह का शेख मुहम्मद था। शेख हबीबुल्ला इनके मूल पुरुष थे जिन्होंने अकबर बादशाह के समय शेखपुर गाँव बसाया था। ये (रचयिता) मौलवी थे और संस्कृत, हिंदी, फारसी, तुरकी के बड़े विद्वान् थे। इन सभी भाषाओं में इन्होंने सात रचनाएँ भी कीं—

शेख हबीबुल्ला सोहाए (सोहाई)। शेखपुर जिन्ह आन बसाई ॥
पातसाह अकबर सुलताना। तंह के राजकर जगत बखाना ॥
औ वह देस सूना होइ आई। तीस बरस की रही सोहाई ॥
तंह के शेख मुहंमद वारा। रूपवंत भू के अवतारा ॥
शेख गुलाम मुहंमद नाऊँ। सो मम पिता औ ताकर गाँऊँ

×

वंस मोलवी रोमकी, जंह कर प्रेम गरंथ।
हुई सिद्ध पद मसनवी, पावे प्रेम की पंथ ॥

सात ग्रंथ अनूप बनाई । हिंदी और पारसी सोहाई ॥
संस्कृत तुरकी मन भाई । सभे प्रेम रस भरी सोहाई ॥

प्रस्तुत रचना इन्होंने सत्तावन वर्ष की अवस्था में की । इससे पहले संभवतः शृंगार की अधिक रचनाएँ कीं जिनसे इनका चित्त हटकर सत्य से पूर्ण रचनाओं की ओर आकर्षित हो रहा था । प्रस्तुत रचना इसी बात की द्योतक है । यह सात दिन में लिखी गई थी—

झूठ जान सबते मन भागा । अब यह सांच कथा चित लागा ॥
हिजरी सन् बारह से पाँचा । बरन्यो प्रेमकथा यह साँचा ॥
अठारह से सँयतालीसा । संवत् विक्रमसेन नरेसा ॥
सतरह से बारह पुन साका । पौष मास पून्यौ बस राका ॥
सत्तावन बरख बीते आव । तब उपज्यो यह कथा के चाव ॥
सात दिवस मंह कीन समापत । दुरमत नाम लह्यो यह संवत ॥

इन्होंने कुछ ऐतिहासिक विवरण भी दिया है । उस समय दिल्ली की गद्दी पर शाहआलम नाम मात्र का बादशाह था । नादिर खाँ रुहेला ने उसको अंधा कर दिया और उसकी स्त्री और पुत्रों को अत्यंत दुख देकर तैमूर के वंश को पुत्रहीन कर दिया था—

आलमशाह हिंद सुलताना । तंह के राज यह कथा बखाना ॥
देहली राज करी अवनीता (सा) । अपर वहीं तेह कीन्ह अनीता ॥
नादिरखाँ सो अधम रुहेला । सबा परध कीन्ह बड़ पेला ॥
पातसाह कंह अंध जो कीन्हा । सुत और नार सभे दुख दीना ॥
कीन्ह अपत तैमूर घराना । राज प्रताप अधम तेह माना ॥

रचयिता ने ग्रंथ समाप्त करते हुए विनीत भाव का परिचय दिया है जो विद्वानों और पहुँचे हुए भक्तों का विशेष गुण है—

पढ़े प्रेम के अछ्र कोई । दई असीस मुक्ति जिन होई ॥
हम न रहब अछर रह जायह । जो कोउ पढ भेद नर पायह ॥
अवगुन होइ तो लेहु छिपाई । हम न रहब जो देब बताई ॥
रहें वो भगत पेम अव ज्ञाना । धरम नीत सुभ कथा बखाना ॥

ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति फारसी लिपि में लिखी हुई है ।

समाधान

इनका "लक्ष्मणशतक"[११] नाम से वीररसपूर्ण उत्तम काव्य-ग्रंथ मिला है। लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध का बड़ा ओजस्वी वर्णन है। खेद है, ग्रंथ की प्रस्तुत प्रति खंडित है जिससे रचनाकाल और लिपिकाल का पता नहीं चलता।

रचयिता का भी कोई विवरण नहीं मिलता। ग्रंथ से ये प्रतिभावान् कवि ज्ञात होते हैं। इनकी यह रचना संवत् १९५६ (सन् १८९९ ई०) में बाबू रामकृष्ण वर्मा (संपादक, "भारतजीवन") द्वारा भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है, परंतु उसमें भी इनका कोई वृत्त नहीं दिया है।

किरवान छंद इन्हें विशेष प्रिय हैं। उदाहरण स्वरूप दो कवित्त दिए जाते हैं—

कहू हथ्थिन पै हथ्थि कहू रथ्थिन पै रथ्थि कहू वथ्थिन पै वथ्थि कवि कौन पमिलान।
कहू मुंडन पै मुंड कहूँ रुंडन पै रुंड कहूं तुंडन पै तुंड परे लोटत धरान।
मच्यौ जोर सफर जंग टुट फुट्ट तन भंग छिन भिन्न अंग अंग भगे राछस जमान।
तहाँ तेज के निधान करि कोप "समाधान" वीर लछन सुजान झुक झारै किरवान॥
बढ्यौ जोर पारावार चहु ओर धारापार नहि जासु वारा पार ग्रह ग्राह उछलान।
करै असुर अतंक मिलै नभ मै निसंक अनदेपे हंक हंक अत्र घालत अमान।
फिरै भूत प्रेत धार मुप बोलै मार मार कवि सीस असरार सार झार झहरान।
तहाँ तेज के निधान करि कोप "समाधान" वीर लछन सुजान झुक झारै किरवान॥

हसनअली खाँ

इन्होंने "दस्तूर शिकार" का (ना० प्र० सभा, याज्ञिक संग्रह) फारसी से हिंदी गद्य (हिंदवी) में अनुवाद किया, जिसमें शिकारी पक्षियों को पकड़ने, पालने और उनके रोग तथा चिकित्सादि का वर्णन है। प्रति खंडित है। रचनाकाल ज्ञात नहीं। लिपिकाल संवत् १८१६ है। पुष्पिका से विदित होता है कि यह मूल प्रति है, अतः रचनाकाल और लिपिकाल एक ही मानना उचित होगा—

"तमाम हुवा दस्तुर सीकार का बनाया हुवा हसन अली खाँ का संवत् १८१६ मीती क्वार वदी १५ सुकरवार फारसी से हीदवी कीय॥"

रचयिता का कोई वृत्त नहीं मिलता।

११—पता-श्री कन्हैयालाल केसरवानी, स्थान तथा डाक० भारतगंज जि, ल इलाहाबाद।

हेमरत्न

राजस्थानी भाषा में रची हुई "गोरा-बादल-पद्मिनी चौपाई" (ना० प्र० सभा, याज्ञिक संग्रह) नामक इनकी एक रचना के विवरण लिए गए हैं, जिसमें गोरा बादल और पद्मिनी की कथा का अत्यंत सरस वर्णन है। रचनाकाल संवत् १६४५ (?)दिया है। लिपिकाल का पता नहीं चलता।

हस्तलेख का अंत का पत्र अत्यंत जीर्ण-शीर्ण दशा में है। उसमें रचयिता ने रचनाकाल के साथ साथ अपना परिचय भी दिया था पर वह अंश पढ़ा नहीं जाता। इसके आरंभ के अंश को पढ़ने से पता चलता है कि ये किसी पद्मराज वाचक के शिष्य थे —

पदमराज वाचक प्रभृति, प्रणमी निज गुरु पाय।
केलविसूं सांची कथा, कानन आवै दाय॥

ग्रंथ की भाषा के आधार पर ये राजस्थान के निवासी जान पड़ते है। "राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" (प्रथम भाग पृष्ठ ५३, १७८) में भी इस ग्रंथ का उल्लेख है। उसमें रचयिता का वृत्त इस प्रकार दिया है—

"ये मेवाड़ के जैन साधु थे। गुरु का नाम पद्मराज था। इनका "पद्मिनी चौपई" नामक एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जो संवत् १७६० में रचा गया था। यह ग्रंथ इन्होंने मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) के राजत्वकाल में कुंभलनेर में लिखा था। इसमें मेवाड़ की इतिहास-प्रसिद्ध महाराणी पद्मिनी की कथा का वर्णन है। ग्रंथ जायसी कृत पद्मावत की छाया पर लिखा गया प्रतीत होता है। इसकी भाषा बोलचाल की राजस्थानी है। रचना सरस और मनोहारिणी है।"

इस विवरण से तो प्रस्तुत प्रति में दिया गया रचनाकाल अशुद्ध ठहरता है। इसमें नाम के साथ 'गोराबादल' और जुड़ा है। रचनाकाल का छंद इसमें खंडित है, पर जो अंश वर्तमान है उससे संवत् १६४५ का ग्रहण किया जा सकता है—

संवत सोले[१६] सोले से पइंता[४५]........... ।
पुहुनी पीठ पणु परग की सचलपुरी सोहै सादगी ॥७०१॥

उपर्युक्त राजस्थानी खोज-विवरण में रचनाकाल निम्नलिखित प्रकार से है—

वदि चैतह साठै बरस, तिथि चौदसि गुरुवार।
बंधे कवित्त सुवित्त परि, कुंभलमेर मंझारि ॥६१७॥

राणा अमरसिंह (द्वितीय) का राज्यकाल ओझा जी कृत 'राजपूताने का इतिहास' (पृ० ६०५) के अनुसार संवत् १७६० के आसपास है, अतः यही रचनाकाल मानना उचित है।

यहाँ रचयिता की थोड़ी सी कविता दी जाती है—

नवरस दोषेन वानवाँ, सयण सभो सिणगार।
कवियण मुषि करज्यो कृपा, वदतां वचन विचार ॥४॥
वीरा रस सिंगार रस, हासा रस हित हेज।
साम धरम ते साभलो, जिम होवे तन तेज ॥५॥
साच शील इहाँ भाषीइं, जसु प्रसाद सुष होइ।
पदमणि नारि पालीये, संभलि ज्यो संग कोइ ॥६॥

× × ×

सूर सरणाइ सिंधु साद। परवत माहि पड़े पड़साद ॥
हठीयो आलम शाह अभंग। क्रुद्ध जुरया गरि जाणे जंग ॥३०१॥
रतनसेन पिण रोसें चढ्यो। दीठो आलम आवी परयो ॥
सुभट सेन सज कीधा संग। सवलवंत बोलें विकसइ वंग ॥

हेमराज मथेन

इनकी "वैन-बत्तीसी" (पता—श्रीमुन्नूलाल शुक्ल, ग्राम तथा डाकघर पच्छिमसरीरा, जि० इलाहाबाद) शृंगार रस की उत्तम रचना है जिसमें श्रीकृष्ण की वंशी के प्रति गोपियों का द्वेष भाव वर्णित है। रचना सवैयों में है। केवल अंत में दो दोहे हैं। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है। बीच बीच के कितने ही छंद अथवा उनके चरण स्याही के उखड़ जाने से नष्ट हो गए हैं, अतः नहीं कहा जा सकता कि कुल कितने छंद थे। परंतु ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है कि बत्तीस सवैए रहे होंगे। प्रस्तुत प्रति में दोहे-सवैयों की समस्त संख्या छत्तीस है। अतः स्पष्ट है कि चार छंद बढ़े हुए हैं। पुराने ग्रंथों में कवित्तों और सवैयों के साथ दोहे-सोरठों की संख्या प्रायः परिगणित नहीं होती थी।

रचनाकाल संवत् १६१६ वि० है। लिपिकाल का उल्लेख नहीं है। रचयिता का नाम मथेन हेमराज है। और कोई परिचय उपलब्ध नहीं। इनकी उपाधि या आस्पद लिपिकर्ता की भी उपाधि है—

लिषतं मथेन हरिचंद वासी रूपनगर

अतः अनुमान होता है कि ये और लिपिकर्ता एक ही वंश के और एक ही स्थान (रूपनगर) के थे। नीचे इनके दो सवैए दिए जाते हैं—

ओसर मोसर घोसक रैनि चक्योई करै विष वाद भरी है।
श्रोन सुनै सुर सीस धुनै मुख मौंन कहा थकि गोंन धरी है।
तांननि तांननि वेधत है तन मानन मैं मन लेत हरी है।
पीर पराई न जांनै अरी यह वैरन बांसुरी गैल परी है॥

× × ×

कानि परी धुनि आंनि जबै घर के अंगनांन सुहावत है।
अकुलाय हिये मधि हूक उठै सुर तांननि मैं चित जावत है।
घर काजहि भूलि औ फूलि मनौं रस झूलनि ऊपर धावत है।
अंगुरी दियें कौलगि कान रहैं बजि बांसुरी लाज गमावत है॥

ज्ञात लेखकों में, जिनके नवीन ग्रंथ मिले हैं, अलीमुहीबखाँ "प्रीतम", आलम और शेख, केशवदास, गिरिधरदास, जटमल नाहर, देवीदास, भीम, रसरासि, लखनसेनि, विश्वनाथ सिंह, वृंद कवि और सोमनाथ मुख्य हैं।

अलीमुहीब खाँ "प्रीतम"

ये अपनी सुप्रसिद्ध रचना "खटमल-बाईसी" के कारण हिंदी साहित्य में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इस बार इनकी "रसधमार" (विद्याविभाग, काँकरोली) नाम से एक और नवीन रचना मिली है। रचनाकाल संवत् १७६७ तथा लिपिकाल संवत् १८०० दिए हैं। लिपिकाल को देखकर प्रस्तुत प्रति रचयिता के समय की ही लिखी जान पड़ती है। इसको जानी भवानी शंकर वृद्धनाम कृपाराम नाम के किसी व्यक्ति ने लिखा था। ग्रंथ का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है। कविता दोहा, चौपाई और कवित्त आदि छंदों में की गई है।

रचयिता आगरा-निवासी थे तथा वहीं के प्रसिद्ध कवि सूरतिमिश्र के शिष्य थे—

प्रीतम बसत सुआगरे, अलीमुहब खाँ नाम।
सूरत कवि कौ सिष्य है, जानो कवि रसधाम॥२॥
सरके मन इहि मास मों, उपजत सरस तरंग।
रस धमार बरनन करों, फागुन पाइ प्रसंग॥३॥

सत्रह सै सत्तानवै, संवत फागुन मास।
सुकल पक्ष बुधवार छठ, रसधमार जगवास ॥४॥

'खटमल-बाईसी' का उल्लेख पिछली खोज रिपोर्ट (०३-१०) में हो चुका है। नीचे प्रस्तुत ग्रंथ से कुछ कविता दी जाती है—

कवित्त

आजु प्यारी होरी को समाज करि घेरे लाल प्रेम सरसत मोद नैननि भरतु है।
झोरी भरी न्यारी ह्वै निहारि फेंकी प्रीतम पै जब प्रेम बढ्यो मन लालहि हरतु है।
आँन गहि आचरु लड़ैती सौं कहन लागे हमहूँ को देहु गति अद्भुत धरतु है।
देख्यो न सुन्यों हे कहूँ ऐसो है गुलाल यह तन पै परत लाल मनकों करतु है॥

× × ×

इक उपमा तब प्रीतम परखी। कहत सुरीझि प्रेम रस बरखी॥
नील कमल मनु सहित सुनाल। प्रेम बेलि पै दीनौ डाल॥
प्यारी बाँह परी गर प्यारें। ताको प्रीतम कहत विचारें॥
प्रीति सुपास प्रेम लै ठगिया। मनु सिंगार रस पकरन लगिया॥

आलम और शेख

ये हिंदी साहित्य संसार में प्रेमी दंपति के रूप में प्रसिद्ध हैं। पिछली खोज में इनकी बहुत सी रचनाओं का पता लगा है। इस बार भी इनके कवित्तों के तीन संग्रह 'कवित्त चतुःशती' 'कविता-संग्रह' और 'अकार के कवित्त (विद्याविभाग, काँकरोली) और मिले हैं। रचनाकाल, लिपिकाल तथा विषय की दृष्टि से इनका उल्लेख नीचे किया जाता है—

१—कवित्त चतुःशती—इसमें चार सौ कवित्त हैं जिनमें अधिकतर शृंगार रस और राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। रचनाकाल ज्ञात नहीं, लिपिकाल संवत् १७१२ दिया है। विवरणपत्र में दिए गए उद्धरणों में संग्रह का नाम 'कवित्त चतुःशती' नहीं मिलता। पुष्पिका में 'शेख आलम के कबित्त' लिखा है। विवरणकर्त्ता (पं० कंठमणि जी शास्त्री) ने विशेष ज्ञातव्य में लिखा है कि श्री भवानीशंकर जी याज्ञिक (स्व० पं० मायाशंकर जी याज्ञिक के भतीजे) ने इस संग्रह को देखा था और एक कागद पर जो इसी संग्रह में रखा है इस प्रकार लिखा है—

(१) चतु:शती कल्पित नाम प्रतीत होता है। इस ग्रंथ की कई प्रतियाँ हमारे देखने में आई हैं पर चतु:शती नाम किसी में भी नहीं दिया हुआ है।

(२) यह प्रति संवत् १७१२ वि० की है। हमारे अनुमान से समस्त प्राप्त प्रतियों में यह सबसे प्राचीनतम है।

(३) इस प्रति में बीसवाँ पत्र नहीं है। इस कारण जो भाग लुप्त हो गया है उसे एक अलग पत्र पर लिख दिया है। अत: इससे पता चलता है कि इस संग्रह में चतु:शती नाम कहीं न कहीं अवश्य दिया है।

२—**कविता संग्रह**—इसका भी विषय शृंगार एवं राधाकृष्ण के केलिकलापों का वर्णन है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं। कुछ 'कवित्त-संग्रह' खोज रिपोर्ट (०३-६; २३-६; ४१-१२) में उल्लिखित हैं।

३—अकार के कवित्त—इस संग्रह में कवित्तों का विभाग अक्षरक्रम से किया गया है, पर विवरणपत्र में दिए गए उद्धरणों से पता चलता है कि इन्हें अक्षरक्रम से लिखा नहीं। आरंभ में 'न' पर लिखा गया दोहा है और अंत में 'अ' पर की चनाएं हैं। इनका विषय भक्ति और शृंगार है। रचनाकाल अज्ञात है, लिपिकाल अनुमान से संवत् १८२१ से १८५५ तक दिया है।

इनके अतिरिक्त 'सुदामाचरित्र' की एक प्रति और 'माधवानल-कामकंदला'[१२] की छ: प्रतियों के भी विवरण लिए गए हैं। इन दोनों ग्रंथों का उल्लेख खोज रिपोर्ट (३५-४; ०४-६; २३-८; २६-८; ४१-४७५) में हो चुका है।

गिरधरदास

ये खोज रिपोर्ट (१२-६०; २६-१४; ४१-४६; ४८८) में उल्लिखित गिरिधरदास हैं जो भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे। इनके संबंध में प्रसिद्धि है कि इन्होंने 'नहुष नाटक' (विद्याविभाग, काँकरोली) की रचना की थी जिसका आज से पहले 'खोज' में कोई पता नहीं चल सका था। इसकी प्रस्तुत प्रति पूर्ण है। रचना-

१२—पता—(१) श्री बलदेव चौबे, ग्राम तथा डाकघर दुधौड़ा, जि० जौनपुर। (२) म्युनिसिपल संग्रहालय, इलाहाबाद। (३) श्री रामचंद्र टंडन, १० साउथरोड, इलाहाबाद। (४) हिं० सा० स०, प्रयाग। (५) श्री रामरत्न त्रिपाठी, अध्यापक फार्ब्स हाई स्कूल, फैजाबाद (६) ना० प्र० सभा काशी।

काल अज्ञात है। लिपिकाल संवत् १६२३ दिया है। इसमें सूर्यवंशी राजा नहुष की कथा का वर्णन है और प्राचीन संस्कृत नाटकों की शैली पर लिखा गया है। पहले मंगल और फिर नांदीपाठ है। गद्य और पद्य दोनों प्रयोग का हुआ है।

ग्रंथ द्वारा रचयिता का कोई परिचय नहीं मिलता। पिछली रिपोर्टों में इनका उपनाम 'गोपालचंद' लिखा है। जन्मकाल संवत् १८८१ माना गया है। सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की अल्पावस्था में ही ये स्वर्गस्थ हो गए थे। फिर भी इतनी अवस्था तक लगभग चालीस ग्रंथों की रचनाएँ कर चुके थे।

यहाँ नाटक का कुछ अंश दिया जाता है—

मातलि की ओर देखि कै ॥ नहुस ॥ सानंद ॥

दोहा

देखनीय कमनीय अति, उपवन यह रमनीय।
अहै कौन को सो कहहु, लग्यो मोहि अति प्रिय ॥७३॥

मातलि ॥

दोहा

यह सब रितु सोभा भरयो, सुखमय पूरन काम।
महाराज को विपिन है, नंदन याको नाम ॥७४५॥
नहुस ॥ सानंद ॥ सीघ्र चलहु सीघ्र चलहु ॥

तब मातलि रथ चढाय नंदनवन मैं गयो ॥ तहां की सोभा देखि कै
नहुष ॥ सानंद ॥...............

जटमल नाहर

इनके "प्रेमविलास—प्रेमलता-कथा" (सम्मेलन, प्रयाग) ग्रंथ के विवरण लिए गए हैं। यह शुद्ध भारतीय प्रेम-कथानक शैली पर लिखा गया मनोरंजक और सरस काव्य है। इसमें दी हुई कथा इस प्रकार है—

यौतनपुर में राजा प्रेमविजय राज करता था। उसकी रानी का नाम प्रेमवती और पुत्री का प्रेमलता था। उसके मंत्री मदनविलास के एक पुत्र था जिसका नाम प्रेमविलास रखा गया। प्रेमलता और प्रेमविलास दोनों एक गुरु के पास पढ़ने लगे। दोनों रूपवान् थे, अतः गुरु ने इस शंका से कि कहीं उनमें अनुचित प्रेम न हो जाय, दोनों को एक दूसरे के झूठमूठ दोष बताए। राजकुमारी से कहा कि प्रेमविलास कोढ़ी है और प्रेमविलास को बताया कि राजकुमारी

अंधी है। फलस्वरूप साथ साथ पढ़ते हुए भी दोनों एक दूसरे को घृणित दोष से युक्त समझकर देखना भी पाप समझते थे। एक दिन जब गुरु किसी काम से बाहर गए हुए थे, राजकुमारी के पढ़ने में कुछ अशुद्धि हो गई जिसपर प्रेमविलास ने उसको अंधी कह दिया। राजकुमारी को बड़ा क्रोध आया और उसने भी प्रेमविलास को कोढ़ी कहकर संबोधित किया। प्रेमविलास ने कहा—"गुरु ने तुम्हें अंधी बतलाया था। अतः यह सोचकर कि उसी दोष से तुमने अशुद्ध पढ़ा है, मैंने तुमको अंधी कहा; परंतु तुमने मुझे कोढ़ी क्यों कहा ?" राजकुमारी ने भी सत्य बात बतला दी। इसपर दोनों एक दूसरे को ध्यानपूर्वक देखने लगे। दोनों रूपवान् तो थे ही, अतः शीघ्र ही एक दूसरे पर अनुरक्त हो गए। इतने में गुरु जी आ गए और देखा कि उनकी चतुरता का परदा खुल गया। उन्होंने उनको डाँटा और समझाया, पर फल कुछ न हुआ। दोनों ने गुरु से अपने अपने हृदय की बातें कह दीं। दुष्परिणाम की आशंका से गुरु ने शीघ्र ही दोनों को घर जाने का आदेश दिया। परंतु दोनों प्रेमियों को शांति कहाँ ? एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि महाकाल के सम्मुख विवाह कर भाग जाँय। आगे की आमावस्या का दिन इसके लिये निश्चित हो गया। इस बीच नगर में एक जोगिन आ गई जो वीणा बजाना और गाना बहुत अच्छा जानती थी। लोग उसकी कला पर मुग्ध हो गए। राजा भी उससे मिलकर प्रसन्न हुआ। उसने उससे राजकुमारी को भी वीणा बजाना और गाना सिखाने की प्रार्थना की। जोगिन ने स्वीकृति दे दी। राजकुमारी नित्य जोगिन की कुटिया पर संगीत-शिक्षा के लिये जाने लगी। प्रेमविलास भी अवसर पाकर कुटिया पर राजकुमारी से मिल लिया करता। दोनों एक दूसरे को देखकर व्याकुल हो उठते। एक दिन ऐसे ही अवसर पर राजकुमारी की आँखों से आँसू गिरते देख जोगिन को बड़ा आश्चर्य हुआ, पर मूल कारण ज्ञात हो जाने पर उसने राजकुमारी को आँखों का अंजन देकर उड़ने तथा रूप पलटने की विद्या सिखाई। थोड़े ही दिनों पश्चात् राजकुमारी की शिक्षा पूर्ण होने पर जोगिन चली गई। इधर पूर्व निश्चयानुसार दोनों प्रेमी चंपकमाला सखी के साथ महाकाल के सामने वैवाहिक कृत्य संपन्न कर और देवता का आशीर्वाद लेकर आकाश-मार्ग से उड़ भागे। तीनों रतनपुर नगर पहुँचे, जहाँ का राजा उसी दिन मर चुका था। राजा संतानहीन था, अतः यह निश्चय हुआ कि हाथी जिसको राजतिलक कर देगा वही राजा बनाया जायगा। संयोगवश हाथी ने प्रेमविलास को ही राजतिलक कर दिया। अतः वह और प्रेमलता उस राज्य के

राजारानी हो गए। कुछ दिनोपरांत प्रेमविलास को चंद्रपुरी पाटण के राजा चंद्रचूड़ से घोर युद्ध करना पड़ा, जिसमें चंद्रचूड़ पराजित हुआ। इस प्रकार अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर प्रेमलता और प्रेमविलास अपने दिन सुखपूर्वक बिताने लगे। एक दिन उन्होंने अपने मातापिता के पास एक दूत भेजा। उनके मातापिता उनके लिये अत्यंत व्याकुल रहते थे, पर महाकाल की उपासना से जब उन्हें पता चला कि वे रतनपुरी में राज करते हैं तो उनको पाने की उत्कट अभिलाषा रखते हुए भी संतोष कर चुप रह गए। इधर जब दूत उनके पास पहुँचा तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उसको अनेक पारितोषिक तथा उपायन देकर प्रेमलता और प्रेमविलास को यौतनपुर आने का संदेश भेजा। दोनों प्रेमी अपने घर आए और मातापिता से मिलकर आनंदित हुए। दोनों का पुनः विधिवत् विवाह किया गया। इस प्रकार कुछ दिन मातापिता के पास रहकर वे दोनों फिर अपनी राजधानी को लौट गए।

ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १६६३ है। इसकी प्रस्तुत प्रतिलिपि राजपूताने के प्रसिद्ध लेखक श्री अगरचंद नाहटा ने संवत् १९९९ वि० में करके, हिंदी-साहित्य सम्मेलन को दे दी थी। यह संवत् १८०६ की लिखी प्रति की नकल है। ग्रंथ के अनुसार रचयिता लाहौर के निवासी थे और सिंधु नदी से लगे हुए प्रदेश के अंतर्गत जलालपुर के राजा सहिवाज के आश्रय में रहते थे। ये नाहर वंश के थे। राजा सहिवाज को सइदा का सहिवाज खाँ भी कहा गया है—

संवत् सोलह सै त्रैयानुं। भाद्रमास सुकल पख जानुं॥
पंचमि चौथ तिथै संलगना। दिन रविवार परम रस मगना॥७८॥
सिंध नदी कै कंठ पइ, मेवासी चो फेर।
राजा बली पराक्रमी, कोऊ न सकै घेर॥७९॥
पूरा कोट कटक पुनि पूरा। परसिरदार गाऊ का सूरा॥
मसलत मंत्र बहुत सुजाने। मिले खान सुलतान पिछाने॥
सइदा कौ सहिवाजखाँ, बइरी सिर कलवत्र।
जानत नाही जेहली, सब अवान कौ छत्र॥८१॥
रइयत बहुत रहत सुराजी। मुसलमान सुखास निमाजी॥
चोर जार देख्या न सुहावै। बहुत दिलासा लोक बसावै॥८२॥
बसै अडोल जलालपुर, राजा थिरु सहिबाज।
रइयत सकल बसै सुखी, जब लगि थिरहू राज॥८३॥

तहाँ बसै जटमल लाहोरी। करनै कथा सुमति तसु दोरी॥
नाहरवंस न कुछ सो जानै। जो सरसती कहै सो आनै॥८४॥

अन्य परिचय नहीं दिया है। नाहटा जी ने प्रति और कवि के विषय में इस प्रकार लिखा है—

(१) प्रतिपरिचय—हमारे संग्रह की ८ पत्रों वाली प्रति से प्रस्तुत प्रति नकल करवाई गई है। प्रशस्ति (पुष्पिका) से स्पष्ट है कि प्रति संवत् १८०८ की वैशाख बदी ७ को मरोठ में स्वरूपचंद ने लिखी है। प्रस्तुत ग्रंथ की एक और प्रति हमारे संग्रह में है।

(२) कविपरिचय—आप (जटमल नाहर) नाहरगोत्रीय ओशवाल जैन श्रावक थे। इनकी गोराबादल की बात हिंदी-संसार में काफी प्रसिद्धि-प्राप्त है आप अच्छे कवि थे। अभी तक हमारी खोज से निम्नोक्त ग्रंथ प्राप्त हुए हैं एवं हमारे संग्रह में हैं। ये अपने को लाहोरी लिखते हैं, अतः ये लाहोर-निवासी थे। आपके पिता का नाम धर्मसी था।

पुस्तकों के नाम—(१) गोराबादल की बात-संवत् १६८६ भादवा ११ सुंवली; (२) प्रेमविलास प्रेमलता चौपाई—संवत् १६९३ भा० सु० ४।५ रवि; (३) जटमल बावनी; (४) लाहोर गजल; (५) सुंदरी (स्त्री) गजल; (६) झिंगोर गजल; (७) फुटकर सवैयादि।

रचयिता की गोराबादल की कथा का उल्लेख खोज रिपोर्ट (१—४८), (३८-७१) में हो चुका है। उनमें इनका जो परिचय मिला, वह ठीक नहीं।

देवीदास

इनकी "सोमवंश की वंशावली" (याज्ञिक संग्रह, ना० प्र० सभा काशी) ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। संवत् ११०३ वि० (फागुन तीज रविवार) की एक ऐतिहासिक घटना का इसमें उल्लेख है। उस समय इस वंश के राजा विजयपाल थे जो बड़े प्रसिद्ध हुए और जिन्होंने विजयगढ़ दुर्ग का निर्माण कराया। गुजरात, महाराष्ट्र, तैलंग, भोट और नैपाल के राजाओं को इन्होंने जीत लिया था। कंदहार के बूबकसाहि से इनकी दस मास तक घोर लड़ाई हुई जिसमें ग्यारह हजार यवन (तिमिर) मारे गए थे। परंतु इस लड़ाई का परिणाम भारत के लिये अच्छा नहीं हुआ। दिन-प्रति-दिन हिंदुओं का ह्रास होता गया और यवनों की शक्ति बढ़ती गई। कवि के शब्दों में इसका उल्लेख इस प्रकार है--

तब तैं भई देस तुरकमई। भइ घोर मसीति तु बाँग दई ॥
कलमा पढि पाँच नवाज करी। भुवपाल बिजै बिनु गाइ परी ॥
हिंदुवान घट्यौ तुरकान बढ्यौ। सबको सब भांति निपोतु कढ्यौ ॥

इस घटना के अतिरिक्त बहुत सी पौराणिक कथाएँ भी दी हैं। जैसे कलियुग का प्रवेश और व्यासदेव जी का अपने शिष्य वैशंपायन को सब पुराण देना तथा श्रीकृष्ण-वंश का वर्णन करते रहने का उपदेश देकर गुप्त हो जाना आदि।

सोमवंश के राजाओं के नामों की तालिका विषय के खाने में दी हुई है। ग्रंथ में रचनाकाल का उल्लेख नहीं। लिपिकाल संवत् १८३१ वि० है।

रचयिता ने अपना और कोई वृत्त न देकर केवल आश्रयदाता रतनपाल (करौली नरेश) का उल्लेख किया है। वे सोमवंशी थे। अतः इस आधार पर ये पिछली खोज-रिपोर्ट (६-२२०; १७-४७; २३-६६; २६-६८; दि० ३१-२५; ०२-१; २-८२; ६-२७) में उल्लिखित देवीदास ही हैं। उक्त रिपोर्टों में आए प्रेमरत्नाकर और "राजनीतिरा कवित्त" इन्हीं की रचनाएँ हैं।

भीम

इन्होंने संवत् १५५० में "डँगवेपुराण" (पता–दे० पृ० ४ टि० ३) की रचना की। यह महाभारतांतर्गत डंगवे-कथा का अनुवाद है। इसकी प्रस्तुत प्रति में लिपिकाल संवत् १७७७ वि० है।

रचयिता ने अपना विस्तृत विवरण दिया है, पर ग्रंथ कैथी लिपि में अत्यंत अशुद्ध लिखा रहने के कारण ठीक ठीक पढ़ा नहीं जाता। फिर भी, यह अंश जैसा कुछ पढ़ा जा सका, उद्धृत किया जाता है—

संवत पंद्रह से पचास जब भएऊ। ठुमुप नम संमत चलि गएऊ ॥
सावन सुकुल संतमी अइ। डंगवे कथ भीम सुनई ॥
कवन नग्रं कैसनो ठाऊ। कैन देस कैन से गाऊ ॥
जहए भए कवीसर विचरा। तह वसंत है कौन भूअर ॥
पुहुमी धर्म प्रन एक देसा। वसै लोग त्रीमल रेह ॥
× × ×
नसै कवी दोसन को देही। जो कवी अपन नाउ न लेइ ॥
कवीत तहव भै उपपती। कवन नग्रं कैन सो जती ॥

नग्र अमर सब वै रे कहा। वसुक इंद्रदेव तीस लहा ॥
जती के कएथ करन कुवेरु। महीमत ही कलीनेम अचरु ॥
तसुत नौ रतन वर बीरू। अती प्रचंड नीक सुसरीर ॥
मत मतंग बीरू मह दीनह। तब तेनह सब गवरह लीन्ह ॥
तेही कुल भीम बरियरा। वैरी बुधी बहु वैसरा ॥
कहै चहै कछु कथ सुभउ। भरथ कथ डंगवै गउ ॥
चह उरवं फीरी आवे सोहइ। सोइ प्रीती कंठमन लइ ॥

जान पड़ता है कि रचयिता अमर नगर के निवासी और वसुक इंद्रदेव कायस्थ के पुत्र नौरतन के कुल में उत्पन्न हुए थे। संभवतः ये खोज रिपोर्ट (२०-१६)में उल्लिखित महाभारत 'द्रोणपर्व' के रचयिता भीम हैं, क्योंकि दोनों ग्रंथ महाभारत से ही संबंध रखते हैं और भाषा भी दोनों की एक ही है। अतः इनका एक ही रचयिता द्वारा रचा जाना संभव है।

रसरासि (रामनारायण)

"रसिकपचीसी" (ना० प्र० सभा, काशी) के ये रचयिता हैं। ग्रंथ में गोपी-उद्धव संवाद वर्णित है। साहित्यिक दृष्टि से रचना सरस और सुंदर है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं।

रचयिता जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे जिनकी आज्ञा से इन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की। खोज रिपोर्ट (१—६३) में इनकी 'कवित्त रत्नमालिका' का उल्लेख है जिसके अनुसार इनका नाम रामनारायण था और ये जयपुर-निवासी ब्राह्मण, रामानुज-संप्रदाय के अनुयायी थे तथा जयपुर-नरेश महाराज प्रतापसिंह के दीवान जीवरखसिंह के आश्रित थे।

इनकी प्रस्तुत रचना का उल्लेख राजस्थान की "हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज" (प्रथम भाग, पृष्ठ १०६) में भी है।

प्रस्तुत ग्रंथ से इनका एक कवित्त दिया जाता है—

ऊधौ कहि को है जदुनाथ द्वारिका कौ नाथ कौन वसुदेव कौन पूत सुखदाई है।
कौन है निरंजन अखिल अविनासी कौन ब्रह्महू कहावै कौन जाकी जोति छाई है।
इनसौं हमारी कहौ कासों पहचानि जानि याते रसरासि बातें मन में न भाई है।
प्रीतम हमारौ मोर मुकुट लकुट वारौ नंद कौ दुलारौ स्याम सुंदर कन्हाई है ॥१४॥

लखनसेनी

इस त्रिवर्षी में इनके "हरिचरित्र विराट पर्व"[13] के विवरण लिए गए हैं जो महाभारत के विराट पर्व का हिंदी पद्यानुवाद है। रचनाकाल संवत् १४८१ (?) और लिपिकाल संवत् १८८७ है।

रचयिता का उल्लेख "महाभारत भाषा" के साथ पिछली खोज रिपोर्ट (६—१६८) में हो चुका है। परंतु न तो उसमें इनका वृत्त ही है और न समय ही। अपना वृत्त इन्होंने विस्तृत रूप से दिया है। कुछ कवियों, यथा जयदेव, घघ, विद्यापति, बैजलदास आदि का उल्लेख भी है तथा तत्कालीन देशकाल की परिस्थिति के संबंध में भी ऐतिहासिक बातें दी हैं। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह विवरण ठीक ठीक स्पष्ट नहीं होता। इसका कारण ग्रंथ की प्राचीनता ही है। लिपिकारों की असावधानी और उनकी अयोग्यता के कारण इतने दीर्घ समय से ग्रंथ की प्रतिलिपि होते रहने से अशुद्धियाँ हो जाना असंभव नहीं। परंतु जब तक कोई शुद्ध और प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती तब तक इसी से संतोष करना पड़ता है। आशा है, सावधानी से अध्ययन करने पर कुछ काम की बातें ज्ञात हो सकेंगी। विवरण का सार इस प्रकार है—

जौनपुर का राजा (बादशाह) बीराहीमसाहि (इब्राहीम शाह) बड़ा शक्तिशाली था। उस समय गुणियों का अत्यंत ह्रास हो गया था। यह देख कवि बैजल दासराइ (?) के पास गया और प्रस्तुत ग्रंथ लिखना आरंभ किया। इसके पश्चात् 'सखाराजा' तथा डोलेस्वर (?) के अधिपति अनुकाराम और उसके पुत्र लखनकुमार का उल्लेख है। ये जब कवि-मंडली में जाने लगे तो बड़े बड़े कवि इनकी प्रतिभा के सामने लज्जित होने लगे। जयदेव, घध और विद्यापति उठ चुके थे। उस समय देश का (संभवतः जहाँ कवि का निवास था) घोर पतन हो गया था। अच्छे अच्छे राजाओं और उनके आश्रय में रहनेवाले गुणी जनों के न रहने से अधम श्रेणी के मनुष्यों का बाहुल्य होता जा रहा था। अतः जन-परिजन सहित कवि ने वह देश छोड़ दिया, पर जहाँ गया वहाँ भी वही दुर्दशा थी। भोंदू महंत कान फूँकते थे और सुंदर कामों को छोड़ बुरे काम करते थे। कपटी धर्माधिकारी

१३—पता श्री शिवबरनसिंह रघुनाथसिंह, ग्राम समोगरा, डा० नैनी, जिला इलाहाबाद।

बने हुए थे। खोटे वैद्य व्याधि की पहचान तक नहीं कर सकते थे। हाथी बँधे बँधे भूख से मरते थे और गदहों की यत्नपूर्वक सेवा टहल होती थी। चंदन और आम के वृक्ष काटकर लोग करील और बबूल लगाते थे। कोकिल हंस और मंजार (बिल्ली) मारकर काक का पालन करते थे। सारिका का पंख उखड़वाते थे और मुर्गियों का पोषण करते थे। कवि उस देश में पहुँचा जहाँ लोग उधार लेकर खाते थे।

चौसा नगर प्रसिद्ध था, जहाँ गोरखनाथ का रामराज था। वहाँ के नृपति बड़नंदन दूसरे राम थे जिसने गंगा के किनारे शत्रुओं को बुरी तरह परास्त किया था। उसी के अनुरूप उसका पुत्र पूरणमल भी था।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि उस समय हिंदू समाज और हिंदू संस्कृति का बहुत पतन हो गया था तथा देश में चारों ओर मुसलमानी आचार-विचार फैल रहा था। कवि ने 'थव' का उल्लेख किया है जिससे यह जिज्ञासा होती है कि ये प्रसिद्ध 'बाघ' तो नहीं हैं? बैजलदास राइ और अनुकाराम (डीलेस्वर) का निश्चित विवरण अप्राप्त है। ग्रंथ ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

चौपाई

बादसाहि जे वीराहिमसाही। राज करहि महि मंडल माही॥
आपुन महाबली पुहमी धावै। जउनपुर मह छत्र चलावै॥
संवत चौदह सइ गुकासी। लषनसेनी कवि कथा प्रगसी॥
गुनी जन सब अधीर भैउ। बैजलदास राइ पह गएउ॥

दोहा

बैजलदास मन हरषीत, ताहीमरावै जीव।
लषनसेनि कवि भाषा, कथा बैरठ जे कीव॥

× × ×

कैसे मेखउ अछर कै पाती। सरवार राजा कइ जाती॥
हंसन पति होइ छन छन बाका। महवेलाभ भए नीहलंका॥
अछर सुनत सुन्य सुधी काढा। अम्रती बोल बचन सो बाढा॥

दोहा

नगहि चहि नगसरी पंडित रहै सीर धुनी।
छलै बैल सब होषै लषनसेनी कवि गुनी॥

डांलेस्वर अनुकाराम । तेजरासि कुल राजा धंम ।
तासु तनै जे लषन कुमार । दुरजन द्रवन सींव करीवार ॥

दोहा

कंठे वसै सुरसती, हीरदै वसहि गनेस ।
लषनसेनी तहनै बसे, धन्य धन्य सो देस ॥ ५ ॥

लषनसेनी कविजन में आइ । बड़ बड़ कविता गए लजाइ ॥
गए धर्म औ सतजुग राजा । देवीपुर गए बली के काजा ॥
गए कीती षनसेनि नरेसा । भोजपुर गए देव गनेसा ॥
जैदेव चले सर्ग की वाटा । औ गए चत्र सुरपति भाटा ॥
नगर नरिंद्र जो गए उनारी । वांद्यावति कइ गइ लचारी ॥
अत्रित कुंड नग्र जे थहाइ । त्रीधनी कुंड नग्र अब गहइ ॥
तेन्ह पापीन्ह कह षोज उठाऊ । जे नहीं लीन जन्म भरि नाऊ ॥

दोहा

तेहि पापी तह राषीए, जेई हरिनाम न लीन ।
अछर तीनीसा जीव करि, भ्रम होइ दीन दीन्ह ॥

जन परिजन छड़ि सो देसा । जहव उपमवन वसै नरेसा ॥
भोदु महंथ जे लागे काना । काज छांड़ि जे अकाजै जाना ॥
कपटी लोग सब मे धरमाधी । षोट वइर नहि चीन्है वीयाधी ॥
कुंजल बाँधै भुषन मरई । आदर सो षर सेइ चराइ ॥
चंदन काटि करील जे लावा । आव काटि कइ बबुर बोवावा ॥
कोकिल हंस मंजारही मारी । बहुत जतन कागहि प्रतिपाली ॥

दोहा

सारीव पंष उपरिव पालै तमचुर जग संसार ।
लषनसेनी ताहने वसै काढी जो पाही उधारि ॥

चौपाइ

चौसा नगर जगत परमीधा । रामराज तह गोरष सीधा ॥
जैजै कहि जवा वीग्रह चढ़ाइ । कांपै सेज (सेस ?) धरनी लरषरइ ॥
प्रीथीमी वडनंदन नरनाहा । दुसर रघुपति उपजे ताहा ॥

चारी षानी चौरासी भीरा। मरेउ सबै गंगा के तीरा ॥
जेकर पुत्र जे पुरनमाला। अरि के हीरदै महाबलसाला ॥

दोहा

साठी गाइ बांधी चरु पुरनमल के ढाट।
कौतुक कीन सुरस कवी बीवीध कथा बैंराट ॥

प्रस्तुत विवरणिका में संख्या ३६८ के रचयिता भी यही लखनसेनि कवि जान पड़ते हैं।

विश्वनाथसिंह

इनका "भाषा भक्तचंद्रिका" (दुदन खुदन, अमेठी) नामक एक उत्तम काव्य-ग्रंथ मिला है जिसमें गोपी-उद्धव संवाद वर्णित है। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है। रचनाकाल लिपिकाल क्रमशः १८६४ और १६०५ वि० हैं।

रचयिता का कोई विवरण नहीं मिलता। संभव है ये रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह (राज्यकाल संवत १८६०–१६११) हों। इनके लिये देखिए, खोज-रिपोर्ट (०१—४३; १—६ ; ३—२२ ; ६—३२८)।

यहाँ इनकी एक कविता दीजाती है—

लागत मधु मासै कांम जु ग्रासै रहत उदासै सब गोपी।
तिय पतिहि निहारै करत सिंगारै माग सवारै दुति वोपी ॥
फूली बन वेली सुभग चमेली लषि अलबेली सुष सरसैं।
हरि हैं न सहायक इत रतिनायक बहु दुषदायक सर बरसैं ॥६७॥

वृंद कवि

इनका "यमकालंकार सतसैया" या "वृंदविनोद" (पता पृ० १७ टि० ६ में) नाम से एक उत्तम ग्रंथ मिला है जिसमें यमकालंकार के अनेक भेद तथा उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगों का वर्णन है। इसका रचनाकाल अस्पष्ट है—

गुन³ रस⁶ सुष (ऋषि) अमृत वरस, वरस सुकुल नभ मास।
दूज सुकवि कवि वृंद ए, दोहा किए प्रकास ॥

यह संवत् १७६३ जान पड़ता है। लिपिकाल अज्ञात है। खोज रिपोर्ट (४१–२५६ ग) में इस ग्रंथ का उल्लेख हो गया है।

पिछली खोज रिपोर्टों में रचयिता के कई ग्रंथ आ चुके हैं (द्रष्टव्य खोज रिपोर्ट ४१-२५६; ६-३३०; २३-४४६ और ००-१२१; २-६; १७-३३०)। उक्त रिपोर्टों में इनका विवरण इस प्रकार है—

"ये सेवक जाति के ब्राह्मण, मेड़ता जोधपुर-निवासी, संवत् १७४३-१७६१ के लगभग वर्तमान और कृष्णगढ-नरेश महाराज सावंतसिंह (नागरीदास) के पिता महाराज राजसिंह के गुरु थे। संवत् १७६१ में ये बादशाह औरंगजेब की फौज के साथ ढाके तक गए थे। इनके वंशज जयलाल कवि कृष्णगढ़ में वर्तमान हैं।"

सोमनाथ या शशिनाथ

ये हिंदी के सुप्रसिद्ध कवियों में से हैं। इनकी कई रचनाएँ पहले मिल चुकी हैं; (द्रष्टव्य खोज रिपोर्ट ४-४७; ०-२६८; १७-१७६; २३-३६६; पं० २२-१०३)। उक्त रिपोर्टों के अनुसार ये माथुर चौबे, नीलकंठ के पुत्र, संवत् १८०६ के लगभग वर्तमान और भरतपुर के महाराजकुमार प्रतापसिंह के आश्रित थे। इस बार इनकी दो नवीन रचनाएँ "शृंगारविलास" और "प्रेमपचीसी" नाम से और मिली हैं। रचनाकाल, लिपिकाल और विषय की दृष्टि से इनका विवरण इस प्रकार है—

शृंगार विलास—रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात। विषय नायिकाभेद। इसमें भावों को स्पष्ट करने के लिये कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ यहाँ एक कवित्त दिया जाता है जिसका भाव गद्य में स्पष्ट किया गया है—

> प्रेमरंगराते परजंक पै हसत दोऊ अंक भरि लेत करि विरह निवारनें।
> कबहूँ विनोद सों विलोकत उमंग संगहीं सरस किये भूषन सँवारनें।
> "सोमनाथ" रीझि पियें अधर पियूष एसी शोभ कित पाई रति मदन गँवारनें।
> छाई अजों नेंननि निकाई आजु दंपति की हेरति हिराई री किए में प्रान वारनें।

इहाँ दंपति आलंबन विभाव ॥ भूषन सुंदरता उद्दीपन विभाव ॥ विलोकिवो अरु अधरपान करिबौ अनुभाव ॥ विनोद सब्द करि हर्ष संचारी भाव ॥ इन सबसे रति स्थायी व्यंग तातें सिंगार रस पूर्ण ॥

प्रस्तुत प्रति स्वयं रचयिता के हाथ की लिखी है। इसमें जहाँ-तहाँ काट-छाँट की गई है और प्रत्येक अध्याय (उल्लास) की पुष्पिका में त्रुटियों का भी उल्लेख है।

(२) प्रेमपच्चीसी—इसके भी रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात हैं। विषय श्रीकृष्ण-भक्ति है। यह पंजाबी भाषा में रची गई है जिसमें फारसी शब्दों का भी मिश्रण है और खड़ी बोली का भी प्रयोग है। इसमें कवि के सोमनाथ और शशिनाथ दोनों नाम पाए जाते हैं।

प्रस्तुत त्रिवर्षी में इस कवि के संबंध की खोज विशेष महत्त्व रखती है। 'शृंगारविलास' की प्रति स्वयं इनके हाथ की लिखी प्रतीत होती है; इस विवरणिका में संख्या २२० पर उल्लिखित प्राणनाथ सोती कृत "जेहली जवाहर" की नकल भी इन्होंने ही की है। इसकी लिपि का प्रस्तुत ग्रंथ की लिपि के साथ मिलान करने से स्पष्ट पता चलता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की लिखी हुई हैं। दोनों की लिपियाँ मिलती हैं और दोनों में अक्षरों के ऊपर अनुस्वार लगाने में एकता पाई जाती है। शृंगारविलास में इनके गद्य का नमूना ऊपर दिया गया है। प्रेमपच्चीसी इनके पंजाबी भाषा के ज्ञान का प्रमाण है। प्रसन्नता की बात है कि ये दोनों रचनाएँ सभा के लिये प्राप्त हो गई हैं और आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक-संग्रह में सुरक्षित हैं।

प्रेमपच्चीसी से दो छंद दिए जाते हैं—

> क्या किति तकसीर तुसांडी नही मुखउ दिषलावै है।
> राति दिहां विनु तैंडी चरचा मुभनु और न भावै है।
> वेदरदी महबुब गीरदे क्यौ जरदगी करदा है।
> सोमनाथ नही मै कैसा दील अंदरदा परदा है ॥२॥
>
> × × ×
>
> काम नही यह सबदा कोइलि नीरवाहै टाडा है।
> साहिब दे दरसन दा दरसन नही ठोदा चाटा है।
> कहि ससिनाथ सुनो वेदाए नहचै दिलदा साटा है।
> नही किसीदा आठा तौ भी इसक सेहदा काटा है ॥२६॥

नीचे विवरणिका के परिशिष्टों की सूची दी जाती है, जो स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिए जा सकते—

परिशिष्ट १—ग्रंथकारों पर टिप्पणियाँ।

,, २—ग्रंथों के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि और कहाँ वर्तमान हैं—आदि विवरण)।

,, ३—उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं के विवरणपत्र (उद्धरण, विषय, लिपि, और कहाँ वर्तमान हैं आदि विवरण) जिनके रचयिता अज्ञात हैं।

,, ४—(क) परिशिष्ट १ में आए उन कवियों की नामावली जो आज तक अज्ञात थे।

(ख) परिशिष्ट १ और २ में आए उन ग्रंथों की नामावली जो खोज में मिले हैं।

(ग) काव्य-संग्रहों में आए उन कवियों की नामावली जिनका पता आज तक न था।

,, ५—ग्रंथकार और उनके आश्रयदाताओं की सूची। अंत में ग्रंथकारों और ग्रंथों की नामानुक्रमणिकाएँ।*

---

* इस त्रैवार्षिक खोज-विवरण की सामग्री खोज-विभाग के अन्वेषक श्री दौलतराम जुयाल ने प्रस्तुत की है, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद।

—निरीक्षक।

विमर्श

साहित्य-निर्माण और भाषा का रूप

हिंदी के विद्वानों तथा हिंदीवर्धिनी संस्थाओं के समक्ष संप्रति दो प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय हैं। पहले प्रश्न का संबंध साहित्य-निर्माण के कार्य से है और दूसरे का भाषा के स्वरूप से।

१

जब भारतीय संविधान परिषद् ने हिंदी को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये पंद्रह वर्ष की अवधि बाँध दी तब हिंदी-संसार में बहुत खलबली मची, बड़ा रोष प्रकट किया गया और कितनी कुछ बातें नहीं कही गईं। मैं स्वयं उन व्यक्तियों में हूँ जो यह मानते हैं कि यदि हिंदी आज राजभाषा स्वीकृत हो तो कल से ही उस रूप में उसका व्यवहार होना उचित है। कठिनाइयों का बहाना मैं मानने को तैयार नहीं। अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना और चाहे जो भी कठिनाइयाँ और बाधाएँ आएँ उन्हें कुचलना सरकार का और हमारा कर्तव्य है, इस कार्य में भले ही कुछ समय लग जाय। परंतु प्रश्न यह है कि जब पंद्रह वर्ष की अवधि स्वीकृत हो ही गई, तो उसे भी सार्थक बनाने के लिये हमने पिछले डेढ़ वर्षों में क्या किया? शायद हम भूल जाते हैं कि संविधान में इतना अवकाश तो रक्खा ही गया है कि यदि उचित प्रयत्न किया जाय तो पंद्रह वर्ष की अवधि पाँच वा दस वर्ष निकटतर खींच लाई जा सकती है, अन्यथा पंद्रह वर्ष के बाद भी अंग्रेजी का हटना निश्चित नहीं। यदि वैसी स्थिति आ जाय तो क्या उसके लिये सरकार को जी भरकर कोस लेने से ही हम अपने कर्तव्य से मुक्त हो जायँगे?

इधर डेढ़ वर्षों में जितनी बातें हुई हैं उनसे कार्य के लिये चिंता और उत्सुकता तो अवश्य प्रकट होती है, परंतु जान पड़ता है अभी यही नहीं तै हो पा रहा है कि कार्य कहाँ से और कैसे आरंभ किया जाय। आगे जितना विशाल कार्य

पड़ा हुआ है, मैं समझता हूँ वह अकेले किसी विद्वान् या संस्था के मान का नहीं। परंतु बाँटकर काम करने के लिये भी पहले यह निश्चित करना आवश्यक है कि कितनी अवधि में कितना कार्य कर लेना आवश्यक है और कौन सा कार्य तत्काल आवश्यक है तथा कौन कौन सा कितने दिन बाद। इसका निश्चय होते ही व्यक्ति हों या संस्थाएँ, अपनी अपनी शक्ति के अनुसार काम में जुट जायँ। तभी हम निश्चित अवधि के भीतर हिंदी को ऐसा संपन्न बना सकेंगे कि रसास्वादन, ज्ञानार्जन और व्यवहार, सभी दृष्टियों से उसका अध्ययन, अनुशीलन और उपयोग अनिवार्य हो जाय।

संविधान ने हिंदी की अभिवृद्धि का दायित्व संघ-सरकार पर डाला है। उसके उद्योग की प्रगति हमारे सामने है। परंतु उसके भरोसे चुपचाप बैठ रहना कहाँ की बुद्धिमानी है? क्या आज तक हिंदी किसी सरकार की छाया में ही फूली-फली है? क्या अपने लोकबल और प्रकृत गुणों के कारण ही वह सरकार द्वारा मान्य नहीं हुई है? हाँ, शिकायत करनेवालों की इस शिकायत में अवश्य दम है कि आधुनिक ज्ञान-पिपासा को शांत करने योग्य साहित्य की हिंदी में कमी है। यही कमी हमें पूरी करनी है। देश में योग्य लेखकों और प्रकाशकों की कमी नहीं है, पर लेखक के सामने प्रकाशन का और प्रकाशक के सामने विक्रय का आर्थिक प्रश्न है। यह प्रश्न हिंदीवर्धिनी संस्थाओं द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। वे कार्य आरंभ करें तो जनता और सरकार दोनों ही सहायता देंगी। काशी नागरीप्रचारिणी सभा, जिसने हिंदीशब्दसागर तथा अन्य अनेक व्ययसाध्य ग्रंथों का प्रकाशन किया, इसका प्रमाण है।

उचित तो यह हो कि हिंदी की सभी समर्थ संस्थाएँ मिलकर भार उठाएँ। पर यदि इसमें कठिनाई या अधिक विलंब हो तो जो आपस में मिल सकें वे ही संस्थाएँ अथवा कोई भी संस्था अकेली ही भिन्न-भिन्न विषयों के चुने हुए अधिकारी विद्वानों को साहित्य-निर्माण की योजना बनाने के लिये आमंत्रित करे और छोटे पैमाने पर ही एक योजना स्वीकार कर अपने सामर्थ्य के अनुसार उन विद्वानों से ग्रंथ लिखने का अनुरोध करे तथा उन ग्रंथों को प्रकाशित करे। डेढ़ वर्ष बीत चुके हैं, दूसरा वर्ष समाप्त होते होते योजना के अनुसार कार्य आरंभ किया जा सकता है।

एक बात और। यह समझना निरा भ्रम है कि भिन्न भिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्द गढ़ लेने से ही साहित्य संपन्न हो जायगा, अथवा उसके बाद ही

ग्रंथ-निर्माण हो सकेगा। मौलिक ग्रंथों के निर्माण या अनुवाद अथवा ज्ञान-संकलन के कार्य के साथ साथ ही आवश्यक शब्दों का निर्माण और चयन स्वाभाविक और उचित है। तभी शब्द सार्थक होंगे और भाषा सशक्त और प्रवाहयुक्त होगी। पहले कोश बनाकर ग्रंथ-निर्माण करने से या तो भाषा पंगु और असमर्थ होगी अथवा अधिकांश शब्दों की ही अकाल अंत्येष्टि देखनी पड़ेगी। भूलना न चाहिए कि भाषा व्यवहार से ही बनती हैं, कोश या व्याकरण से नहीं।

२

दूसरे प्रश्न का संबंध भाषा के रूप से है। इधर संस्कृतनिष्ठ हिंदी के नाम पर बड़ा भ्रम फैल रहा है जो अनर्थकारी है। यदि हिंदी के लिये संस्कृतनिष्ठता का कोई अर्थ अभीष्ट है तो यही कि संस्कृत हमारे देश की प्राचीन गौरवमयी संपन्न भाषा है, हमारे जीवन और संस्कृति की अमूल्य निधि उसमें सुरक्षित है, इस नाते हमारी वर्तमान भाषा हिंदी आवश्यकतानुसार उसकी शक्ति और भांडार का उपयोग करने की अधिकारिणी है। हमारे उपयोग की जो वस्तु उसमें मिलेगी वह हम अवश्य लेंगे। हम अपने पूर्वजों की ज्ञानराशि और भाव-परंपरा भी उसमें से ग्रहण करेंगे। परंतु यदि 'संस्कृतनिष्ठ' का यह अभिप्राय हो कि हिंदी संस्कृत कोश और व्याकरण के साथ जकड़कर बाँध दी जाय और हर बात में संस्कृत की दुहाई देकर उसकी स्वतंत्र प्रवृत्ति कुंठित कर दी जाय एवं गति अवरुद्ध, तो ऐसी संस्कृतनिष्ठता अविलंब त्याज्य है। हिंदी के पास अपनी शक्ति है, अपना स्वतंत्र मार्ग है। उसकी शक्ति उसे सीधे लोक-व्यवहार से मिली है, किसी भाषा से उधार ली हुई नहीं है। इसी के कारण वह देश में मान्य हुई है। अब उसे लोक से पृथक् कर संस्कृत व्याकरण के साथ बाँधना उसकी शक्ति तथा लोक के अधिकार पर प्रहार करना होगा।

हमारी भाषा में न तो रूप में और न अर्थ में संस्कृत की अनुयायिता का स्वभाव है। हिंदी में जो हजारों शब्द तद्भव रूप में प्रसिद्ध हैं उनका संस्कृत से रूप-परिवर्तन हिंदी ने अपनी प्रकृति और अपने नियमों के अनुसार कर लिया है। पर प्रश्न केवल रूप तक सीमित नहीं, कितने ही तत्सम शब्दों का अर्थ भी इसने बदल डाला है। हिंदी में 'मोह' का अर्थ 'अनुरक्ति, 'आसक्ति' है, जब कि इसका संस्कृत अर्थ 'मूढ़ता' है। 'संतोष' हिंदी में 'सब्र' के अर्थ में चलता है—नहिं संतोष तो पुनि कछु कहऊ। परंतु इसका मूल अर्थ है 'सम्यक् रूप से तुष्टि', जिससे अनुत्तम'

सुख मिलता है; भीतर ही भीतर जलना नहीं (जनि रिस रोकि दुसह दुख सहऊ)।

स्वयं संस्कृत ने भी अपनी पूर्ववर्तिनी वैदिक भाषा की बेड़ी नहीं पहनी। वही परंपरा संस्कृत के संबंध में हिंदी ने ग्रहण की है। संस्कृत ने वैदिक भाषा के नियमों का क्या शब्दों के रूप में और क्या विभक्तियों में पद पद पर उपमर्द किया है। अन्यथा वह वैदिक भाषा से स्वतंत्र कैसे होती? वह तो वैदिक भाषा ही बनी रह जाती। ऐसी दशा में हिंदी ने ही क्या अपराध किया है कि उसे पाणिनीय नियमों की बेड़ी पहनाई जाय?

वैदिक भाषा का एक स्वभाव था कि उसमें मित्रावरुण, विश्वावसु, विश्वामित्र, वैश्वानर सरीखे समासों में पहले पद का अकार आकार हो जाता था। संस्कृत में वह स्वभाव नहीं आया और पाणिनि को 'मित्रे चर्षौ' (६।३।१३०) सरीखा सूत्र बनाना पड़ा। इस संबंध में एक कथा भी वैयाकरणों में चलती है कि विश्वामित्र पाणिनि के पूर्ववर्ती सभी व्याकरणकारों से अपने नाम का अर्थ पूछा करते और वे स्वभावतः उन्हें 'विश्व का अमित्र' बताया करते थे। इसपर महर्षि उनके व्याकरण को न चलने का शाप दे दिया करते। जब पाणिनि की पारी आई तो उन्होंने अपना सूत्र सुना दिया जिससे 'विश्व का मित्र' अर्थ निकलने के कारण उन्होंने अपने व्याकरण की अमरता का वरदान पाया।

वैदिक नियमों को जाने दीजिए, पाणिनि के नियमों से भी संस्कृत के सभी शब्द सिद्ध हों सो नहीं। कुछ 'निपात' शब्द हैं जिनके लिये अपवाद रूप पाणिनि को अलग सूत्र बनाने पड़े हैं। 'ज़ुबाँदाँ' लोगों के मुँह से जो शब्द हठात् गिर या निकल पड़ते हैं उनका रूप जैसा भी हो, मान्य होता है। यही चीज निपात है। निपात और उक्त 'पड़ना' दोनों में ही 'पत्' (गिरना, पड़ना) धातु है। यदि संस्कृत सरीखी माँजी-खरादी जकड़बंद भाषा तक में निपात ग्राह्य हैं तो हिंदी ने क्या दोष किया है कि उसी के पल्लवन पर कुठाराघात किया जाय? संस्कृत की भाँति हमारे ज़ुबाँदानों के प्रयोग भी कम से कम निपात तो हैं ही। आजकल हिंदी की दशा मैनाक सरीखी हो रही है। उसने तनिक सिर ऊँचा किया कि उसके सहस्राक्ष कृपालुओं ने वज्र चलाया!

'पुनीत' शब्द को गोस्वामी जी के 'परम पुनीता' प्रयोग के बाद हम कैसे

छोड़ सकते हैं ? वह कितना भी अशुद्ध हो, फिर भी उनके प्रयोग करने से ही पुनीत हो गया है।

'राष्ट्रीय' शब्द जब 'राष्ट्रिय' रूप में हमारे सामने आता है तो इकार की ह्रस्वता के कारण उसकी कमर टूटी सी दिखाई देती है और उसका अर्थ 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' हठात् उपस्थित हो जाता है।

'उपरोक्त' शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है। किंतु केवल इस कारण हम उसे छोड़ क्यों दें ? फिर वैदिक भाषा के पंडित उसे वैदिक भाषा के अनुसार शुद्ध बतलाते हैं। हाँ, डा० रघुबीर के 'स्फट्यात' आदि की भाँति कोई भी शब्द श्रुतिमधुर न होने कारण अवश्य त्याज्य है।

'हित' शब्द तो तत्सम है न ? फिर गोस्वामी जी ने उसके जिस 'अनहित' रूप का प्रयोग किया है (हित अनहित पसु पच्छिहुँ जाना) और जो हिंदी की सभी पूरबी और पश्चिमी बोलियों में चलता है उसके लिये किस व्याकरण की दुहाई दी जा सकती है ?

जिस प्रकार जात गंगा है उसी प्रकार भाषा भी गंगा है। जो शब्द इसमें प्रवहमान हो जायँ वे शुद्ध हैं।

अपने यहाँ 'स्त्रियोपयोगी' खूब चल रहा है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इसे 'स्त्र्युपयोगी' होना चाहिए। किंतु कौन इसके उच्चारण का 'दर्द सर' मोल लेगा ?

यह लक्ष्य करने की बात है कि अपने यहाँ के भाषाशास्त्रियों ने ऐसे शब्दों को जिन्हें आज हम संस्कृत शब्द कहते हैं, 'तत्सम' नाम दिया है। उनका आत्मसम्मान उन शब्दों को उधार लिया हुआ मानने को तैयार न था। जब वे शब्द तत्सम मात्र हैं तो हम अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार उनका रूप बना सकते हैं और बनावेंगे।

—(राय) कृष्णदास

चयन

सुरुहानी का ज्वाला देवी का मंदिर

रायल एशियाटिक सोसायटी (बंबई शाखा) की पत्रिका के भाग २६, अंक १ में श्री जे०एम० ऊनवाला का बाकू के ज्वाला-मंदिर में लगे हुए शिलालेखों के विषय में एक लेख (अंग्रेजी, सचित्र) प्रकाशित हुआ है। एच० बैलेंटाइन, अलेक्जंडर ड्यमा और एक पारसी सज्जन ने उक्त मंदिर को जरथुष्ट्री अग्नि-मंदिर माना है। लेखक ने ई० १६२५ में उक्त मंदिर को स्वयं जाकर देखा था और शिलालेखों के फोटो भी प्राप्त किए थे। अपने लेख में मंदिर का आँखों देखा वर्णन करके उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि वह भारतीयों का ज्वाला देवी का मंदिर है। उक्त लेख का सारांश हिंदी में यहाँ प्रस्तुत है।

बाकू का ज्वाला-मंदिर रूसी अजरबैजान की राजधानी बाकू के पास सुरुहानी में स्थित है। रूसियों ने इस प्रांत को ई० १८२३–२४ में फतहअली शाह के समय में ईरान से जीत लिया था। यह नगर कश्यप (कास्पियन) सागर के उत्तरी तट पर उस क्षेत्र में बसा है जिसमें तैल-कूपों की प्रचुरता है। नगर में भवन आदि यूरोपीय ढंग के बने हुए हैं, पर बाहरी भाग में पुराने और लकड़ी के मकान भी हैं। एक पुरानी मसजिद भी शाह अब्बास (प्रथम) की बनवाई हुई है जिसमें मुसलमान अब भी जुमा को नमाज पढ़ते हैं।

ज्वाला-देवी का मंदिर शुद्ध ईरानी शैली पर बना है। उसके दो विभाग हैं—एक तो वह वेदिका जिसपर निरंतर ज्वाला जलती रखी जाती थी; दूसरा, उसके तीन ओर की पुजारियों और पुरोहितों के रहने की कोठरियाँ। चौथी ओर प्रवेश-द्वार था। वेदिका एक प्रांगण के बीचोबीच ऊँचे चबूतरे पर बनी हुई है। इसके ऊपर चार खंभों पर टिके हुए एक गुंबद की छाया है, सासानी 'चहारताक़' की भाँति यह चारों ओर से खुली हुई है। इस समय इसमें ज्वाला प्रज्वलित नहीं रहती, परंतु इसके नीचे बाँई ओर कई गज गैस-नल पड़े हुए हैं और एक नलखंड इसके भीतर भी है। तैलस्थलों में एकत्र हुई गैस इन नलों में से

होकर आती और निरंतर प्रज्वलित रहती थी। इस गैस का जलना कब बंद हुआ, इसका ठीक पता नहीं। किंतु कई कोठरियों के दरवाजों के ऊपर लगे शिलालेखों की तारीखों से जान पड़ता है कि ई० उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में ऐसा हुआ होगा।

कोठरियाँ नीची और तंग हैं। दीवारों पर तृणमिश्रित मिट्टी के ऊपर से गच या पेरिस-प्लास्टर का पतला पलस्तर है। किसी समय ये दीवारें भीतर की ओर धार्मिक चित्रों से अलंकृत थीं, जो अब मिट गए हैं। केवल एक कोठरी में एक दीवार पर एक हाथी और उसके सवार का चित्र विद्यमान है, यद्यपि जलवायु के कुप्रभाव से वह भी अछूता नहीं है।

शिलालेखों की संख्या सोलह है। किसी अनभिज्ञ व्यक्ति के द्वारा (क्योंकि कुछ लेख उलटे लगे हैं) ये अपने मूल स्थान से हटाकर पंद्रह कोठरियों के दरवाजों के ऊपर लगा दिए गए हैं। रूसी अजरबैजान के पुरातत्त्व विभाग द्वारा लिए गए इनके फोटो सदोष हैं, क्योंकि उनपर प्रकाश विपरीत दिशा से पड़ा है। कुछ शिलालेख चूने के कई स्तरों से ढक गए हैं। मास्को स्थित 'विदेशी संस्कृतियों से संपर्क स्थापित करनेवाली सोवियत संस्था' से लेखक को इन शिलालेखों के सोलह फोटो प्राप्त हुए हैं। तेरह लेख देवनागरी में हैं, दो गुरुमुखी में, एक फारसी में। गुरुमुखी शिलालेखों का तो पेशावर के दो सिक्ख वकीलों ने अनुवाद कर दिया है परंतु नागरी और फारसी के शिलालेखों को पूरा पूरा समझने के सारे प्रयत्न विफल हुए। डाक्टर बार्नेट के अनुसार नागरी लेख संस्कृत भाषा में नहीं, प्रत्युत किसी भारतीय देशभाषा में लिखे गए हैं। किंतु उनका भाव स्पष्ट है। सभी नागरी लेख गणेश-नमस्कार से आरंभ होते हैं, दो में 'राम जी सत' भी लिखा है। 'ज्वाला जी' के अनेक बार उल्लेख से यह अग्नि देवता या ज्वाला देवी का मंदिर निश्चित होता है। इनमें दिए गए सभी संवत् उन्नीसवीं शती के हैं, केवल एक संवत् १७७० है। गुरुमुखी के शिलालेखों में 'श्री जाप जी' के बाद कुछ सिक्ख गुरुओं और शिष्यों के नाम दिए हैं, जिन्होंने मंदिर के किसी अंश का निर्माण कराया था। लेखों का परिचय इस प्रकार है—

सं० १—लेख के शीर्ष पर एक आयत में दो उभारदार पंक्तियों में ये अभिप्राय दिए हैं—ऊपर की पंक्ति में बाएँ से दाहिने क्रमशः वृंत-पत्र-युक्त पुष्प, घंटा, सूर्य की मुखाकृति, दोहरी दंत-पंक्ति वाला कंघा, फिर पूर्ववत् पुष्प; निचली पंक्ति में

बाएँ से दाहिने क्रमशः कुछ पत्तियाँ, नीचे आधार पर रखा हुआ एक त्रिशूल, एक स्वस्तिका, फिर पूर्ववत् त्रिशूल और पत्तियाँ। आयत के नीचे उभरे हुए नागरी अक्षरों में नौ पंक्तियों का लेख है। प्रत्येक पंक्ति दूसरी से एक उभरी हुई चौड़ी पट्टी द्वारा पृथक् है। इसका समय पौष कृष्ण १५, सं० १८७३ दिया है।

सं० २—उभारदार नागरी अक्षरों की पाँच पंक्तियाँ हैं। तिथि सं० १८०२, ? कृष्णा सप्तमी है।

सं० ३—यह सात पंक्तियों का गुरुमुखी लेख है। अक्षर उभारदार हैं, पंक्तियों के बीच उभरी हुई चौड़ी पट्टियाँ हैं। लेख इस प्रकार है—

इक ओंकार सतनाम कर्ता पुरुख निर्भौ निरवैर अकाल मूर्त अजुनि सैभान गुरपरसाद जप आद सच जुगाद सच है भी सच नानक ओसी भी सच सत गुर परसाद बाबा...का चेला...धरम की जगा बनाई।

सं० ४—यह उभारदार नागरी अक्षरों में सात पंक्तियों का लेख है, परंतु प्रथम पंक्ति में 'श्री गणेशाय नमः' को छोड़ और कुछ पढ़ा नहीं जाता।

सं० ५—उभारदार नागरी अक्षरों में नौ पंक्तियाँ हैं। केवल प्रथम पंक्ति में 'ओं श्री गणेशाय नमः' और तृतीय में 'श्री ज्वालाजि' पढ़ा जाता है।

सं० ६—यह भी उभारदार नागरी अक्षरों में है। इसमें छः पंक्तियाँ हैं, पर पढ़ी नहीं गईं। संवत् ? १८०१।

सं० ७—इसमें सात पंक्तियाँ हैं और अक्षर उभरे हुए हैं। निचले कोने खिर गए हैं। प्रथम पंक्ति के प्रारंभ में स्वस्तिका है। तिथि वैशाख कृ० ८, संवत् १८३९ ? है।

सं० ८—उभरे हुए नागरी अक्षरों की छः पंक्तियाँ हैं। केवल पहली पंक्ति में 'श्री गणेशाय नमः' और पाँचवीं-छठी में 'वैसाख बद ७, संवत् १८३९' पढ़ा जाता है।

सं० ९—यह लेख सात पंक्तियों का है। अक्षर नागरी के उभारदार हैं जो बिलकुल पढ़े नहीं गए।

सं० १०—इस लेख में गुरुमुखी अक्षरों की सात पंक्तियाँ हैं। पंक्तियों के बीच मोटी विभाजक रेखा है। लेख इस प्रकार है—

इक ओंकार सतनाम कर्ता पुरुख निरभौ निरवैर अकाल मूरत अजुनी सैभान गुरु परसाद वाहे गुरु जी साहे बाबा ए दास भांगे वाले का चेला मेलाराम तिसका चेला कर्ताराम (भर्ताराम) उदासी ज्वाला में धरम की जगा बनाए गया वाहे गुरु वाहे गुरु......बुज गए।

सं० ११—इसमें छः असमान पंक्तियाँ हैं और अक्षर दूर दूर हैं। पत्थर केवल अक्षरों की रेखाओं के ही इर्दगिर्द खोदा गया है। संवत् १७७० है।

सं० १२—यह बिलकुल पढ़ा नहीं गया। पंक्तियाँ पाँच हैं और अक्षर नागरी के उभारदार हैं।

सं० १३—इसमें सात पंक्तियाँ उभारदार नागरी में हैं। परंतु इसका पत्थर मेहराब के ऊपर लगाया हुआ है और मेहराब के आकार के अनुरूप काट दिया गया है जिससे केवल ऊपर की तीन पंक्तियाँ अक्षुण्ण हैं। सं० १७७० है।

सं० १४—आठ पंक्तियाँ; उभारदार नागरी अक्षर। पढ़ा बिलकुल नहीं गया।

सं० १५—यह उभारदार फारसी अक्षरों में है और लेख सं० २ के नीचे लगा है। इसमें चार पंक्तियाँ हैं, जिनके बीच मोटी उभरी रेखाएँ हैं। समय हिजरी ११५८ है। लेखक द्वारा दिए गए इसके रोमन प्रत्यक्षर का नागरी प्रत्यक्षर इस प्रकार है—

१—आनंत जी चंद कीशदः भवन दादू-
२—जी भवान जी रसीदः अबादाक
३—भमादि नो बमंज़िले मुबारके माद गुफ़्त !
४—ख़ानए शद ज़ि वस्तामल सन ११५८।

सं० १६—इसमें उभारे हुए नागरी अक्षरों की सात पंक्तियाँ हैं जो बिलकुल नहीं पढ़ी गईं।

अंग्रेजी शिक्षितवर्ग द्वारा हिंदी की उपेक्षा

डा० धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित 'इलाहाबाद युनिवर्सिटी हिंदी मेगजीन' (भाग ८) में प्रकाशित 'संपादकीय', जिसमें अंग्रेजी शिक्षितवर्ग को हिंदी की उपेक्षा के कुपरिणामों के प्रति सावधान किया गया है, यहाँ अविकल उद्धृत है—

सन् १९४९ में जब स्वतंत्र भारत के विधान में हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकृत किया गया था और युनिवर्सिटी कमीशन ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में

अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं तथा संघ की भाषा को अधिकाधिक स्थान देने पर बल दिया था तो ऐसी आशा हो गई थी कि देश का भाषा-संबंधी वातावरण शीघ्रता के साथ बदलेगा, किंतु इस एक वर्ष में जिस मंद गति के साथ इन क्षेत्रों में कार्य आरंभ किया गया है उससे आशावादी व्यक्ति भी निराशावादी होते जा रहे हैं। प्रस्तावों कांफरेंसों कमेटियों आदि की सीढ़ी से काम आगे नहीं बढ़ पा रहा है। कोई भी ठोस कार्य हाथ में नहीं लिया गया है, कोई भी क्रम-बद्ध आयोजना नहीं बनाई जा रही है जिससे एक निश्चित समय में यह परिवर्तन पूर्ण हो सके, कोई भी वास्तविक प्रेरणा इस संबंध में नहीं दी जा रही है। यह सच-मुच देश का दुर्भाग्य है। फलस्वरूप सर्वसाधारण की यह धारणा बनती जा रही है कि देश को विदेशी शासन से तो मुक्ति मिल गई है किंतु सांस्कृतिक स्वराज्य मिलने में अभी देर है। यही कारण है कि सरकारी संस्थाओं तथा युनिवर्सिटी आदि के संबंध में अपनेपन की जैसी भावना जनता के हृदय में उत्पन्न हो जानी चाहिए थी वह नहीं हो पा रही है। स्वतंत्र देश में जनता और शिक्षितवर्ग में इस प्रकार का पार्थक्य यों दोनों ही के लिये हितकर नहीं है। किंतु शिक्षितवर्ग के लिये तो यह विशेष घातक सिद्ध हो सकता है। देश-हित की भावना से नहीं तो स्वार्थ की दृष्टि से ही अंग्रेजी शिक्षितवर्ग को सर्वसाधारण की सुविधाओं, आवश्यकताओं तथा भावनाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि वर्तमान टाल-मटूल की नीति अधिक दिनों चलाई गई तो देशवासियों की आस्था शिक्षितवर्ग से बिलकुल ही हट सकती है, और यदि ऐसा हुआ तो वर्तमान अंग्रेजी शिक्षितवर्ग को भारी हानि हो सकती है।

निर्देश

हिंदी

आज का गुजराती साहित्य—जगदीश गुप्त; सम्मेलन पत्रिका ३७।२ [गुजराती साहित्य की हिंदी के साथ तुलनात्मक आलोचना।]

आयुर्वेद में कैसा साहित्य चाहिए—नित्यानंद शर्मा; स० प० ३७।२ [आयुर्वेद विषयक साहित्य के निर्माण के विषय में कुछ उपयोगी सुझाव।]

कुमारगुप्त तृतीय—बी० पी० सिन्हा; जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसायटी ३६।३-४ [सारनाथ अभिलेख वाला कुमारगुप्त द्वितीय है और नालंदाभित्तरी की

मुहरों वाला तृतीय। दोनों एक नहीं हो सकते। इनका भिन्न होना मुद्राओं से सिद्ध। नरसिंहगुप्त बालादित्य का पुत्र था जो मिहिरकुल का समकालीन था। यह ५२० ई० में गद्दी पर बैठा होगा। हुयनसांग द्वारा वर्णित वज्र भी यही है। यशोधर्मन से इसकी हार ५३० ई० हुई होगी।]

दक्षिणापथ की भाषाओं से क्या लिया जाय—श्रीराम शर्मा; स० प० ३७।२ [सिद्ध, नाथ, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, निर्गुण-भक्ति, प्रेममार्ग आदि के संबंध में हमारी जो धारणाएँ हैं, दक्षिण के साहित्य के अध्ययन से उसमें परिवर्तन संभव है। हिंदी में भक्ति के श्रीगणेश के समय दक्षिण में विशेषतः तामिल भाषा में वह पूर्ण परिपक्व हो चुकी थी। प्राचीन और आधुनिक मराठी तथा तिलगू में भी महत्त्वपूर्ण साहित्य है जिसका हिंदी में संग्रह किया जा सकता है।]

पंद्रह वर्ष की अवधि में हिंदीसेवियों का दायित्व–कालिदास कपूर; "विशाल-भारत", अप्रेल ५१ [इस संबंध में विचारणीय सुझाव।]

पृथ्वीराजरासो पर की गई शंकाओं का समाधान–कविराव मोहनसिंह; "शोधपत्रिका", भाग २ अंक ३ [लेखक ने रासो के सम्यक् अध्ययन से उसके क्षेपकों को अलग करने की जो कुंजियाँ स्थिर की हैं उनके आधार पर रासो पर की गई मुख्य शंकाओं का समाधान प्रस्तुत लेख में किया है।]

प्राचीन भारतीय साहित्य में स्त्री और शूद्र के कुछ सम्मिलित उल्लेख–रामशरण शर्मा; ज० बि० रि० सो० ३६।२–४ [गीता, पुराण तथा गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और स्मृति ग्रंथों के साक्ष्य से पुष्ट किया है कि स्त्रियों और शूद्रों को धर्म, राज्य-शासन, संस्कृति आदि की दृष्टि से समान रूप से घृणित और गर्हित स्थान दिया गया था। दोनों का उल्लेख भी साथ साथ हुआ है।]

भारतीय कला का तिब्बत में प्रभाव–दशरथी राय; विशालभारत, अप्रेल ५१ [तिब्बत की पाषाण-मूर्तियों तथा चित्रित धर्मध्वज आदि में भारतीय शैली स्पष्ट लक्षित होती है। ६३९ ई० में तिब्बत के राजा ने नेपाल की राजकुमारी से विवाह किया। इस राजकुमारी ने अपने प्रभाव से तिब्बत में बौद्ध धर्म तथा नेपाली कला का, जो वास्तव में भारतीय कला थी, प्रचार किया। बारहवीं शती तक बौद्ध भिक्षु तथा नेपाली कलाकारों द्वारा यह कला वहाँ पहुँचती रही।]

भोजकालीन यांत्रिक कलाकुशलता--विजयेंद्र शास्त्री; वि० भा० अप्रेल ५१ [महाराज भोज (ग्यारहवीं शती) के संस्कृत ग्रंथ 'अमरांगण सूत्रधार' से उद्धरण देकर बताया गया है कि उस समय भारत में यंत्रविद्या की कैसी उन्नति थी ।]

मराठी के पाँच प्रतिनिधि ग्रंथ–प्रभाकर माचवे; स० प० ३७।२ [हिंदी में संग्रह एवं अनुवाद के योग्य मराठी साहित्य के चुने हुए ग्रंथों एवं साहित्यकारों का निर्देश ।]

राजस्थान का एक लोकगीत पणिहारी–मनोहर शर्मा; शो० प०, वर्ष २ अंक ३ [सरस भावपूर्ण राजस्थानी लोकगीत की भावात्मक समीक्षा और गुजरात, पंजाब, ब्रज तथा अवध के गीतों से उसकी एकात्मता पर प्रकाश ।]

हंस कवि कृत चाँदकँवर री बात–भोगीलाल जयचंद भाई साँडेसरा; शो० प० २।३ [सं० १७४० की लिखी उक्त पुस्तक की हस्तलिखित प्रति (कुल छः पन्ने) सारांश और टिप्पणी सहित प्रकाशित ।]

हिंदी में वैदिक साहित्य–साँवलिया बिहारी लाल; स० प० ३७।२ [हिंदी में प्रकाशित वैदिक साहित्य का परिचय ।]

अंग्रेजी

अर्ली संस्कृत पोएटिक्स–के० कृष्णमूर्ति; "भारतीय विद्या", ११।१-२ [संस्कृत साहित्यशास्त्र का इतिहास कालिदास और संभवतः भास के भी पूर्व आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से प्राप्त होता है । इस लेख में केवल भामह, दंडी, वामन, उद्भट, रुद्रट और आनंदवर्धन के सिद्धांतों की विशेषताओं का तुलनात्मक विवेचन है ।]

ऑन कंडारिऊण–जो० एस० गाय; बुलेटिन ऑव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट ११।१ [राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में 'कंडारिऊण' का प्रयोग 'उकेरकर, कोरकर अथवा सँवारकर' (by carving, sculpturing ie giving nicer touches) के अर्थ में किया है और डा० स्टेनकोनो ने इसे मराठी शब्द बताया है । इस लेख में प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों के आधार पर सिद्ध किया है कि यह कन्नड़ शब्द है ।]

ऑन दि ओरिजिन ऑव द ब्राह्मण गोत्राज–डी० डी० कोशांबी; जर्नल ऑव द रायल एशियाटिक सोसायटी (बंबई शाखा) २६।१ [वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ब्राह्मण गोत्रों के मूल की खोज ।]

ऑब्जर्वेशंस ऑन द सोर्सेज ऑव दि अपभ्रंश स्टैंज़ाज़ ऑव हेमचंद्र–शिवेंद्र-नाथ घोष; इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली २७।१ [हेमचंद्र के ३०–३५ दोहों का मूल उनके पूर्व के प्राकृत ग्रंथ हाल की सतसई और जयवल्लभ की वज्जालग्गा में तथा अपभ्रंश में रामसिंह कृत पाहुड़दोहा और योगींद्रदेव कृत परमात्मप्रकाश में ढूँढ़ा गया है।]

एग्जामिनेशंस ऐंड देअर ईविल एफेक्ट्स–आर० एम० ठाकुर; "शिक्षा", वर्ष ३ अंक ४ [वर्तमान परीक्षा-प्रणाली भारतीय शिक्षा में सबसे हानिकर वस्तु है, विदेशों में भी इसका त्याग हो रहा है। भारत में गुरुकुल पद्धति ही सर्वथा उपयुक्त है]

ऐस्पेक्ट्स ऑव दि एंशंट आर्ट ऑव इंडिया ऐंड द मेडिटरेनियन—मेरिओ बुसाग्ली; 'इस्ट एंड वेस्ट' १।४ [यूनानी कला में वास्तविकता और गति केवल उसी की विशेषता नहीं है। भारत की हड़प्पा कला में बहुत पहले ही ये गुण पाए जाते हैं। सैंकड़ों हजारों वर्ष तक मेसोपोटामिया, मिश्र और भारत की कला में जो वास्तविकता का अभाव रहा उसका कारण कलाकारों का अज्ञान नहीं, उनके लक्ष्य की भिन्नता है।]

औरंगज़ेब्स डीलिंग्ज़ विथ रॉबर्स—एस० पी० संग; भा० वि०, ११।१-२ [चोरों और लुटेरों से प्रजा की रक्षा के लिये औरंगजेब की क्या दंड-व्यवस्था थी इसका विदेशी यात्रियों के उल्लेखों के आधार पर वर्णन।]

कला परिच्छेद—सदाशिव एल० कत्रे०, ज० रा० ए० सो० बं० [कला परिच्छेद' निश्चित रूप से दंडी द्वारा रचित और उनके काव्यादर्श का ही एक परि-च्छेद था—इसे उद्धरणों द्वारा सिद्ध किया है।]

कल्चुरल वर्ड्स ऑव चाइनीज ओरिजिन—एस० महदी हसन; वही २६।१ [फिरोजा, थरब, चमचा, तोप और सिलफची शब्दों की व्युत्पत्ति चीनी भाषा से सिद्ध की गई है।]

कल्ट कैरेक्टरिस्टिक्स ऑव द हिंदू टेंप्लस ऑव द डेकन—ए० बी० नायक, बु० डे० का० रि० इं० ११।१ [दक्षिण की वास्तुकला के अध्ययन के लिये वहाँ के मंदिरों का शैव, वैष्णव, ब्राह्म, सौर आदि सांप्रदायिक आधार पर वर्गीकरण और उनकी भेदक विशेषताओं का वर्णन।]

क्लासिफ़िकेशन ऑव सम लैंग्वेजेज़ ऑव द हिमालयाज़—राबर्ट शेफ़र; जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसायटी ३६।३-४ [हिमालय प्रदेश की कुछ भाषाओं का वर्गीकरण।]

चाइनीज़ फ़िलासफ़ी ऐंड इट्स पॉसिब्ल कौंट्रिब्यूशन टु ए यूनिवर्सल फ़िलासफ़ी—फ़ेंग-यू-लान; ई० वे० १।४ [प्लेटो और कांट तथा कंफ्यूशियस और ताओ के सिद्धांतों में साम्य और भेद दिखलाकर बताया गया है कि उच्चतम नैतिक आदर्शों को सामान्य जीवन में उतारने में सक्षम होने के कारण चीनी दर्शन विश्व-दर्शन की स्थापना में सहायक हो सकता है।]

चित्तोर ऐंड अलाद्दीन खिलजी—एम० एल० माथुर; [आधुनिक लेखकों ने चित्तोर के रतनसेन और पद्मिनी की प्रसिद्ध कथा को ऐतिहासिक सत्य न मानकर जायसी द्वारा कल्पित कहा है। इस लेख में अमीर खुसरो की 'खजीनतुलफतह' पुस्तक से यह सिद्ध किया है कि उक्त कथा ऐतिहासिक घटना है; हाँ अलाद्दीन के गढ़ के भीतर जाकर दर्पण में पद्मिनी का रूप देखने की घटना अवश्य कल्पित है।]

द वाकाटक क्वीन प्रभावती गुप्ता—आर० सी० मजूमदार; भा० वि०, ११।१-२ ['साग्र वर्ष शतदिव पुत्र पौत्रा' में 'दिव' वस्तुतः 'दीव' जान पड़ता है जो 'जीव' के स्थान पर भूल से लिखा गया है। इससे उसका अर्थ होगा कि महारानी प्रभावती गुप्ता सौ से अधिक वर्ष जीती रहीं और उनके पुत्र-पौत्र भी उस समय विद्यमान थे। वे क्रमशः अपने ज्येष्ठ पुत्र दिवाकर सेन और द्वितीय पुत्र दामोदर सेन की अभिभाविका रहीं। दामोदरसेन की मृत्यु के बाद महारानी का तृतीय पुत्र प्रवरसेन राजा हुआ।]

द वेदिक ऐक्सेंट ऐंड दि इंटर्प्रिटर्स ऑव पाणिनि—सिद्धेश्वर वर्मा; ज० रा० ए० सो० बं० २६।१ [१-वैदिक स्वरों विशेषतः उदात्त की ठीक व्याख्या तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और शिक्षाओं में की गई थी जो आधुनिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा समर्थित है। २—उदात्त का अर्थ 'उच्च' स्वर है और पाणिनि भी संभवतः यही मानते थे। यदि उदात्त = उच्च स्वर, तो स्वरित संभवतः अधिक उच्च होगा, जैसे दीर्घ से प्लुत।]

दि इंडियन मूवमेंट ऑव १८५७-५६—के० के० दत्त; जर्नल ऑव बिहार रिसर्च सोसायटी, ३६।३-४ [बंगाल पुलिस बटालियन के सूबेदार सरदार बहादुर

हिदायतुल्ला ने १८५८ ई० में विद्रोह के कारणों का विवरण लिखा था जो हाल में लेखक को प्राप्त हुआ है। उसमें बड़े विस्तार से ब्रिटिश सैनिक प्रबंध के दोषों तथा भारतीय जनता की असंतोष-भावना को विद्रोह का कारण बताया गया है।]

मॉडर्न मेडिसिन इन इट्स हायर सिंथिसिस—निकोला पेंडे; ई० बे० ११४ [चिकित्सा में 'निओ-हिप्पोक्रेटिज्म' सिद्धांत का प्रतिपादन, जिसमें आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली की भाँति मानव शरीर को केवल यंत्रवत् मानकर उसके अंग पुर्जों की चिकित्सा का विधान नहीं, प्रत्युत उसका लक्ष्य मनुष्य को शरीर और आत्मा का युक्त रूप, एक तृतीय पूर्ण पदार्थ मानकर उसकी चिकित्सा करना है।]

लिंग्विस्टिक अबिरेशंस इन कालिदास—तारापद चौधरी; ज० बि० रि० सो० ३६।३-४ [कालिदास की रचनाओं में पाणिनि से च्युत प्रयोगों का भाषा-वैज्ञानिक विवेचन।]

सम प्रॉब्लेम्स ऑव एंशंट इंडियन हिस्ट्री—ए० डी० पुसालकर, भा० वि० ११।१-२ [हड़प्पा सभ्यता का संबंध ऋग्वेद से है। व्हीलर का यह समझना निराधार है कि वह आर्यों द्वारा नष्ट की गई अनार्य सभ्यता है। आर्य ई० पू० १५०० में बाहर से नहीं आए, वे यहीं के थे। ऋग्वेद का काल ई० पू० चौथी-पाँचवीं सहस्राब्दी हो सकता है। हड़प्पा सभ्यता ऋग्वेद सभ्यता का ही उत्तरकालीन रूप है। और अधिक खुदाइयों से इन बातों पर प्रकाश पड़ेगा।]

सम फॉरेन वर्ड्स इन एंशंट संस्कृत लिट्रेचर—वासुदेवशरण अग्रवाल; इं० हि० क्वा० २७।१ [तैमात, आलीगी विलिगी, उरुगूला, हेलयः-हेलयः, जिग्गुरुत, कार्षापण, जाबाल, हैलिहिल, कंथा, स्तवरक और पिंगा शब्दों की व्युत्पत्ति व्याख्या सहित विदेशी शब्दों से सिद्ध की गई है।]

सम मोर इंद्र लिजेंड्स फ्रॉम शतपथ ब्राह्मण—एच० आर० कार्णिक; भा० वि० ११।१-२ [शतपथ० १।४।४,२।१। २, और २।४।३ में दी हुई इंद्र की तीन कथाओं से इंद्र का चरित्रांकन। इन कथाओं में इंद्र क्रमशः भीरु, कूटनीतिज्ञ तथा योद्धा चित्रित हैं।

सेकंड सप्लिमेंट टु वेश्या—लुडविक स्टर्नबंच; भा० वि० ११।१-२ [संस्कृत साहित्य-ग्रंथों से संग्रह कर 'वेश्या' शब्द के ६५, वेश्यालय के ११ और कुट्टनी के १० पर्याय तथा उनके अर्थ दिए गए हैं। और शब्दों के लिये द्रष्टव्य "भारतीय विद्या" भाग ४, ५ तथा ८]

समीक्षा

राजस्थानी भाषा और साहित्य—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया, एम० ए०; प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग (सं० २००६); पृ० सं० ३१५ (ड० डि० सोलहपेजी); मूल्य ६)

हिंदी भाषा का सामान्य अर्थ बहुत विस्तृत है और इससे पिछली अपभ्रंश, खड़ी-बोली, व्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी आदि भाषाओं का बोध होता है। इस विस्तृत अर्थ में राजस्थानी हिंदी की एक विभाषा मात्र है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिंदी से केवल खड़ी बोली का बोध होता है। 'प्रकाशकीय' में सम्मेलन के साहित्य-मंत्री ने 'हिंदी भाषा' का प्रयोग सामान्य एवं विस्तृत अर्थ में किया है। पर 'निवेदन' में ग्रंथ-लेखक ने हिंदी का दूसरा अर्थ लेकर राजस्थानी को हिंदी से स्वतंत्र भाषा माना है। वे राजस्थानी को हिंदी-समुदाय की एक स्वतंत्र भाषा मानते हैं, हिंदी की विभाषा नहीं। यह विचारणीय है। साहित्य के प्रसंग में, जो ग्रंथ का प्रधान विषय है, शास्त्रीय अर्थ की अपेक्षा सामान्य और प्रसिद्ध अर्थ ही समीचीन जान पड़ता है।

ग्रंथ में आठ प्रकरण हैं—भूमिका, प्रारंभिक काल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्य-काल, संत-साहित्य, आधुनिक काल, प्राचीन और अर्वाचीन गद्य, उपसंहार। भूमिका वाले प्रकरण में राजस्थानी भाषा, व्याकरण, छंद, रस, अलंकार, गुण-दोष आदि का विवेचन किया गया है। उपसंहार वाले प्रकरण में राजस्थान की आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन और उनके भविष्य पर विचार प्रकट किया गया है। इस ग्रंथ में जैसा कि उसके नाम से लक्षित होता है, राजस्थानी भाषा और उसके साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए था, परंतु ऐसा न कर लेखक ने नाम को असार्थक बना दिया है। उन्होंने इस ग्रंथ में राजस्थान में हुए ब्रजभाषा के प्राचीन-अर्वाचीन कवियों और खड़ी-बोली के आधुनिक गद्य-पद्य-लेखकों का भी विवेचन किया है, इससे ग्रंथ लक्ष्यच्युत हो गया है। यदि लेखक को राजस्थान के इन ब्रज भाषा और खड़ी बोली के कवियों और लेखकों का मोह ही था तो इन्हें परिशिष्ट रूप में दिया जा सकता था। इस ग्रंथ में बिहारी,

कुलपति मिश्र, नागरीदास, सोमनाथ, सुंदरदास आदि ब्रज भाषा के सिद्ध कवियों तथा लज्जाराम मेहता, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रामकृष्ण शुक्ल, नरोत्तमदास स्वामी, कन्हैयालाल सहल, मुंशी देवीप्रसाद, डा० रघुवीरसिंह, विश्वेश्वरनाथ रेउ, चतुर्वेदी गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', जनार्दन राय, हरिभाऊ उपाध्याय, दिनेशनंदिनी चोरड्या, सुधींद्र आदि खड़ी बोली के लेखकों को भी न जाने किस न्याय से राजस्थानी भाषा और साहित्य के अंतर्गत स्थान दिया है।

ग्रंथ में यत्र-तत्र तथ्यों का भी त्रुटिपूर्ण उल्लेख है। उदाहरणार्थ नागरीदास को लीजिए। पहले के इतिहासकारों ने इनके ७५ ग्रंथों का उल्लेख किया है, मेनारिया जी ने ७७ का। बंबई के ज्ञानसागर यंत्रालय से १८९८ ई० में प्रकाशित 'नागरसमुच्चय' (नागरीदास के संपूर्ण ग्रंथों का संग्रह) में केवल ६६ ग्रंथ हैं, ७५ या ७७ नहीं। इस अंतर का कोई आधार उल्लिखित नहीं है। 'नागरसमुच्चय' में नखशिख, चरचरिया, रेखता, धन्यधन्य, ब्रज-नाममाला, गुप्त रसप्रकाश आदि ग्रंथ नहीं हैं। एक-आध ग्रंथ के नाम में भी त्रुटि है। 'छूटक पद' को 'छूटक विधि' लिखा गया है। 'छूटक पद' का अर्थ है छुट्टे, फुटकर, स्फुट पद। पर राधाकृष्णदास जी 'छूटक विधि' लिख गए, शुक्ल जी के इतिहास में भी यही लिखा गया और मेनारिया जी ने भी यही लिखा।

सतसईकार बिहारी के प्रसंग में तीन कवित्त उद्धृत किए गए हैं जो अत्यंत शिथिल हैं और बिहारी जैसे सुगठित पदावली वाले कवि के नहीं प्रतीत होते। शिवसिंहसरोज में बिहारी नाम के अनेक कवियों का उल्लेख हुआ है। ये कवित्त किसी दूसरे बिहारी के संभव हैं। यदि ये सतसईकार प्रसिद्ध बिहारीलाल चौबे के ही हैं, तो इसका पूर्ण प्रमाण ग्रंथकार को देना चाहिए था।

प्रादेशिक एवं जनपदीय भाषाओं और साहित्यों की रक्षा एवं वृद्धि समय की माँग है और इसकी पूर्ति की ओर मेनारिया का प्रयत्न इस ग्रंथ के रूप में स्तुत्य है। आशा है अगले संस्करण में वे उपर्युक्त प्रकार की त्रुटियों का निराकरण कर देंगे।

—किशोरीलाल गुप्त

सौश्रुती—पं० रमानाथ द्विवेदी एम्० ए० ए० एम्० एम्०; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस; डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ सं० ५५८; मू० ८॥)

पुस्तक का नाम ही विद्वान् लेखक की विद्वत्ता और योग्यता का सजीव

प्रमाण है। वस्तुत: 'सर्जरी' शब्द का बोधक तथा सुश्रुत के महत्त्व का प्रतिपादक इससे सुंदर नाम नहीं चुना जा सकता था।

आरंभिक प्राक्कथन में विज्ञ लेखक ने अपना संकल्प एवं ध्येय बड़े ही विनम्र शब्दों में पतिपादित कर इतिवृत्तात्मकाध्याय नामक प्रथम प्रकरण में विस्तृत रूप में आयुर्वेद का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया है। इसमें न केवल आयुर्वेद की अपितु देश की अन्य ऐतिहासिक सामग्री भी सन्निविष्ट है। यद्यपि इसमें स्वीकृत तथ्यों का आधार आधुनिक विचारधारा ही है जिससे सहमत होना सबके लिये संभव नहीं, तथापि इस अध्याय के मनन से भारत के संबंध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है और आयुर्वेद के वर्तमान रूप तक पहुँचने के लिये एक ठोस आधार प्राप्त होता है। इसमें लेखक द्वारा प्रस्तुत ऋग्वेदकाल, बौद्धकाल, ग्रीस, चीन, आदि के अनेक उद्धरणों एवं तुलनात्मक विवेचना से उसके गंभीर अध्ययन तथा ऐतिहासिक ज्ञान का पता चलता है।

आगे के तेईस प्रकरणों और अध्यायों में शल्य-संबंधी विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त कायचिकित्सा तथा अन्य आयुर्वेदीय सामग्री इतने प्रचुर परिमाण में सन्निविष्ट की गई है कि वह एक स्वतंत्र तथ्यपूर्ण चिकित्सा-ग्रंथ हो गया है।

मिश्रकद्रव्यसंग्रहणाध्याय नामक पच्चीसवें प्रकरण में चिकित्सोपयोगी अठारह प्रमुख ओषधगणों के संकलन तथा कुछ संगृहीत योगों के वर्णन से ग्रंथ बहुत उपयोगी हो गया है। अनंतर दो प्रकरणों में अन्य व्यावहारिक विषयों का वर्णन कर उपसंहार में विरोधियों तथा आयुर्वेद के उपेक्षकों को समुचित उत्तर दे लेखक ने कुछ उपयोगी सुझाव रक्खे हैं जो मननीय एवं व्यावहारिक रूप देने योग्य हैं। अंत में यंत्रशस्त्रों के चित्र तथा शुद्धिपत्र देकर पुस्तक समाप्त की गई है।

यह अपने ढंग का नया प्रयास है जिसमें लेखक को अच्छी सफलता मिली है। इसमें उसके प्राच्य एवं पाश्चात्य ज्ञान का स्थान-स्थान पर परिचय मिलता है। वस्तुत: ऐसी रचनाएँ उभयज्ञ विद्वानों द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनकी आयुर्वेद-संसार को बड़ी आवश्यकता है।

ऐसे लेखकों का सम्मान करना और उत्साह बढ़ाना सबका पुनीत कर्तव्य है। पुस्तक आयुर्वेद-विद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखने योग्य तथा प्रत्येक वैद्य, आयु-

वैदीय छात्र और उसके प्रेमियों एवं भारतीय इतिहास के जिज्ञासुओं के लिये संग्रहणीय है।

शीघ्रता के कारण प्रूफ की अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं। छपाई भी सुंदर नहीं हो सकी। मूल्य कुछ अधिक है जिससे पुस्तक के प्रचार में बाधा पड़ सकती है।

मर्मविज्ञान—लेखक आयुर्वेदाचार्य पं० रामरक्ष पाठक; ए० एम० एस्० एफ्० ए० आई० एम्०; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज बनारस; डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ सं० ११०; मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक में आरंभिक प्रस्तावना के अतिरिक्त सात अध्याय हैं जिनमें सुश्रुतोक्त मर्मों का सचित्र वर्णन है। पंचविध मर्मों की विस्तृत परिभाषा, उनकी संख्या, नाम, उनपर लगनेवाले अभिघात का परिणाम तथा उसका प्रतिकार, और छः चित्रों द्वारा उनका स्वरूप-ज्ञान बड़े ही सरल तथा व्यवस्थित ढंग से कराया गया है।

प्रथम अध्याय में मर्मों के सद्यः प्राणहरत्वादि पर जो व्याख्या की गई है वह बहुत उच्च कोटि की है और सुश्रुत के वचनों पर उससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार दूसरे अध्याय में मर्म पर अभिघात लगने से प्रवृद्ध वायु किस प्रकार तीव्र पीड़ा उत्पन्न कर शरीर नष्ट कर सकता है इसपर दिया गया आलोचनात्मक वक्तव्य निश्चय ही सुश्रुत के गौरव का प्रसार करता है।

इसमें ऊर्ध्व-अधः शाखा, मध्य शरीर, ऊर्ध्व जत्रुगत मर्मों का नाम, उनकी रचना, उनमें लगनेवाले अभिघातों से उत्पन्न उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा का क्रमशः तीसरे, चौथे, पाँचवें तथा छठे अध्याय में वर्णन किया गया है। इससे पाठकों को विषय के समझने में बड़ी सरलता होती है। सातवाँ अध्याय परिशिष्ट के रूप में है जिसमें मर्माभिघात से उत्पन्न होनेवाले सामान्य उपद्रवों की चिकित्सा तथा कुछ सुंदर योग भी दिए गए हैं जिससे पुस्तक अधिक उपादेय हो गई है।

हिंदी में यह अच्छा संकलन है। यद्यपि लेखक ने इसे अपनी मौलिक रचना ही सिद्ध करने की चेष्टा की है तथापि प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि पुस्तक केवल डा० बी० जी० घाणेकर की सुश्रुत की टीका एवं डा० पी० वी० कृष्णराव कृत 'मर्मों का तुलनात्मक अध्ययन' (Comparative Study of

the Marmas) का संग्रह मात्र है। जिन व्याख्याओं और वक्तव्यों की चर्चा की गई है वे डा० घाणेकर की टीका से अविकल उद्धृत हैं तथा अन्य भी अनेक प्रकरण उसी भाँति पुस्तक में समाविष्ट हैं। भाषा तक ज्यों की त्यों हैं। पुस्तक में दिए गए छहों चित्र मर्मों की रचनाओं का वर्णन, अनेक सूचियाँ तथा चिकित्साएँ डा० कृष्ण-राव के हैं।

लेखक ने प्रस्तावना में "मर्मरचना में जिन जिन अवयवों का सन्निपात हुआ है उनका आधुनिक नामकरण कर उन भागों के महत्त्व को समझाया है...... साथ ही अभिघात-जन्य उपद्रवों की संक्षेप चिकित्सा का भी संकेत किया है। यह उक्त सुश्रुत की व्याख्या की दिशा में एक प्रयास है जो छात्रों के अध्यापन-काल-जन्य परिस्थितियों का परिणाम मात्र है।" तथा "मर्मों के वर्णन में यद्यपि सतर्कता रक्खी है तथापि त्रुटियाँ होना असंभव नहीं..." आदि लिखकर यह दिखाने की चेष्टा की है कि यह उनकी निजी कृति है, इतने दिनों के अध्यापन-कार्य से वे इसमें समर्थ हुए, आधुनिक नामकरण भी उनके हैं और पुस्तक लिखने में उन्हें बहुत सतर्कता की आवश्यकता पड़ी।

अस्तु, जहाँ तक लेखक के श्रम का संबंध है, हिंदी में यह संकलन कर उन्होंने मातृभाषा का भंडार भर आयुर्वेद-जगत् का बड़ा उपकार किया है। अनुवादक तथा संकलनकर्ता भी धन्यवाद के पात्र होते हैं और उनके गंभीर अध्ययन की प्रशंसा पाठकों को करनी ही पड़ती है। किंतु उपर्युक्त प्रकार की प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं। विज्ञजगत् की यह परंपरा है कि यदि वह अन्य ग्रंथों से कोई अभिप्राय भी लेता है तो उन ग्रंथों का साभार उल्लेख करता है। किंतु यहाँ अभिप्राय ही नहीं, संपूर्ण विषय तथा सामग्री अथच पृष्ठ के पृष्ठ उक्त दोनों ग्रंथों से लेने के बाद भी न कहीं उनका नाम है न उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन। यह अवश्य खटकनेवाली बात है और विद्वान् लेखक के अनुरूप नहीं।

वैद्यों, छात्रों तथा आयुर्वेदप्रेमियों के लिये पुस्तक उपादेय तथा संग्रहणीय है। छपाई आदि आकर्षक होने पर भी मूल्य अधिक है।

—व्रजमोहन दीक्षित

स्त्री-पुरुष-मर्यादा-ले० श्री किशोरलाल मश्रूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद (१९५१ ई०) ; पृष्ठ संख्या १८८ (ड० क्रा० सोलहपेजी); मूल्य १॥।)

गांधी जी के बिचारों के विचारशील अनुयायी, 'हरिजन सेवक' के प्रतिष्ठित संपादक श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों के विषय में समय-समय पर लेखादि के रूप में अपने जो विचार प्रकट किए हैं उन्हीं का इस पुस्तक में संकलन है। लेखक के अनुसार "जिसे कामविज्ञान का साहित्य कहा जाता है वैसे भी ये लेख नहीं हैं", परंतु व्यापक रूप में लेखों का विषय कामविज्ञान से संबंधित है। आर्य आदर्श के अनुसार स्त्री-पुरुष के संबंध कैसे होने चाहिएँ, उनमें काम-विकार कहाँ तक बाधक होता है तथा उसपर किस प्रकार नियंत्रण रखा जा सकता है, इस विषय पर लेखक की निष्ठा प्राचीन आदर्श में होते हुए भी यथार्थ कठिनाइयों को सामने रखते हुए स्वाभाविक दृष्टि से विचार किया गया है।

जैसा काका कालेलकर ने लिखा है, स्त्री-पुरुष के संबंध में उठनेवाले आज के कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को लेखक ने छोड़ दिया है, यथा स्त्री पुरुष की तरह कमाई करे या नहीं, विवाह-विधि की मान्यता आवश्यक है या नहीं, स्त्री-पुरुष की शिक्षा में कोई भेद हो या नहीं, इत्यादि। निस्संदेह इन प्रश्नों पर विचार करने से पुस्तक अधिक पूर्ण और उपयोगी होती। फिर भी जहाँ तक भारतीय समाज में युवक-युवतियों के चरित्र-निर्माण का प्रश्न है, यह पुस्तक निस्संकोच उनके हाथों में दी जा सकती है और इस विषय की अन्य पुस्तकों से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

—चित्रगुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

अर्चना के फूल (कविता)—लेखक श्री मदनलाल नकफोफा; प्रकाशक मानसरोवर प्रकाशन, गया; मूल्य १)

उपाख्यान माला भाग १—लेखक श्री शिवप्रसाद चारण एम० ए०; प्रकाशक महर्षि मालवीय इतिहास-परिषद्, दुगड्डा (गढ़वाल); मूल्य ।=)

गालिब—लेखक श्री दयाकृष्ण गंजूर; प्रकाशक लेखक, ८ लालबाग लखनऊ; मूल्य २॥)

गुहादित्य (ऐतिहासिक नाटक)—लेखक श्री शिवप्रसाद चारण एम० ए० : प्रकाशक महर्षि मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य ।≥)

गोरा बादल (ऐतिहासिक नाटक) ले० श्री शिवप्रसाद चारण एम० ए०; प्र० महर्षि मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य ॥।)

जीवन जौहरी (श्री जमनालाल बजाज)—लेखक श्री ऋषभदास राँका; प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १६५०; मूल्य १।)

जुझारसिंह बुंदेला (ऐति० ना०)—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्रकाशक मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य ॥।)

नईधारा (मासिक पत्र वर्ष १ अंक २)—संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी; अशोक प्रेस, महेंद्रू, पटना; वार्षिक मूल्य १०)

नील अंगार—लेखक श्री ब्रह्मदेव; प्रकाशक सुजाता प्रकाशन, गया-दिल्ली; सन् १६५१; मूल्य ॥)

पन्ना धाय—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मूल्य १।)

बलिपथ के गीत—लेखक श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद; प्रकाशक आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १६५०; मूल्य २॥)

बालनाटक माला भाग १—लेखक श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्; दुगड्डा; मूल्य ॥)

भारतीय धर्म और दर्शन—लेखक श्री मिश्रबंधु; प्रकाशक राष्ट्रभाषा प्रकाशन, मथुरा; मूल्य १॥)

महाराणा संग्रामसिंह (ऐति० ना०, पूर्वार्ध)—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० १)

मि० ह्यूम की परंपरा—लेखक श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक हिमालय एजेंसी, कनखल; सन् १६५०; मू० ॥)

म्युजिक एंड डान्स इन कालिदास (अंग्रेजी)—ले० श्री के० वी० रामचंद्रन; जर्नल ऑव ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास (भाग १८ अंक २) से प्रतिमुद्रित।

रसायनिक उद्योग धंधे—ले० श्री सोहनलाल गुप्त, एम० एस-सी०, एम० ए०; प्रकाशक शांति पुस्तक भंडार, कनखल; सन् १६५१; म० ॥)

वीर हम्मीर (ऐति० ना०)—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ॥)

श्री सुभासचंद्र बोस—श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक राष्ट्रभाषा परिष्कार परिषद्, कनखल; सन् १६५१; मूल्य ॥)

संघर्ष संगीत—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ।≈)

समर्पण (सामाजिक नाटक)—लेखक श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिंद; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १६५०; मूल्य १॥)

सर्वोदय यात्रा—लेखक श्री विनोबा भावे; प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १६५१; मूल्य १)

साहित्य में प्रगतिवाद—लेखक श्री सोहनलाल लोढ़ा एम० ए०; प्र० नवजागरण प्रकाशन गृह, जोधपुर; मूल्य १)

सुमित्रानंदन पंत (अनेक लेखकों के आलोचनात्मक लेख)—संपादिका श्री शची रानी गुर्टू, एम० ए०; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; सन् १६५१; मूल्य ६)

सिंहनाद (कविताएँ)—लेखक श्री वल्लभदास बिन्नानी; प्रकाशक कल्याणदास ऐंड ब्रदर्स, बनारस १; संवत् २००७; मूल्य १)

स्त्री-पुरुष मर्यादा—लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; सन् १६५१; मूल्य १॥)

स्वर्गभूमि की यात्रा (ऐति० नाटक)—लेखक श्री रांगेय राघव; प्रकाशक राजेंद्र प्रकाशन मंदिर, लोहामंडी, आगरा; सन् १६५१; मूल्य २)

हिंदी कविता में युगांतर—लेखक श्री सुधींद्र एम० ए०; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; सन् १६५०; मूल्य ८)

हिरोल (ऐति० ना०)—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्र० मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ॥)

हुतात्मा परिचय—ले० श्री शिवप्रसाद चारण; प्रकाशक मालवीय इतिहास परिषद्, दुगड्डा; मू० ॥)

विविध

हिंदी का रूप

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज ने हिंदी और उर्दू की पृथक्ता पर तो अपनी पक्की मुहर लगा ही दी थी, स्वतंत्र और स्वाभाविक रूप से पनपती हुई जनता की भाषा खड़ी-बोली हिंदी के भीतर भी सं० १६२३-२४ में ही यह विवाद उठ खड़ा हुआ था कि इसका रूप कैसा हो—संस्कृत मिश्रित या अरबी-फारसी-मिश्रित। और मनोरंजक बात यह है कि इस विवाद में दोनों पक्षों के नेता दो अंग्रेज थे—बीम्स और ग्राउज। बीम्स अरबी-फारसी शब्दों के पक्षपाती थे और ग्राउज संस्कृत के। वह समय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और राजा शिवप्रसाद का था। तब से आज तक यह प्रश्न बराबर उलझा ही रहा और अब भी, जब कि हिंदी राष्ट्रभाषा और राजभाषा स्वीकृत हो चुकी है, यह पूरी तरह सुलझ नहीं सका है। जहाँ तक लेखकों और साहित्यिकों तथा राष्ट्र के हित का संबंध है, यह कोई बड़ी गंभीर समस्या नहीं होनी चाहिए थी, परंतु आज परिस्थितिवश विदेशी भाषाओं का पक्ष दुर्बल पड़ जाने पर भी संविधान की शब्दावली को लेकर हिंदी के किसी अकल्पित रूप की सृष्टि की घोषणा की जा रही है। यह भूल जाया जाता है कि जनता की भाषा का निर्माण जनता के मुख और साहित्यस्रष्टा की लेखनी द्वारा हुआ करता है, कुछ लोगों के निश्चय द्वारा नहीं। कुछ लोगों की इच्छा से बनाई हुई भाषा शासकों, पंडितों या कुछ लोगों की भाषा बन सकती है, परंतु राष्ट्रभाषा या सबकी भाषा नहीं।

अरबी-फारसी के पक्षपाती चाहते थे (अब भी चाहते हैं) कि हिंदी में संस्कृत की गंध भी न रहे, और संस्कृत के पक्षपाती इसमें विदेशी शब्दों को कौन कहे, तद्भव (संस्कृतमूलक) शब्दों को भी ग्रहण करना उचित नहीं समझते। इसी लिये संभवतः एक तीसरा पक्ष हिंदी के नूतन रूप और नूतन कोष-व्याकरण की सृष्टि की चिंता में है। मानो इन पक्षों से पृथक् हिंदी की कोई गति

ही नहीं है। परंतु यह भ्रम है। हिंदी का इतिहास एक विकासशील जनभाषा के उन्मुक्त एवं सर्वग्राही प्रवाह का इतिहास है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी में संस्कृत के शब्दों का भी स्थान है और अन्य देशी तथा विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी। परंतु इनमें से वह किसी के पल्ले में बँधकर बड़ी नहीं हुई है। अपनी स्वतंत्र शक्ति से अपनी प्रकृति के अनुरूप ढालकर ही इसने आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण किया और उन्हें पूर्ण रूप से पचा लिया है। हिंदी में कठिन और सरल दोनों प्रकार की शैलियाँ हैं, जैसी सभी उन्नतिशील भाषाओं में होती हैं। [हिंदी की स्वतंत्र प्रकृति और शक्ति के संबंध में इसी अंक में 'विमर्श' (पृ० ५८) में प्रकाशित श्री राय कृष्णदास जी का लेख भी द्रष्टव्य है।]

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने उपर्युक्त बीम्स-ग्राउज विवाद के लगभग तीस वर्ष बाद हिंदी के ५८ विद्वानों की सम्मति से "हिंदी की लेख तथा लिपि प्रणाली" संबंधी प्रश्नों की मीमांसा की थी और अपना निश्चय प्रकाशित किया था। कुल आठ प्रश्नों पर विचार किया गया था, परंतु भाषा के रूप संबंधी प्रथम प्रश्न पर उसका स्पष्ट और उदार निश्चय आज भी हिंदी को एक ही पक्ष से देखनेवाले हितैषियों, लेखकों और विद्वानों के लिये उपयोगी होगा। अतः उसका मुख्य अंश यहाँ उद्धृत है—

१—पहिला प्रश्न यह है कि "हिंदी किस प्रणाली की लिखी जानी चाहिए अर्थात् संस्कृतमिश्रित, या ठेठ हिंदी या फारसीमिश्रित और यदि भिन्न भिन्न प्रकार की हिंदी होनी उचित है तो किन किन विषयों के लिये कैसी भाषा उपयुक्त होगी ?"

किसी भाषा के लिखने की प्रणाली एक सी नहीं हो सकती। विषयभेद तथा रुचिभेद से भाषा का भेद है। पृथ्वी पर जितनी भाषाएँ हैं सभी में कठिन और सरल लेख लिखने की रीति चली आती है। कहाँ कैसी भाषा लिखनी चाहिए यह लेखक और विषय पर निर्भर है। इसके लिये कोई नियम नहीं बन सकता। यदि लेखक की यह इच्छा है कि भाषा कठिन हो तो उसे निस्संदेह संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करना होगा और यदि उसकी यह इच्छा है कि भाषा सबके समझने योग्य हो तो उसे सीधे हिंदी के शब्दों को काम में लाना होगा। परंतु यह बात केवल लेखक ही पर निर्भर नहीं है, विषय पर भी बहुत कुछ निर्भर है। यदि कोई महाशय दर्शन शास्त्र पर कोई लेख वा ग्रंथ लिख रहे हैं तो निश्चय उनकी भाषा में संस्कृत के शब्द भरे रहेंगे और भाषा कठिन होगी। वैसे ही यदि कोई महाशय रेल वा अन्य ऐसी बातों का वर्णन करें जिनका युरोपीय लोगों के कारण इस देश में प्रचार हुआ हो तो उन्हें अवश्य-

मेव युरोपीय भाषाओं के शब्दों से कुछ न कुछ काम लेना पड़ेगा और यदि उनको विदेशी शब्दों से चिढ़ है तो उनकी भाषा ऐसी होगी कि जिसे समझने के लिये पाठकों को उन्हीं से पूछना पड़ेगा।

× × ×

...इसी प्रकार से फारसी और अरबी के बहुत से शब्द हिंदी में मिल गए हैं जिनमें से कुछ का तो रूप बदल गया है और कुछ ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। इसलिये जो लोग यह कहते हैं कि हिंदी में अरबी फारसी के किसी शब्द का प्रयोग न हो उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि क्यों अरबी फारसी ही पर यह दंड लगाया जाय, क्यों न यह नियम कर दिया जाय कि जितने शब्द संस्कृत के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा से आ गए हैं वे सब निकाल दिए जायँ? हम लोगों का यह मत है कि जो शब्द अरबी फारसी वा अन्य भाषाओं के हिंदी-वत् हो गए हैं तथा जिनका पूर्ण प्रचार है वे हिंदी ही के शब्द माने जायँ और उनका प्रयोग दूषित न समझा जाय।

हिंदीलेखकों और हिंदीहितैषियों में से एक दल ऐसा है जो इस मत का पोषक है कि हिंदी में हिंदी के शब्द रहें संस्कृत के शब्दों का प्रयोग न हो। यह सम्मति युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती।...यह उद्योग कि हिंदी से वे सब संस्कृत के शब्द निकाल दिए जायँ जो हिंदी-वत् नहीं हो गए हैं सर्वथा निष्फल और असंभव है। संस्कृत के शब्दों से अवश्यमेव सहायता ली जायगी पर इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ शुद्ध हिंदी से काम चल जाय और भाषा में किसी प्रकार का दोष न आता हो वहाँ संस्कृत के शब्दों की वृथा भरती न की जाय। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि संस्कृत के शब्दों का ही अधिक प्रयोग हो, विदेशी भाषा के सरल शब्द के स्थान पर भी यदि संस्कृत के एक कठिन शब्द से काम चल सके तो संस्कृत शब्द ही काम में लाया जाय, विदेशी भाषा का शब्द निकाल दिया जाय। इन महाशयों के मत से भाषा ऐसी कठिन हो जायगी कि उसका समझना सब लोगों का काम न होगा। हिंदी भाषा में विशेष गुण यह है कि वह सरलता और सुगमता से समझ में आती है...। संस्कृत शब्दों के अधिक प्रचार से यह गुण जाता रहेगा। हाँ, यह बात अवश्य है कि भाषा सब श्रेणी के लोगों के पढ़ने योग्य हो—पर क्या संस्कृत के कठिन शब्दों के बिना यह नहीं हो सकता?

विदेशी भाषा के शब्दों के विषय में इतना कहना और रह गया है कि जिन शब्दों का भाषा में प्रचार हो गया है उनके छोड़ने वा निकालने का उद्योग अब निष्फल, निष्प्रयोजक और असंभव है। हाँ, भविष्यत में विदेशी भाषा के नवीन शब्दों को प्रचलित करते समय

इस बात पर पूर्णतया ध्यान रखा जाय कि उन विदेशी शब्दों का हिंदी में प्रयोग न हो जिनके लिये हिंदी या संस्कृत में ठीक वही अर्थवाचक शब्द हैं। सब पक्षों पर ध्यान देकर हम लोगों का सिद्धांत यह है कि हिंदी लिखने में जहाँ तक हो सके फारसी अरबी तथा और विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्दों का प्रयोग न किया जाय जिनके स्थान पर हिंदी के अथवा संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्द उपस्थित हैं पर विदेशी भाषाओं के ऐसे शब्द जो पूर्णतया प्रचलित हो गए हैं और जिनके स्थान पर हिंदी के शब्द नहीं हैं अथवा जिनके स्थान पर संस्कृत के शब्द रखने से कष्टार्थ दूषण की संभावना है, ज्यों के त्यों लिखे जाने चाहिएँ। सारांश यह कि सबसे पहिला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को, उसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाय। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।

भिन्न भिन्न विषयों तथा अवसरों के निमित्त भिन्न-भिन्न प्रणाली आवश्यक है। जो ग्रंथ वा लेख इस प्रयोजन से लिखे जायँ कि सर्वसाधारण उन्हें समझ सकें उनकी भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए कि सर्व-बोध-गम्य हो। जहाँ तक हो सीधे सरल शब्दों का प्रयोग हो, फारसी और अरबी के अप्रचलित शब्दों का प्रचार न हो। उच्च श्रेणी के पाठकों के लिये जो ग्रंथ लिखे जायँ और जिनके द्वारा लेखक साहित्य की उच्चतम शब्द छटा दिखलाना चाहता हो उसमें निस्संदेह संस्कृत के शब्द आवें पर फिर भी जहाँ तक संभव हो कठिनतर शब्दों का प्रयोग न हो। भाषा में गंभीरता संस्कृत के कठोर शब्दों के प्रयोग से नहीं आ सकती। सुंदर-शब्द-योजना और मुहाविरा ही भाषा का मुख्य भूषण है। जैसे यदि किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया गया तो उसमें इस प्रकार की भाषा सर्वथा अनुचित है—

"अहा! यह कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु साम्प्रत प्राप्त हुई है और चतुर्दिक कुज्झटिकापात से नेत्र की गति स्तम्भित हो गई है, प्रतिक्षण अभ्र में चंचला पुंश्चली स्त्री की भांति नर्तन करती है और वैसे ही बकावली उड्डीयमाना होकर इतस्ततः भ्रमण कर रही है। मयूरादि अनेक पक्षीगण प्रफुल्लित चित्त से रव कर रहे हैं और वैसे ही दर्दुर गण भी पंकाभिषेक करके कुकवियों की भाँति कर्णवेधक टक्काझङ्कार सा भयानक शब्द करते हैं।"

इसमें संस्कृत के शब्द कूट कूट कर भर दिए गए हैं। चाहे कैसा ही ग्रंथ क्यों न लिखा जाय उसमें इस प्रकार की भाषा न लिखनी चाहिए। इससे तो यदि संस्कृत ही लिखी जाय तो श्रेय है। भाषा का दूसरा उदाहरण देखिए—

"सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया, पुल टूट गए, बाँध खुल गए, पंक से पृथ्वी भर गई, पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए, बहुत वृक्ष कूल समेत तोड़ गिराए, सर्प बिलों से बाहर निकले, महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्र स्त्रियों की भाँति उमड़ चलीं।"

इसमें भी संस्कृत के शब्द हैं पर ये इतने सामान्य और सरल हैं कि उनका प्रयोग अग्राह्य नहीं है। ऐसी ही भाषा हम लोगों की आदर्श होनी चाहिए। भाषा के दो अंग हैं, एक साहित्य और दूसरा व्यवहार। साहित्य की भाषा सर्वदा उच्च होनी चाहिए, इसका ढंग सर्वथा ग्रंथकर्ता के आधीन है, वह अपनी रुचि तथा विषय के अनुसार उसे क्लिष्ट और सरल लिख सकता है। संस्कृत या विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी उसी की इच्छा पर निर्भर है। इसमें बाधा डालकर ग्रंथकर्ता की बुद्धि के वेग को रोककर उसे सीमाबद्ध कर देने का अधिकार किसी को नहीं है परंतु व्यवहार संबंधीय लेखों में अवश्य वही भाषा रहनी चाहिए जो सबकी समझ में आ सके, उसमें किसी भाषा के भी प्रचलित शब्द प्रयोग किए जा सकते हैं। अदालत के सब काम, नित्य की व्यवहार संबंधीय लिखापढ़ी सर्वसाधारण में वितरण करने योग्य लेख या पुस्तकें, समाचारपत्रादि जितने विषय कि सर्वसाधारण के साथ संबंध रखते हैं उनमें ऐसी सरल बोलचाल की भाषा आनी चाहिए जो सबकी समझ में आ जाय, उसके लिये उच्च हिंदी होनी आवश्यक नहीं है, वह ऐसी होनी चाहिए कि जिसे ऐसा मनुष्य भी कि जो केवल नागरी अक्षर पढ़ सकता हो समझ ले। पाठशालाओं में पढ़ाने का क्रम ऐसा होना चाहिए कि जिसमें सब प्रकार की भाषा समझने की योग्यता बालक को हो जाय। प्रारंभिक पुस्तकें अत्यंत ही सरल होनी चाहिएँ, उनमें उच्च हिंदी का विचार आवश्यक नहीं, फिर क्रम क्रम से भाषा कठिन होनी चाहिए जिसमें कठिन से कठिन भाषा-ग्रंथों के समझने की योग्यता हो जाय। व्यावहारिक लेखों की भाषा पाठशालाओं में सिखलाना व्यर्थ है क्योंकि उसे तो केवल अक्षर पहिचान लेने ही से इस देश के निवासी समझ लेंगे।

शास्त्रीय ग्रंथों में पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर भाषा अत्यंत सरल और सीधी हो क्योंकि विषय की कठिनता के साथ यदि भाषा भी कठिन हुई तो उसका अर्थ समझ ही में न आवेगा और लेखक का उद्योग निष्फल होगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी

प्रस्तुत अंक में 'चयन' के अंतर्गत हम अंग्रेजी शिक्षितों की हिंदी के प्रति उपेक्षा के विषय में प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेंद्र

वर्मा का वक्तव्य उद्धृत कर चुके हैं। हाल ही में समाचारपत्रों से यह जानकर कि प्रयाग विश्वविद्यालय ने इसी वर्ष के सत्रारंभ से बी० ए०, बी० एस-सी० और बी० काम० के प्रथम वर्ष के छात्रों को नागरी हिंदी में शिक्षा देने का निश्चय किया है, प्रत्येक हिंदीप्रेमी ही नहीं प्रत्येक भारतीय शिक्षाप्रेमी को आंतरिक प्रसन्नता होनी चाहिए। कार्य करने की इच्छा के अभाव में अच्छे से अच्छे निश्चय करके भी उन्हें कार्यान्वित न करने के लिये अनेक दुस्तर कठिनाइयों की कल्पित बाधा उपस्थित की जा सकती है, परंतु सत्संकल्प को पूरा करने का दृढ़ निश्चय सभी बाधाओं को दूर करने का उपाय भी निकाल सकता है। प्रयाग विश्वविद्यालय का निश्चय इसका उदाहरण है जिसके लिये उक्त विश्वविद्यालय बधाई का पात्र है।

उपर्युक्त निश्चय के अनुसार सन १९५३ तक आवश्यक पाठ्य पुस्तकें तैयार करा ली जायँगी और तब तक आवश्यकतानुसार अंग्रेजी पुस्तकों से भी सहायता ली जायगी। प्रश्नपत्र भी हिंदी में बनेंगे, जिनमें हिंदी में अनूदित पारिभाषिक शब्दों के आगे उनके अंग्रेजी प्रतिशब्द भी दिए जायंगे। सन् १९५५ तक प्रश्नपत्र अंग्रेजी हिंदी दोनों में बनेंगे, उसके बाद केवल हिंदी में। अहिंदीभाषी छात्रों और अध्यापकों को हिंदी विभाग की सहायता से विशेष रूप से हिंदी पढ़ाने का प्रबंध किया जायगा। यह व्यवस्था उपयुक्त और सुंदर है। परंतु जो प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष को अपने विभाग में शिक्षा का माध्यम हिंदी या अंग्रेजी रखने की छूट दी गई है, उसकी अवधि भी सन् १९५५ तक ही निश्चित कर देना उचित होगा।

आशा है अन्य विश्वविद्यालय भी शीघ्र सत्साहस के साथ इस दिशा में अग्रसर होंगे।

पटियाला राज्यसंघ में हिंदी

हिंदी के भारतीय संघ की राजभाषा घोषित हो जाने से कम से कम संघीय विषयों में उन राज्यों के लिये भी हिंदी का व्यवहार अनिवार्य है जिनकी प्रादेशिक भाषा हिंदी नहीं है। अतः यदि वे राज्य अपनी प्रादेशिक भाषा के साथ साथ हिंदी को भी राज्य की एक सरकारी भाषा तथा उच्च शिक्षा के माध्यम रूप में स्वीकृत कर लें तो यह उनके हित की ही बात होगी। हिंदी के व्यवहार से प्रादेशिक भाषा

को कोई क्षति पहुँचने की आशंका तो है ही नहीं, परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा वह और अधिक संपन्न ही होगी। वे राज्य देश के हृदय से निकटतर संबंध रखने में समर्थ होंगे और संघ शासन में अपना उचित अधिकार प्राप्त करने में भी उन्हें सुगमता होगी। इस बात पर सभी अहिंदीभाषी राज्यों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। और जिन राज्यों में एकाधिक प्रादेशिक भाषाएँ प्रचलित हों तथा हिंदी भी उनमें एक हो, उनपर तो राज्य की मुख्य भाषा के साथ हिंदी को सरकारी भाषा स्वीकार करने का नैतिक दायित्व भी है।

पटियाला राज्यसंघ की प्रधान भाषा पंजाबी है, परंतु वहाँ सभी लोग बराबर हिंदी बोलते और समझते हैं। वहाँ पंजाबी के साथ साथ हिंदी को भी राज्य की एक भाषा स्वीकार कर लेना सर्वथा उचित होगा। परंतु खेद है कि वहाँ के सिक्ख इसका विरोध कर रहे हैं जब कि स्वयं शासन इसके पक्ष में है। विरोध करनेवाले सिक्ख भाई भूल जाते हैं कि उनके पूज्य ग्रंथ साहब में अनेक संतों की हिंदी रचनाएँ संगृहीत हैं और स्वयं गुरु अर्जुनसिंह ने उनका संकलन करवाया था। भारत-गौरव गुरु गोविंदसिंह तो हिंदी कवियों को आदरपूर्वक आश्रय देते थे और स्वयं हिंदी में रचनाएँ भी करते थे। ये गुरु भली भाँति जानते थे कि देश की व्यापक और सामान्य भाषा हिंदी ही है, इसीलिये वे इसका आदर करते थे। आज सिक्ख लोग किस कारण इतनी संकीर्णता दिखा रहे हैं? उन्हें तो अपने पूज्य गुरुओं का अनुसरण करते हुए शासन द्वारा हिंदी को स्वीकृत कराने के लिये स्वयं आगे बढ़ना उचित है, न कि उसका विरोध करना, जब कि शासक उसके पक्ष में हों।

—संपादक

सभा की प्रगति

[वैशाख—आषाढ़ संवत् २००८]

सभा का अट्ठावनवाँ वार्षिक अधिवेशन रविवार १६ वैशाख को हुआ जिसमें निम्नलिखित कार्याधिकारी और प्रबंध समिति के सदस्य चुने गए—

कार्याधिकारी

सभापति आचार्य नरेंद्र देव। उपसभापति (१) श्री रामचंद्र वर्मा, (२) श्री सहदेव सिंह। प्रधान मंत्री—श्री रत्नशंकर प्रसाद। साहित्य मंत्री—श्री पद्मनारायण आचार्य। अर्थ मंत्री—श्री व्रजरत्न दास। प्रकाशन मंत्री—श्री मुरारी लाल केडिया। प्रचार मंत्री—श्री काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'। संपत्ति-निरीक्षक—श्री शुकदेव सिंह। पुस्तकालय निरीक्षक—श्री जीवनदास। आय-व्यय निरीक्षक—श्री एस० के० मिश्र एंड कं०।

प्रबंध समिति के सदस्य

संवत् २००८ से २०१० तक

काशी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; श्री उदयशंकर शास्त्री; श्री ठाकुरदास ऐडवोकेट; श्री रामनारायण मिश्र; श्री राजेंद्रनारायण शर्मा। बंबई—श्री घनश्यामदास पोद्दार। मध्यप्रदेश—श्री नंददुलारे वाजपेयी। उत्तर प्रदेश—डा० धीरेंद्र वर्मा। राज्य—महाराजकुमार डा० रघुबीर सिंह; श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी; श्री शांतिप्रिय आत्माराम। सिंहल—श्री ना० नागप्पा। मद्रास—श्री हनुमत् शास्त्री।

संवत् २००८ और २००९ के लिये

काशी—श्री दिलीपनारायण सिंह; श्री राय कृष्णदास; श्री श्रीनिवास; श्री शिवकुमार सिंह; श्री गिरिजाशंकर गौड़। उत्तर प्रदेश—श्री मैथिली शरण गुप्त; श्री भगवतीशरण सिंह। राज्य—श्री झाबरमल्ल शर्मा; श्री मोतीलाल मेनारिया। सिंध—रिक्त। दिल्ली—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। आसाम—श्री श्रीप्रकाश। मैसूर—श्री जी० सच्चिदानंद। रूस—श्री ए० बारान्निकोव। विदेश-रिक्त।

संवत् २००८ के लिये

काशी—श्री बच्चन सिंह; श्री करुणापति त्रिपाठी; श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र; श्री कृष्णानंद; श्री देवीनारायण एडवोकेट। बंगाल—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी। उत्कल—श्री गोविंदचंद्र मित्र। उत्तर प्रदेश—श्री गोपालचंद्र सिंह; श्री अशोक जी। पंजाब—श्री जगन्नाथ पुच्छरत। राज्य—श्री विद्याधर शास्त्री। बिहार—श्री शिवपूजन सहाय। ब्रह्मदेश—डा० ओमप्रकाश।

नियम-परिवर्द्धन

उक्त वार्षिक अधिवेशन में सभा की नियमावली में निम्नलिखित परिवर्द्धन स्वीकृत हुआ—

(१) प्रत्येक स्थायी कर्मचारी को निम्नलिखित छुट्टी सभा से मिलेगी—

क—आकस्मिक छुट्टी वर्ष में १४ दिनों की सवेतन मिलेगी।

ख—किसी रजिस्टर्ड वैद्य, डाक्टर अथवा हकीम के प्रमाणपत्र पर बीमारी की छुट्टी वर्ष में एक मास तक आधे वेतन पर मिलेगी। यह छुट्टी प्रबंध समिति की स्वीकृति से मिलेगी। यह एकत्र होती रहेगी, किंतु एक बार तीन मास से अधिक नहीं मिलेगी। तीन वर्ष की सेवा के उपरांत यह छुट्टी प्राप्य होगी।

ग—रियायती (साधारण) छुट्टी ग्यारह महीने की सेवा के उपरांत एक महीने की सवेतन मिलेगी। प्रबंध समिति को इसकी स्वीकृति का अधिकार होगा। यह छुट्टी एकत्र होती रहेगी, किंतु एक बार तीन मास से अधिक लेने का अधिकार न होगा।

घ—अस्थायी कर्मचारियों को महीने में दो दिन की सवेतन छुट्टी दी जायगी।

(२) कोई भी छुट्टी देने के लिये सभा बाध्य नहीं होगी।

(३) उपर्युक्त छुट्टियों के अतिरिक्त और कोई छुट्टी न दी जायगी।

(४) इसके अतिरिक्त प्रबंध समिति को अधिकार होगा कि किसी व्यक्ति को किसी प्रकार की छुट्टी सवेतन या अवेतन दे।

(५) इसके पहले के सब नियम रद्द हो जाते हैं।

आर्यभाषा पुस्तकालय

पुस्तकालय माघ सं० २००७ से आषाढ़ २००८ तक १४१॥ दिन और वाचनालय १६५॥ दिन खुला रहा। इस अवधि में कुल ५६ नवीन सहायक बने। एक

साधारण सहायक आजीवन सहायक बने तथा ८ सदस्यता से पृथक् हो गए। ११ व्यक्तियों ने पी-एच० डी० के लिये पुस्तकालय का उपयोग किया। दैनिक पाठकों की संख्या प्रतिदिन १२५ के लगभग रही। १६० पुस्तकें भेंट-स्वरूप, ४४ समीक्षार्थ तथा ७ परिवर्तन में प्राप्त हुईं। इनके अतिरिक्त १६ पुस्तकें क्रय की गईं। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्वैमासिक, और त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ देश-विदेश से आती रहीं जिनकी संख्या २१६ तक रही।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

इस अवधि में संवत् २००४, २००५ और २००६ वि० का खोज-संबंधी त्रवार्षिक विवरण प्रस्तुत करने का कार्य पूर्ववत् चलता रहा। इसके अतिरिक्त संवत् २००१ से २००३ तक का संक्षिप्त त्रैवार्षिक विवरण और आरंभ से लेकर अब तक (संवत् १६५७–२००८ वि०) की खोज का परिचयात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया गया। ये विवरण यथावसर नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित होंगे।

प्रकाशन

निम्नलिखित पुस्तकें इस अवधि में प्रकाशित हुईं—

१—भारतीय शिष्टाचार
२—सूरसागर खंड २ (सस्ता संस्करण)
३—संक्षिप्त हिंदी व्याकरण
४—हिंदी पद्य पारिजात भाग १
५—जायसी ग्रंथावली
६—संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर
७—कबीर ग्रंथावली
८—हिंदी साहित्य का इतिहास
६—रसखान और घनानंद

निम्नोक्त पुस्तकें छप रही हैं और बहुत शीघ्र तैयार हो जायँगी—

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास
२—धातु-विज्ञान

नागरी मुद्रणालय के लिये एक सुयोग्य सहायक व्यवस्थापक की नियुक्ति कर ली गई है तथा डबल डिमाई आकार का 'ली' नामक मुद्रणयंत्र क्रय करने की भी व्यवस्था कर ली गई है जो, आशा है, शीघ्र मिल जायगी।

सत्यज्ञान-निकेतन

आरंभ से लेकर संवत् २००७ तक का निकेतन का संक्षिप्त कार्य-विवरण इस अवधि में पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। निकेतन में पुस्तकालय का नवीन भवन बनवाने के लिये अपने स्वर्गीय पूज्य पिता राय साहब पं० चंद्रिकाप्रसाद जी तिवारी की पुण्य स्मृति में श्रीमती रामदुलारी दूबे जी द्वारा प्रदत्त जो १००००) मिले हैं उनसे नवीन भवन बनवाया जा रहा है। इस भवन का शिलान्यास १५ श्रावण २००८ को श्री महामंडलेश्वर महंत मोहनानंद जी के हाथों संपन्न हुआ।* कार्य शीघ्र समाप्त हो जाने की आशा है। सरस्वती व्याख्यान-माला के अंतर्गत विद्वानों के भाषण, साहित्य-गोष्ठी, जयंतियाँ बराबर होती रहीं।

—सहायक मंत्री

*श्री सेठ बनवारीलाल जी ठीकेदार तथा श्री बालमुकुंद जी इंजिनियर निर्माणकार्य की देखरेख निस्स्वार्थ भाव से कर रहे हैं।

रामचरितमानस

(संपादक— मानसमराल स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के 'मानस' के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं, किंतु विद्वन्मंडली और भक्त-संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षा-पूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। इसी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सभा ने स्वर्गीय चौबे जी से, जिन्होंने मानस के ही निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, आग्रह करके मानस का यह संस्करण प्रस्तुत कराया है। चौबे जी ने इसके संपादन और पाठनिर्धारण में भागवतदास, वि० सं० १७२१, सं० १७६२, छक्कनलाल, रघुनाथदास, वंदन पाठक, काशिराज, कोदोराम, श्रावणकुंज, राजापुर आदि की प्रतियों एवं मानस के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञाताओं और साधकों से सहायता लेकर अत्यंत सावधानता से गोस्वामी जी की मौलिक वाणी निर्दिष्ट की है। मानस का यह संस्करण अब तक प्रकाशित अन्य समस्त संस्करणों से शुद्ध और श्रेष्ठ है, इसमें लेशमात्र संशय नहीं। मानसप्रेमियों एवं मानस-संबंधी शोध कार्य करनेवालों के लिये यह ग्रंथ परमोपयोगी है। इसका मूल्य ७) है।

बालोपदेश

(लेखक—श्रीयुत पं० रामनारायण मिश्र)

पुस्तक का परिचय उसके नाम से व्यक्त है। बालकों को उच्च आदर्श पर ले जाने की इसे सीढ़ी ही समझिए। इसमें बालक-बालिकाओं के जानने योग्य सभी बातें संक्षेप में और सरल भाषा में दी गई हैं। मूल्य ।।)

जीवों की कहानी

(लेखक—श्री कुँवर सुरेशसिंह)

इस पुस्तक में स्तन-पायी जीवों, चिड़ियों, सरीसृपों, कीड़े-मकोड़ों और पेड़-पौधों का सचित्र और अत्यंत रोचक वर्णन है। प्राणिजगत के इन समस्त जीव-जंतुओं और पशु-पक्षियों का आकार, रंग-रूप, उनकी प्रकृति, उनके क्रिया-कलाप, उनकी उपयोगिता तथा अन्य विशेषताएँ इस ढंग से दे दी गई हैं कि थोड़ी उम्र के विद्यार्थी उनके बारे में आवश्यक ज्ञान सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। डबल फुलिस्केप अठ-पेजी आकार के लगभग १०० पृष्ठ, सजिल्द, तिरंगा कवर, मूल्य ४) मात्र।
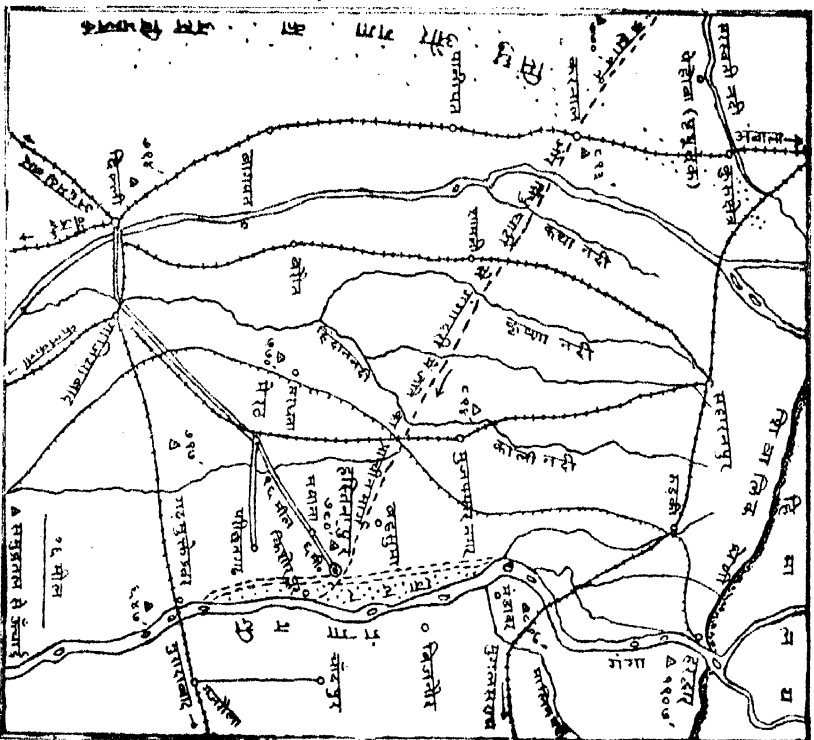
चित्र सं० १

हस्तिनापुर और उसके आसपास का प्रदेश (प्राचीन कुरु)।
इसके पूर्व में गंगापार पांचाल देश तथा दक्षिण में शूरसेन थ
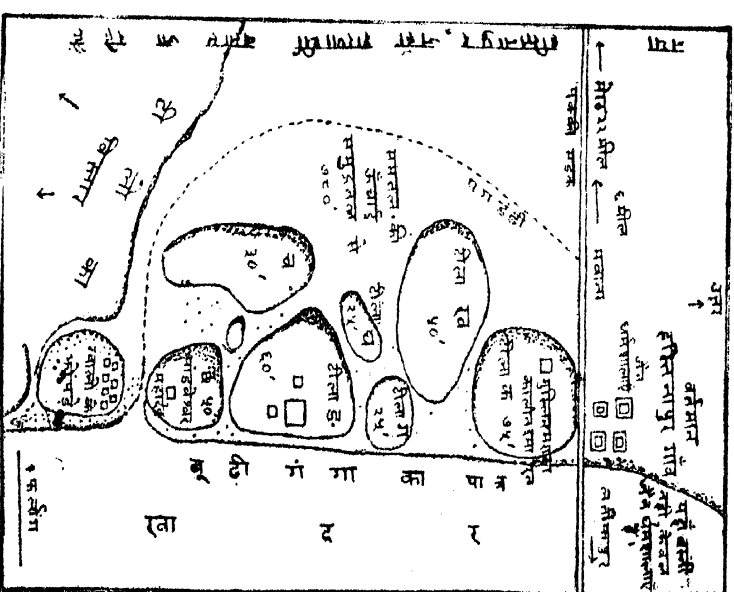
चित्र सं० २

हस्तिनापुर के अवशेषों का मानचित्र।

चित्र सं० ३

मेरठ-मवाना की ओर से आते हुए पूर्व को ओर प्राचीन हस्तिनापुर के टीलों का दृश्य। यह टीला क है और इसकी तलहटी में उत्तर की ओर आधुनिक हस्तिनापुर ग्राम दिखाई देता है।

चित्र सं० ४

टीला क पर से वर्तमान हस्तिनापुर का दृश्य। बीच में मेरठ और मवाना से आनेवाली सड़क दिखाई देती है।

चित्र सं० ५

प्रागैतिहासिक हस्तिनापुर का टीला ख

चित्र सं० ६

प्रागैतिहासिक हस्तिनापुर के ध्वंसावशेष, जो अब टीलों में दब गए हैं

चित्र सं० ७

हस्तिनापुर के टीले ख, ङ और च के ढालों पर से प्राप्त चित्रित मृद्भांडों के टुकड़े। इनकी सतह लाल रंग की है जिसपर काले रंग में आकृतियाँ चित्रित हैं। ये तेज चलते हुए चाक पर उतारे गए हैं। इस चित्र में नीचे सफेद सतह पर भूरे रंग के चित्रित भांड दिखाए गए हैं। दाहिने किनारे पर पत्थर का एक मनका है। लेखक के मत से चित्रांकित लाल भांड इन भूरे भांडों तथा रोगनदार काले भांडों से पूर्व के हैं।
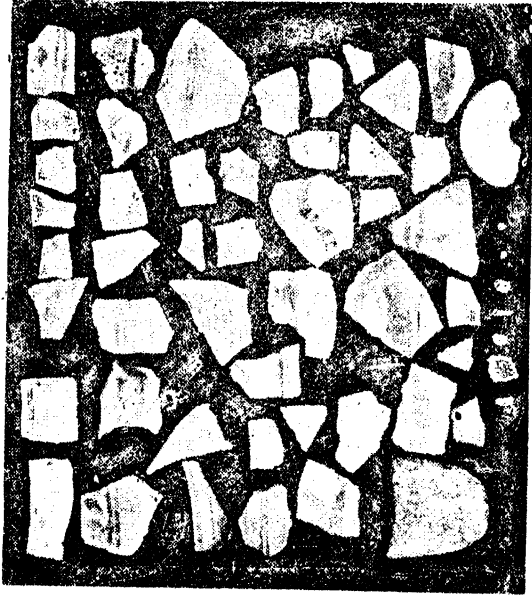
चित्र सं० ८

माहिष्मती-सभ्यता के चित्रित मृद्भांड और अन्य प्रागैतिहासिक वस्तुएँ। इन मृद्भांडों का रंग लाल है और इनपर जामुनी तथा काले रंग में चित्रांकन किया गया है। कुछ भांडों पर बलूचिस्तान और सिंध की मोहेंजोदड़ो से पूर्व की सभ्यताओं के भांडों की भाँति काले और लाल तथा केवल लाल रंग में ही चित्रांकन किया गया है। इन भांडों के साथ धातु की वस्तुएँ नहीं मिलतीं, परंतु पाषाण की प्राप्त होती हैं।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५६] संवत् २००८ [अंक २

हस्तिनापुर के प्रागैतिहासिक ध्वंसावशेष

गंगा काँठे में प्रागैतिहासिक अन्वेषण का आरंभ

[श्री अमृत पंड्या]

हड़प्पा सभ्यता

संसार के इतिहास में ईराक और मिस्र मानव-संस्कृति के आदि केंद्र प्रमाणित हो चुके हैं। इस ओर सिंधु की उपत्यका में हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के उत्खनन द्वारा भारतीय संस्कृति अति प्राचीन सिद्ध हो चुकी है। परंतु सिंधु की इस हड़प्पा सभ्यता के विषय में बताया जाता है कि वह किसी आर्येतर जाति की थी और इसके पश्चात् लगभग ई० पू० १५०० में उत्तर भारत में आर्यों का आगमन हुआ था।[1] परंतु भारतीय आर्यों द्वारा रचित साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि यदि वेद-पुराणादि की बातों में सत्यांश हो तो भारत में आर्यों का इतिहास इससे कहीं अधिक प्राचीन होना चाहिए। सच पूछा जाय तो आर्य जाति की प्राचीनता, उसके आदि निवास और देशदेशांतरों में उसके प्रसार के प्रश्न को पुरातत्त्व द्वारा हल करने का अब तक प्रयास ही नहीं

१—ई० मैके, 'अर्ली इंडस सिविलिजेशन्स' (लंडन, १९४८), पृ० १४६-१५६; "एंशेंट इंडिया" (जनवरी १९४७), आर० ई० एम० व्हीलर का लेख—'हरप्पा १९४६—हरप्पन क्रानालाजी ऐंड द ऋग्वेद'।

नहीं किया गया है, केवल भाषाविज्ञान के आधार पर आर्यों के आदि इतिहास की समस्याएँ सुलझाने के प्रयत्न होते रहे हैं।

ई० पू० लगभग ३००० से १२०० तक सिंधु नदी की घाटी में हड़प्पा सभ्यता (मोहेंजोदड़ो की सिंधु-सभ्यता को अब यह नाम दिया गया है) का आधिपत्य था। पंजाब में पूर्व की ओर रूपड़ तक इसके अवशेष प्राप्त हो चुके हैं,[२] परंतु गंगा की उपत्यका तक यह जा पहुँची थी कि नहीं, और यदि पहुँची हो तो वहाँ उस समय किस सभ्यता का अस्तित्व था, इस विषय में हम आज तक कुछ नहीं जानते, न हमें भारत के उस विस्तृत भाग के प्राग्बौद्धकालीन इतिहास के विषय में कुछ ज्ञात है जो सिंधु-घाटी (पंजाब और सिंध) के नीचे राजस्थान से लेकर कन्याकुमारी तक फैला हुआ है।

हमारे देश की प्रागैतिहासिक सभ्यताएँ

हमारे देश का क्रमबद्ध इतिहास हमें भगवान बुद्ध के जीवनकाल से प्राप्त होता है, अतः इससे पूर्व का हमारा इतिहास प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व (प्रिहिस्टारिक आर्क्यालाजी या प्रिहिस्ट्री) के कार्यक्षेत्र में समाविष्ट होता है। भारत में शिशुनाग वंश के आरंभ (ई० पू० लगभग ६५०) के पूर्व के किसी भी अवशेष को प्रागैतिहासिक कह सकते हैं।

भारत में प्रागैतिहासिक अवशेषों को पहचानने का कार्य अन्य देशों की अपेक्षा कुछ कठिन है। इस कार्य में जो अनेक पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं उनमें से यहाँ हम केवल दो-तीन का उल्लेख करेंगे। मानव-संस्कृति के निर्माण में लोहे के उपयोग का आरंभ एशिया, उत्तर अफ्रीका और यूरप में ई० पू० १५०० के लगभग हुआ समझा जाता है।[3] इसके पूर्व ताँबे-काँसे का व्यवहार होता था। इन धातुओं के पूर्व लगभग ई० पू० ५००० से पहले पाषाण को उपयोग में लाया जाता था। परंतु लोहे की भाँति ताँबा सभी जगह सुलभ नहीं होता। जिन प्रदेशों में ताँबा बहुत कम मिलता था या उसका नितांत अभाव था वहाँ लोहे के आगमन अर्थात् ई० पू० १५०० तक लोग पाषाण का ही उपयोग करते रहे। अतः किसी

२—ई० मैके, उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ५

३—जे० कागिन ब्राउन, 'प्रिहिस्टारिक ऐंटिक्विटीज़ इन द इंडियन म्यूज़ियम', शिमला, १९१७, पृ० १३

प्राचीन अवशेष में लोहे की वस्तुएँ न मिलें और उसके बदले ताँबे या पत्थर की मिलें तो वह अवश्य ही ई० पू० १५०० के पहले का होना चाहिए। मिट्टी के पात्र और उनकी कला भी इस कार्य में बहुत सहायक होती है। मिट्टी के पात्र दो प्रकार के होते हैं—चित्रित और सादे। चित्रित पात्रों पर जो आकृतियाँ अंकित होती हैं वे प्रत्येक जाति या फिर्के की अलग अलग प्रकार की होती हैं। इन पात्रों का अध्ययन करके प्राचीन बरतन-भांडों का विशेषज्ञ पुराविद् यह बतला सकता है कि कौन से पात्र किस जाति के, कहाँ से आए हुए और कितने प्राचीन हो सकते हैं तथा उनसे संबंधित जातियों में परस्पर सांस्कृतिक संबंध था या नहीं और यदि था तो किस प्रकार का। पश्चिम एशिया में सीरिया, ईराक और ईरान आदि से लेकर बलूचिस्तान, सिंध और पंजाब तक के विस्तृत प्रदेश में मुख्यतः इन चित्रित मिट्टी के पात्रों और उनकी कला के आधार पर ही प्रागैतिहासिक ग्रामों और नगरों के अवशेषों को पुराविदों ने खोज निकाला है।

सिंधु-घाटी अब पाकिस्तान के अंतर्गत है जिसमें मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हुदड़ो के विश्वविख्यात प्रागैतिहासिक नगरों के ध्वंसावशेष स्थित हैं। देश के विभाजन के पश्चात् भारत के पास न कोई प्रागैतिहासिक सभ्यता रही और न उसे गौरवान्वित करनेवाले किसी प्रागैतिहासिक नगर के अवशेष रह पाए हैं। भारत के इतिहास-काल का आरंभ ई० पू० सातवीं शती से होता है, जब कि पश्चिम एशिया के ईराकादि देशों और मिस्र के इतिहास-काल का आरंभ ई० पू० बत्तीसवीं शती से होता है। हमारे पुराणादि प्राचीन साहित्य में इस देश का प्राग्बौद्ध काल का बहुत लंबा-चौड़ा और सहस्रों वर्ष का इतिहास मिलता है, परंतु इस इतिहास की सत्यता जब तक पुरातत्त्व की खोजों और खुदाइयों द्वारा प्रमाणित न हो जाय तब तक दुनिया उसको इतिहास नहीं मान सकती। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसको हम आर्य जाति या आर्य सभ्यता कहते हैं और जिसपर हम गर्व करते हैं उसके अवशेष या उसकी पुरातन वस्तुएँ हमें आज तक प्राप्त नहीं हो सकी हैं। कोई भी सभ्यता अपने प्राचीन अवशेष छोड़े बिना नहीं रहती, यह एक स्वयंसिद्ध बात है। इस दृष्टि से यह मानना भूल है कि आर्य संस्कृति के अवशेष भारत में या अन्यत्र प्राप्त नहीं होते। सच बात यह है कि कौन से अवशेष आर्यों के हैं और कौन से आर्येतर लोगों के, यह हम पहचान नहीं रहे हैं।

मानव संस्कृति के आदि केंद्र

मानव-संस्कृति का ढाँचा आरंभ काल से ही खेती पर अवलंबित

रहा है। मानव-इतिहास में जब खेती नहीं थी तब संस्कृति जैसी कोई वस्तु नहीं थी। मानव-इतिहास का प्राकृतिक भूगोल के साथ गहरा संबंध है। खेती के लिये सबसे उपयुक्त प्रदेश ही संस्कृति के आदि केंद्र बने हैं, जैसे दक्षिण ईराक और मिस्र। भूमि यदि उपजाऊ हो और सिंचाई के लिये जल पर्याप्त न हो तो कृषक उसे पसंद न करेगा। खेती के लिये भूमि की उर्वरता की दृष्टि से बड़ी नदियों द्वारा निर्मित मैदान (अल्यूवियल प्लेन्स) बसने के लिये सर्वोत्तम प्रदेश होते हैं। पूर्वी गोलार्ध में ऐसे मैदान हैं—यूरप में डन्यूब और नीपर की घाटियाँ, उत्तरी अफ्रीका में नील की उपत्यका, पश्चिम-एशिया में फ्रात और तिग्र का काँठा, भारत में सिंधु, सरस्वती और गंगा के मैदान और चीन में ह्वांगहो का प्रदेश। पुरातत्त्व की अद्यतन खोजों से ज्ञात हुआ है कि मध्यएशिया से लेकर अफगानिस्तान, ईरान और उत्तरी ईराक होते हुए लघुएशिया तक जो विस्तृत उच्च प्रदेश फैला है उसपर ई० पू० ८००० और ५००० के बीच जहाँ तहाँ बसे हुए मानव-समुदायों में खेती का सर्वप्रथम अविष्कार हुआ था।[४] लगभग ई० पू० ५००० से इस उच्च प्रदेश का जलवायु गरम होने लगा और यह मरुस्थल बनने लगा। फलतः ज्यों-ज्यों इसमें शुष्कता आती गई त्यों-त्यों आदि-कृषकों के समुदाय इस प्रदेश को छोड़ने लगे। इस उच्च प्रदेश से सटे हुए बड़ी नदियों द्वारा विरचित उर्वरा भूमि के तीन प्रदेश थे—नील की उपत्यका (मिस्र), उफ्रातु और तिग्रा का काँठा (ईराक) और सिंधु, सरस्वती और गंगा के मैदान (उत्तर भारत)। स्वभावतः इन्हीं प्रदेशों में उपर्युक्त आदि-कृषकगण सबसे पहले आकर बसे। यही कारण है कि विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियाँ इन तीन प्रदेशों में ही पनपीं। इन प्रदेशों में खेती की दृष्टि से भूमि की उर्वरता और सिंचाई के लिये जो सर्वोत्तम भाग थे उन्हीं में ये आदि-कृषक, इन प्रदेशों के अपेक्षाकृत दूर होते हुए भी, सबसे पहले जाकर बसे। उदाहरणार्थ, उत्तरी ईराक के ईरानी उच्च प्रदेश से निकट होते हुए भी, उपर्युक्त दृष्टि से उत्तरी ईराक की अपेक्षा दक्षिणी ईराक के विशेष उपयुक्त होने के कारण आदि-कृषकगण सबसे पहले दक्षिणी ईराक में ही उफ्रातु और तिग्रा के मुहाने में जाकर बसे। इनके बाद आनेवाले कृषक मध्य ईराक में और सबसे पीछे आनेवाले उत्तरी ईराक में बसे। दक्षिणी ईराक को इन आदि-कृषकों ने 'शुमिर' नाम दिया, जिसे यूरोपीय विद्वान् 'सुमेर' कहते हैं। सुमेर की भूमि अत्यंत उर्वरा होने से

४—वी० जी० चाइल्ड, 'प्रोग्रेस ऐंड आर्क्यालाजी', १९४५, पृ० १७

प्रत्येक सुमेरवासी कुटुंब खेती द्वारा अपने भरण-पोषण की आवश्यकता के अतिरिक्त काफी अधिक परिमाण में अन्न बचाने में समर्थ होने लगा। इस अतिरिक्त अन्न (जिसे हम पूँजी कह सकते हैं) के बदले में वह अपनी आवश्यकताओं और आराम के लिये अनेक वस्तुएँ प्राप्त कर सकता था। इसी पूँजी के कारण सुमेरवासी व्यापारी और कलाकार बने तथा इन्होंने ही विश्व के सबसे पहले नगर बसाए।

गंगा का काँठा

उत्तर-भारत में सिंधु की घाटी की अपेक्षा गंगा का काँठा अधिक उर्वर रहा है। हिमालय निकट होने से इसमें सिंधु की घाटी की अपेक्षा वर्षा अधिक होती है। इस गंगा-घाटी में भी उत्तरी भाग की अपेक्षा दक्षिणी और पूर्वी भाग में वर्षा विशेष होती है।[५] अतः ईराक की भूमिपर आदि-कृषकों के बसने के क्रम को दृष्टि में रखते हुए हम कह सकते हैं कि जो आदि-कृषक उत्तर-भारत में आए होंगे वे पंजाब में स्थायी रूप से न बसे होंगे, अपितु वे क्रमशः अधिक उपजाऊ और जलपूर्ण गंगा-काँठे में आगे बढ़ते चले गए होंगे और इसके दक्षिणी भाग में जाकर स्थायी रूप से बसे होंगे। जिस प्रकार ईराक के सबसे अधिक उपजाऊ सुमेर प्रदेश में ये आदि-कृषक सबसे अधिक समृद्ध हुए और सबसे प्रथम नगर वहाँ बसा सके, उसी प्रकार उत्तर-भारत में आनेवाले आदि-कृषक गंगा-घाटी में दोआब के उत्तरी भाग अर्थात् मुरादाबाद और बुलंदशहर जिलों से आगे घाघरा के संगम तक के प्रदेश में स्थायी रूप से बसे होंगे। अतः इसी सर्वाधिक उर्वर प्रदेश में भारत के सबसे पहले नगर बसे होंगे, अर्थात् भारतीय नागरिक जीवन का आरंभ यहीं से हुआ होगा। इनके पश्चात् जो लोग आए होंगे वे दोआब के उत्तरी भाग में और उनके बाद आनेवाले पंजाब में बसे होंगे।

५—The rainfall in the Gangetic plain is heaviest in the east, where it amounts to over 50 inches, and least in the north-west, where it is only 27 inches....Thus the rainfall is at Benares 40 inches, at Cawnpore 31 inches and at Agra 27 inches.

—इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया, यू० पी०, जिल्द १, १९०८, पृ० १६।

प्राचीन इतिहास विषयक आर्य और द्रविड़ अनुश्रुतियाँ

भारत में मुख्यतः तीन प्रकार की भाषाएँ बोलनेवाली जातियाँ प्राचीन काल से रहती आ रही हैं—मुंडा, द्रविड़ और आर्य। मुंडाभाषी लोग अब भी पिछड़े हुए हैं और उनके पास उनके आदि इतिहास संबंधी कोई किंवदंती या साहित्य नहीं है। द्रविड़ साहित्य में उस जाति का मौर्य-काल से पूर्व का वृत्तांत नहीं है और न प्राचीन तमिल साहित्य में द्रविड़ों के उत्तर-भारत में निवास की अनुश्रुतियाँ ही प्राप्त होती हैं। केवल भारतीय आर्यों का प्राचीन साहित्य ही ऐसा है जिसमें उत्तर-भारत में सबसे पहले बसनेवाले कृषकों का इतिहास मिलता है। यह इतिहास पुराण, वेद, महाभारत, रामायणादि साहित्य में वर्णित है। हम लोग आर्य जाति, उसकी प्राचीनता और उसके भारत में आने के विषय में चाहे जो कुछ समझते हों, परंतु भारतीय आर्यों का उपर्युक्त साहित्य कहता है कि उत्तर भारत के आदि-कृषक आर्य जाति के थे और उनके सबसे पहले राज्य सिंधु की नहीं प्रत्युत गंगा की घाटी में दोआब के उत्तरी भाग के नीचे स्थापित हुए थे और इसी प्रदेश में उनके, या यों कहिए कि भारत के, सबसे पहले नगर अयोध्या, प्रतिष्ठान, वाराणसी, कान्यकुब्ज इत्यादि बसे थे।

भारतीय आर्यों का पुराण-वर्णित आदि इतिहास

पुराण बताते हैं कि भारतीय आर्यों का सर्वप्रथम राजा वैवस्वत मनु चंद्रगुप्त मौर्य से १३३ पीढ़ी पूर्व हुआ था।[६] प्रत्येक पीढ़ी का औसत राज्यकाल पचीस वर्ष मानने पर पता चलता है कि मनु लगभग ई० पू० सैंतीसवीं शती (१३३×२५ =३३२५+ ई० पू० ३२२ चंद्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण=ई० पू० ३६४७) में हुआ होगा। नर्मदाघाटी में आर्य सभ्यता के भग्नावशेष पुरातत्त्व की दृष्टि से लगभग इतने ही प्राचीन सिद्ध होते हैं।[७] परंतु नर्मदाघाटी में आर्य राजाओं का आधिपत्य मनु से एक पीढ़ी अर्थात् उपर्युक्त हिसाब से लगभग ५०० वर्ष बाद हुआ था।

६—प्रस्तुत निबंध में जो पुराण-वर्णित वृत्तांतादि तथा राजाओं की पीढ़ियों की गणना दी है उनके विषय में एफ० ई० पार्जिटर कृत 'एंशंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन' का अनुसरण किया गया है।

७—द्रष्ट० अमृत पंड्या, 'माहिष्मती और हस्तिनापुर की प्रागैतिहासिक सभ्यताएँ', ["विशाल भारत" जनवरी, १९५१] और 'सौराष्ट्र बिफ़ोर द डान ऑव हिस्ट्री' [जर्नल ऑव गुजरात रिसर्च सोसायटी, जुलाई, १९५०]।

वैवस्वत मनु को भारत में नगरों का सर्वप्रथम स्थापक बताया गया है। उसने सरयू के तट पर अयोध्या को बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। पुराणादि के अनुसार अयोध्या भारत की सबसे प्राचीन नगरी है। मनु के नौ पुत्र और इला नामक पुत्री थी। इला सोम (चंद्र) के पुत्र बुध को ब्याही गई और उनसे पुरूरवा नामक पुत्र हुआ, जिसने गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठान (वर्तमान झूँसी जो इलाहाबाद के निकट है) नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। मनु विवस्वान् अर्थात् सूर्य का पुत्र था, अतः उसका वंश सूर्यवंश कहलाया। बुध से प्रतिष्ठान में जो राजवंश चला हुआ वह चंद्रवंश कहलाया, क्योंकि वह चंद्र का पुत्र था। वैवस्वत मनु के पुत्रों ने देश में अपने राज्य का खूब विस्तार किया। उसका ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु उसका उत्तराधिकारी होकर अयोध्या का राजा बना। शेष आठ पुत्रों में से चार ने चार बड़े राज्यों की स्थापना की। यथा, नाभानेदिष्ट ने वैशाली का राज्य स्थापित किया, नाभाग ने यमुना-तट को अपना राज्य बनाया, कारूष ने सोन की घाटी पर अपना प्रभुत्व जमाया और शर्याति ने पश्चिम-भारत में जाकर गुजरात में अपने राज्य की स्थापना की। कहते हैं कि मनु-पुत्री इला बाद में सुद्युम्न नामक पुरुष बनी और उसके जो पुत्र हुए उन्होंने दक्षिण-बिहार में अपना राज्य स्थापित किया। मनु के सूर्यवंश को 'मानव', इला के चंद्रवंश को 'ऐल' और सुद्युम्न के वंश को 'सौद्युम्न' वंश के नाम से भी पुकारा जाता था। ये तीन आर्य राजवंश भारत में सर्वप्रथम स्थापित हुए।

माहिष्मती

उपर्युक्त तीन आर्य राजवंशों में से प्रतिष्ठान में स्थापित ऐल अर्थात् चंद्रवंश सबसे अधिक प्रतापी हुआ। पुरूरवा के कनिष्ठ पुत्र अमावसु ने गंगातट पर कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर बसाया।[८] इस वंश की एक शाखा के रूप में हैहय वंश का उदय हुआ जो अनूप (नर्मदाघाटी) में जा बसा। अयोध्या का मांधाता बहुत प्रतापी हुआ। उसने नर्मदाघाटी को जीत लिया। उसके पुत्र मुचुकुंद ने माहिष्मती नगरी बसाई। कुछ समय के पश्चात् माहिष्मती हैहयों की राजधानी बनी और सहस्रार्जुन के समय में हैहयों का बल बहुत बढ़ गया। बाद में हिमालय से लेकर सातपुड़ा पर्वत तक के राजाओं को परास्त करके उन्होंने

८—पुरातन कन्नौज के ध्वंसावशेषों को देखने से हमें पता चला कि प्रागैतिहासिक काल में यह वस्तुतः बड़ा नगर रहा होगा। समयाभाव से हम वहाँ खोज नहीं कर सके।

अपना साम्राज्य स्थापित किया। अयोध्या के सूर्यवंश को तो उन्होंने निष्प्राणवत् बना दिया। अंत में अयोध्या के राजा सगर ने हैहयों से परास्त राजाओं को संघटित करके माहिष्मती पर आक्रमण किया। हैहय हारे और माहिष्मती नगरी का नाश हुआ। सगर मांधाता के बाद बीसवीं पीढ़ी में हुआ। प्रत्येक पीढ़ी के पचीस वर्ष मानने से ई० पू० छब्बीसवीं शती के लगभग सगर ने माहिष्मती का विध्वंस किया होगा। प्रागैतिहासिक माहिष्मती के ध्वंसावशेषों को देखने से ज्ञात हुआ है कि प्रागैतिहासिक काल में ही यह नगर उजड़ चुका था; क्योंकि इसकी सतह पर भी पाषाण के हथियार-औजारादि पाए जाते हैं, जिनसे सूचित होता है कि इसके उजड़ने के समय तक लौहयुग का आरंभ (ई० पू० १५००) नहीं हो पाया था; अर्थात् केवल पुरातत्त्व के आधार पर माहिष्मती (प्रथम) के पतन को ई० पू० १५०० के बाद में नहीं रखा जा सकता।

हस्तिनापुर का आरंभ और महत्त्व

सगर के बाद अयोध्या के सूर्यवंश का राजनीतिक महत्त्व घट गया और प्रतिष्ठान के ऐल (चंद्र) वंश का बढ़ने लगा। पुरूरवा के प्रपौत्र ययाति के पाँच पुत्र पुरु, अनु, यदु, द्रुह्यु और तुर्वसु से ऐलवंश की शाखाएँ चलीं। इन भिन्न-भिन्न शाखाओं के अनेक राज्य उत्तर में हिमालय की तलहटी से लेकर गंगा-यमुना के दोआबे को समाविष्ट करते हुए मगध तक स्थापित हो गए। इनमें मुख्य शाखा पुरु की रही जो पौरव कहलाई। इसी पौरव वंश में दुष्यंत और भरत हुए। इस भरत से पाँच पीढ़ी बाद हस्तिन् हुआ। इसने गंगा के तट पर हस्तिनापुर बसाया[९] और तबसे यह नगर पौरवों की राजधानी बना। सूर्यवंशी सगर और

९—हस्तिन् ने वास्तव में हस्तिनापुर नए सिरे से बसाया नहीं था, सिंधु सरस्वती घाटी या सप्तसिंधु से गंगाघाटी में आने के मार्ग पर गंगाघाटी के प्रवेशद्वार पर यह नगर विकसित हुआ था। हस्तिनापुर से पूर्व के इसके नाम 'आसन्दीवत्', 'नागसाह्वय', [नाग साह्वयनाग (हाथी) के समान नामवाला अर्थात् हस्तिनापुर—वासुदेवशरण अग्रवाल] इत्यादि प्राप्त होते हैं। इस नगर को राजधानी के योग्य पाकर हस्तिन् ने अपने नाम पर इसका नामकरण किया और तब से इसका राजनीतिक महत्त्व बढ़ने लगा। परंतु कालिदास 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यंत की राजधानी का नाम हस्तिनापुर लिखता है, और दुष्यंत हस्तिन् से पहले हुआ था। कुछ भी हो, यह नगर हस्तिन् से पूर्व अस्तित्व में था और शायद

इस हस्तिन् के बीच दस पीढ़ी का अंतर था, अतः हस्तिन का काल ई० पू० तेईसवीं शती रहा होगा, अर्थात् ई० पू० छब्बीसवीं शती में माहिष्मती के विध्वंस के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद हस्तिनापुर कुरु देश की राजधानी बना होगा। इसके पश्चात् अयोध्या के सूर्यवंशी राजा सुदास और चंद्रवंश की उपर्युक्त पाँच शाखाओं के बीच युद्ध होता है जिसका वर्णन ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध के नाम से मिलता है। सुदास ने हस्तिनापुर के राजा संवरण को परास्त कर उसे नगर से बाहर निकाल दिया। अयोध्या के राजवंश में दाशराज्ञ युद्ध के बाद दिलीप-खट्वांग, रघु, अज, दशरथ, राम, इत्यादि सार्वभौम राजा हुए। राम के पुत्र कुश के पश्चात् सूर्यवंश का सूर्य संध्या की ओर ढलने लगा और पुनः हस्तिनापुर के पौरवों की शक्ति और उनका महत्त्व बढ़ने लगा। पौरव संवरण ने पुनः हस्तिनापुर को प्राप्त कर लिया। संवरण का पुत्र कुरु अधिक प्रतापी हुआ और गंगा दोआब में प्रयाग से कुछ आगे तक उसने अपने राज्य का विस्तार किया। कुरु ने हस्तिनापुर के के प्रदेश को कुरु नाम दिया। उसी के नाम पर कुरुक्षेत्र बसा और उसके वंशज कौरव कहलाए। इसके कुछ समय पश्चात् महाभारत का काल आता है। उस समय सारे भारत की राजधानी के रूप में हस्तिनापुर का क्या महत्त्व था, यह बात सर्वविदित है।

हस्तिनापुर का मध्याह्न और अंत

युधिष्ठिर के पश्चात् परीक्षित और उनके पश्चात् जनमेजय (तृतीय) हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठे। जनमेजय का सर्पयज्ञ या नागजाति का पराजय एक प्रसिद्ध घटना है। जनमेजय का राज्य तक्षशिला तक विस्तृत हुआ। उनके तीन पीढ़ी बाद अधिसीमकृष्ण हुआ। इसके समय में नैमिषारण्य में दीर्घ सत्र हुआ और पुराण भी इसी समय संकलित किए गए।

पौरवों की राजधानी बन चुका था। दुष्यंत के समय में इसका नाम उपर्युक्त नामों में से एक रहा होगा, हस्तिन् के समय से हस्तिनापुर कहलाया। कालिदास ने दुष्यंत के समय के नगर का नाम हस्तिनापुर लिखा, यह भूल प्रतीत होती है। परंतु वे अभिज्ञान-शाकुंतल में इतिहास नहीं लिख रहे थे, अतः उन्होंने उस नगर का सबसे अधिक प्रचलित नाम 'हस्तिनापुर' ही लिखा।

हस्तिनापुर के इन पौरव नृपतियों ने वैदिक साहित्य की रचना को सबसे अधिक वेग दिया है। इन्हीं के राज्य में भारत युद्ध के पश्चात् ब्राह्मण तथा अन्य साहित्य की रचना हुई थी। कुरुक्षेत्र और सरस्वती-तट का उत्तरी भाग इन्हीं के आधिपत्य में था।

अधिसीमकृष्ण के पुत्र निचक्षु के राज्यकाल में गंगा की बहुत बड़ी बाढ़ आई जिसके कारण हस्तिनापुर को बहुत क्षति हुई। इस बाढ़ के बाद गंगा का प्रवाह हस्तिनापुर को छोड़कर पूर्व की ओर कुछ मील दूर हट गया। परिणाम-स्वरूप हस्तिनापुर उजड़ गया और निचक्षु ने प्रयाग के निकट कौशांबी को अपनी राजधानी बनाया। पुराणों के सुप्रसिद्ध विद्वान् पार्जिटर ने इस घटना का समय ई० पू० ८२० के लगभग बताया है।[10] इस प्रकार हस्तिनापुर लगभग ई० पू० तेईसवीं शती में बसा और ई० पू० नवीं शती में उजड़कर निर्जन बना। भारतीय इतिहास में ई० पू० सातवीं शताब्दी से पूर्व का समय प्रागैतिहासिक काल कहलाता है, अतः हस्तिनापुर को हम प्रागैतिहासिक नगर कह सकते हैं और इस दृष्टि से उसका नाश भी प्रागैतिहासिक काल में माना जा सकता है।

बौद्ध साहित्य में हस्तिनापुर

बौद्ध कथाओं के अनुसार भी हस्तिनापुर प्राग्बौद्धकालीन है। प्राचीन बौद्ध साहित्य के सोलह महाजनपदों में 'कुरु' भी एक महाजनपद था। पपंचसूदनी (१, पृ० १८४) में लिखा है कि जंबूद्वीप के चक्रवर्ती राजा मांधाता ने देवलोक के अतिरिक्त पूब्बविदेह, अपरगोयान, और उत्तरकुरु को जीता। उत्तरकुरु[11] से लौटते समय वहाँ के बहुत से निवासी उसके साथ जंबूद्वीप आ गए और जंबूद्वीप के जिस प्रदेश में ये लोग बसे उसे 'कुरुरट्ठम्' कहा जाने लगा। अपदान (२, पृ० ३५६) के अनुसार इसकी प्राचीन राजधानी हत्थिपुर थी, जिसका प्राचीन नाम था 'आसन्दीवत्'। बाद में इस देश के दक्षिण भाग की राजधानी इंद्रप्रस्थ हुई। जातक-कथाओं (कुंभजातक) के अनुसार बौद्धकाल में इसकी राजधानी कांपिल्ल थी। दिव्यावदान (पृ० ४३५) कुरुरट्ठम् की पूर्व राजधानी हस्तिनापुर बताता है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य भी कहता है कि हस्तिनापुर प्राग्बौद्धकालीन नगर है।

१०—एफ० ई० पार्जिटर, एंशंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ० ३२६

११—वाल्मीकि रामायण (किष्किंधाकांड, सर्ग ४३) और ब्रह्मांडपुराण (अध्याय ४८) द्वारा ज्ञात होता है कि उत्तरकुरु मध्यएशिया में था।

हस्तिनापुर और जैन साहित्य

प्राचीन जैन किंवदंती बताती है कि (नाभि के पुत्र) प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के सौ पुत्र थे। इनमें से एक का नाम 'कुरु' था, जिसके नाम से कुरु नामक राष्ट्र विख्यात हुआ। प्रज्ञापनासूत्र ('गयपुरं च कुरु'—अभिधान-राजेंद्र, भा० २, पृ० ३३६) के अनुसार इसकी राजधानी गजपुर या हत्थिणउर (हस्तिनापुर) थी। जैन ग्रंथों में आर्य-क्षेत्र के २५॥ देश बताए गए हैं और इनमें कुरु की भी गणना होती है। विविध तीर्थकल्प (पृ० ६४) में हस्तिनापुर का संस्थापक कुरु के पुत्र हस्ती को बताया गया है।

इस नगर को प्राकृत ग्रंथों में हत्थिणउर,[१२] हत्थिणापुर, गयउर, गयपुर, गयनगर नामों से स्मरण किया गया है तथा संस्कृत पुस्तकों में इसे गजाह्वय, गज-साह्वय, गजनगर, गजपुर, हस्तिनपुर, हस्तिनापुर, नागाह्वय, नागसाह्वय इत्यादि कहा गया है।[१३] भगवान ऋषभदेव ने जब अपने पुत्रों को राज्य बाँटा तो बाहुबलि को तक्षशिला और हस्तिनापुर का राज्य सौंपा था। सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ के पिता विश्वसेन हस्तिनापुर के राजा थे (वसुदेवहिंडी, प्रथम खंड, पृ० ३४०)। अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ के चारों कल्याणक यहीं हुए थे। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव यहाँ पधारे थे। जैन मान्यता के अनुसार भारत में प्राचीन काल में बारह चक्रवर्ती राजा हुए। इनमें से चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार यहीं हुए थे। छठे चक्रवर्ती कुंथुनाथ (ये सत्तरहवें तीर्थंकर भी थे) और आठवें चक्रवर्ती सुभौम भी यहाँ आए थे। जैन साहित्य में हस्तिनापुर के अनेक सेठ-साहूकारों और अन्य व्यक्तियों का विवरण मिलता है।

अब हम यह देखेंगे कि पुरातत्त्व का प्रकाश हमें कहाँ ले जाता है। मध्य-एशिया में अनाउ (अश्काबाद के निकट) तथा ईरान में हिसार, स्यल्क, गियान, बकुन इत्यादि स्थानों के उत्खनन में खेती के आविष्कारक आदि-कृषकों के ग्रामों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन लोगों की भांडकला (Pottery) के आधार पर ज्ञात

१२—मध्यभारत में नर्मदा-तट पर धरमपुरी के निकट 'हतनावर' नामक एक उत्तर-प्रागैतिहासिक काल के कस्बे के अवशेष प्राप्त हुए हैं। स्थानीय किंवदंती इसका मूल नाम भी हस्तिनापुर बताती है।

१३—जैनाचार्य श्री विजयेंद्रसूरि कृत 'हस्तिनापुर', पृ० २

हुआ है कि ई० पू० ६००० और ५००० के बीच मध्यएशिया और ईरान के पठारों के आदि-कृषकों की नवप्रस्तरकालीन (Neolithic) सभ्यता दो वर्गों में विभाजित हो गई थी।[१४] पहले वर्ग वाले अपने मिट्टी के पात्रों को लाल रंग से रँगते थे। अनाउ, हिसार और स्यल्क में इनकी सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ईरान के उत्तरी भाग और मध्यएशिया के पश्चिमी भाग में कास्पियन सागर के निकट ये लोग रहते थे। इनकी सभ्यता को लाल मृद्भांडों की सभ्यता (Red Ware Culture) कहते हैं। दक्षिणी ईरान से लेकर उत्तरी ईराक तक के प्रदेशों के निवासी आदि कृषक अपने मिट्टी के पात्रों को हलके बादामी रंग से रँगने लगे थे। इनकी सभ्यता बादामी मृद्भांडों की सभ्यता (Buff Ware culture) कहलाती है। दक्षिणी ईरान में बकुन, गियान और उत्तरी ईराक में हस्सुना, समारा, निनेवा और हलफ में इस सभ्यता के ग्रामों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ई० पू० ५००० और ४५०० के बीच के समय से इन लोगों ने मध्यएशिया और ईरान के पठारों से बाहर निकलकर बसना आरंभ किया। बादामी भांडों की सभ्यता वाले आदि-कृषक दक्षिणी ईरान के पश्चिम में एलाम और दक्षिणी ईराक (सुमेर) में जाकर बसे। उनकी सभ्यता प्रथम-सुसा (एलाम की) और अल-उबैद (सुमेर) की सभ्यताओं के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सर ऑरेल स्टाइन, हारग्रीव्ज और नोनीगोपाल मजूमदार के अन्वेषणों द्वारा ज्ञात हुआ है कि ये लोग दक्षिणी ईरान के पूर्व में सीस्तान और दक्षिणी बलूचिस्तान में ही नहीं आ बसे थे, बल्कि वे सिंध के मैदान में भी आ पहुँचे थे। सिंध के मैदान में मंछर झील के निकट अनेक स्थानों पर इनकी सभ्यता के अवशेष पाए गए हैं। इनकी सभ्यता को 'अमरी सभ्यता' (Amri culture) नाम दिया गया है। अमरी, गाजीशाह, पंडी

१४—इन बातों के विशेष विवरण के लिये देखिए—

(१) The Comparative Stratigraphy of Early Iran, D. E. Mc Coun, 1941, University of Chicago.

(२) Comparative Archaeology of Early Mesopotamia, A. Z. Perkins, 1941, University of Chicago.

(३) Prehistoric India, S. Piggot, 1950, Pelican Series.

वही और लोहरी के उत्खनन में हड़प्पा सभ्यता के नीचे इसके अवशेषों के पाए जाने से सिद्ध होता है कि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा नगरों के अस्तित्व के पूर्व ही अमरी सभ्यता के आदि-कृषक सिंध में आ बसे थे। इस सभ्यता के पात्रों पर कहीं-कहीं आकृतियाँ काले और लाल दो रंगों में चित्रित मिलती हैं और यह बात सुमेर में जमदतनस्र की सभ्यता (अल-उबैद सभ्यता के बाद दक्षिणी ईराक में उरूक सभ्यता आई और इसके पश्चात् ई० पू० ३२०० के लगभग जमदतनस्र सभ्यता का आगमन हुआ) में पाई जाती है। अतः अमरी सभ्यता का काल ई० पू० ३५०० से ३००० तक का माना जा सकता है। परंतु दक्षिणी बलूचिस्तान में बादामी पात्रों की सभ्यता वाले आदि-कृषक शायद अमरी सभ्यता के सिंध में आने के कुछ बाद दक्षिणी ईरान से बलूचिस्तान आए। इस पार्वत्य प्रदेश में इनकी सभ्यता कुछ स्वतंत्र रूप से विकसित हुई। इसको 'नंदारा-नाल सभ्यता' कहते हैं। यह हड़प्पा सभ्यता की समकालीन थी। अंत्येष्टि क्रिया और कुछ अन्य बातों के आधार पर एस० पिगट का कहना है कि अमरी और नंदारा-नाल सभ्यताएँ एक ही जाति की थीं। ये लोग मुर्दों को गाड़ते थे। इसी प्रकार दक्षिणी बलूचिस्तान में नंदारा-नाल सभ्यता के समय में बादामी पात्रों की सभ्यता वाला एक और समूह ईरान की ओर से आया। ये लोग मृतकों को जलाते थे। इनकी सभ्यता 'कुल्ली-सभ्यता' (Kulli culture) कहलाती है। कुल्ली, मेही, शाहीतुंप इत्यादि स्थानों से इनकी बस्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। कुल्ली सभ्यता के समय में हड़प्पा सभ्यता सिंध के काँठे में स्थापित हो चुकी थी। कुल्ली सभ्यता का संबंध ईराक और सीरिया की सभ्यताओं के साथ अधिक प्रतीत होता है। शायद पूर्व की ओर सिंध के मैदान में यह प्रवेश नहीं कर पाई थी। अमरी-नंदारा-नाल सभ्यता के विषय में इसके विपरीत बात पाई जाती है। इसके आरंभिक रूप में हम इसे हड़प्पा सभ्यता से पहले सिंध के मैदान में पाते हैं; इसके बाद के (नंदारा-नाल काल) समय में दक्षिणी बलूचिस्तान में। परंतु पश्चिम की ओर सीस्तान, फार्स और ईराक की बादामी पात्रों की या अन्य किसी सभ्यता के साथ इसका संबंध नहीं पाया जाता। उत्तरी बलूचिस्तान में क्वेटा के आसपास बादामी पात्रों की सभ्यता के कुछ अवशेष पाए गए हैं जिनको एस० पिगट अमरी सभ्यता से भी कुछ अधिक प्राचीन बताते हैं। अभी इस सभ्यता के विषय में हम बहुत कम जानते हैं।

भारत में 'लाल भांडों की सभ्यताएँ'

बादामी पात्रों की इन तीन सभ्यताओं को हम पश्चिमोत्तर भारत (अब

पाकिस्तान) में पाते हैं। लाल भांडों की सभ्यता के क्षेत्र उत्तरी ईरान और मध्य एशिया के दूर होते हुए भी हम अपने देश में उक्त सभ्यता को दो रूपों में पाते हैं— हड़प्पा सभ्यता और झोब सभ्यता। हड़प्पा सभ्यता के विषय में हम बाद में लिखेंगे। झोब सभ्यता उत्तरी बलूचिस्तान और वजीरिस्तान में पाई जाती है। राना गुंडई, परियानो, सुरजंगल, मुगल गुंडई इत्यादि में इसके मुख्य अवशेष हैं। इस सभ्यता के लोग मृतकों को जलाते थे और बालकों के शवों को गाड़ते थे। सवारी के लिये घोड़े रखते थे। ब्रिगेडियर रॉस द्वारा किए गए रानागुंडई के उत्खनन द्वारा ज्ञात हुआ है कि अमरी सभ्यता के पूर्व नहीं तो उसके समय (ई० पू० ३५००–२०००) में ही ये लोग कास्पियन सागर के निकटस्थ प्रदेश से उत्तरी बलूचिस्तान में आ पहुँचे थे। किस मार्ग से आए, यह ज्ञात नहीं। अफगानिस्तान में पुरान्वेषण हो तो पता लगे। हड़प्पा सभ्यता के काल में भी ये उत्तरी बलूचिस्तान में बसे हुए थे।

उपर्युक्त सभी सभ्यताओं में पत्थर और ताँबे के हथियार-औजार प्रयुक्त होते थे। ये प्रागैतिहासिक सभ्यताएँ थीं।

हड़प्पा सभ्यता के भारत में आने का प्रश्न कुछ जटिल है। यह लाल पात्रों की सभ्यता है, परंतु झोब सभ्यता के साथ इसका निकट का आनुवंशिक संबंध प्रतीत नहीं होता। सिंध में इसके पूर्व इससे भिन्न प्रकार की अमरी सभ्यता का अस्तित्व था। उसके स्थान पर ई० पू० ३००० के लगभग न जाने कहाँ से विकसित रूप में इसका आगमन हुआ। इसकी उत्पत्ति या आरंभकाल के विषय में कोई जानकारी हमें न भारत में और न बाहर से अब तक प्राप्त हुई। हम केवल इतना जानते हैं कि राजवंश-काल की सुमेरीय सभ्यता के साथ यह बहुत-कुछ साम्य रखती है। परंतु इसकी धार्मिक बातें हिंदू धर्म के साथ संबंधित हैं। दक्षिण भारत में ऐसी किसी सभ्यता के अवशेष प्राप्त नहीं हुए जिसको हम इस हड़प्पा सभ्यता की जननी मान सकें।[१५] पता नहीं भारत के किस भाग में हड़प्पा सभ्यता नागरिक सभ्यता के रूप में विकसित हुई थी।

१५—There is in South or 'Dravidian' India no known culture significantly comparable with that of early Sumer and no ancient civilization on any equivalent cultural plane.

—R. E. M. Wheeler, 'Ancient India,' N0-4, p. 89.

नीचे के कोष्ठक में भारत, पाकिस्तान तथा पश्चिम एशिया की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं का तुलनात्मक कालानुक्रम दिया गया है—

कालानुक्रम ई० पू० वर्षों में	ईराक और लघु एशिया		बलूचिस्तान	सिंधु घाटी	
		यूनानी और रोमन राज्य	भारत-यूनानी	शुंग वंश	लोहे का उपयोग
५००		ईरानी साम्राज्यांतर्गत	ईरानी साम्राज्यांतर्गत	मौर्य वंश शिशुनाग वंश	
१०००	असीरिया (उत्तरी ईराक) का राजवंश	असीरियन (असुर) राज्य द्वितीय बेबीलोनियन	?		
१५००		कासाइट राज्य (काश्शी नामक आर्यों का राज्य)	?	वैदिक आर्य आए ? झंगर सभ्यता झुकर सभ्यता	कांसा और तांबा
२०००		प्रथम बेबीलोनियन राज्य हंमुराबी राजा	नाल सभ्यता	अनार्य जातियाँ	
२५००		सर्गोन राजा का वंश	कुल्ली सभ्यता	हड़प्पा (सिंधु) सभ्यता	
३०००	दक्षिणी ईराक (सुमेर) के प्राचीनतम निवासी, सभ्यता के प्रवर्तक	सुमेरवासियों के प्राचीन राज्यवंश जमदतनस्र सभ्यता	झोब सभ्यता: पेरियानो घुंडई काल	अमरी सभ्यता	तांबा-पाषाण साथ साथ
३५००		उरूक सभ्यता अल-उबैद सभ्यता	झोब सभ्यता: किले जंगल काल	?	
४०००		तल-हलफ सभ्यता	?	?	पाषाण
४५००		प्राक्-हलफ सभ्यता			
५०००					

एक समय था जब मिस्र को नागरिक सभ्यता का उत्पत्ति-प्रदेश माना जाता था। बाद में पता लगा कि सुमेरीय सभ्यता ने नागरिक सभ्यता को जन्म दिया था। परंतु शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि सुमेरीय सभ्यता नागरिक जीवन लेकर कहीं अन्यत्र से सुमेर में आई थी। सिंधु-उपत्यका में जब हड़प्पा सभ्यता प्राप्त हुई तो

सुमेरीय सभ्यता के साथ उसकी समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया कि सुमेरीय सभ्यता के नागरिक जीवन का विकास पश्चिमोत्तर भारत में हुआ था। परंतु अब हम यह पाते हैं कि हड़प्पा सभ्यता भी अपने विकसित रूप में नागरिक जीवन को लेकर कहीं अन्यत्र से वहाँ पहुँची थी।

उत्तर प्रदेश में प्रागैतिहासिक अवशेष

अब हम सिंधु-उपत्यका से पश्चिम की ओर बढ़ें। इस ओर गंगा के मैदानों में अभी प्रागैतिहासिक अन्वेषण नहीं हुए। तथापि समय-समय पर अपने-आप अनेक स्थानों से प्रागैतिहासिक वस्तुएँ निकलती रही हैं। उनके आधार पर ज्ञात होता है कि हड़प्पा सभ्यता से बहुत पहले उत्तर-प्रस्तरयुग के आरंभ (ई० पू० ८००० के लगभग) में ही (शायद कुछ और भी पहले) बस्तियाँ स्थापित हो गई थीं। गंगा के मैदान में मानव-सभ्यता के सबसे प्राचीन अवशेष हमें अधिकतर यमुनातट पर हमीरपुर, बाँदा और इलाहाबाद जिलों में तथा सोन के किनारे और आसपास मिर्जापुर जिले में निम्नलिखित स्थानों पर प्राप्त हुए हैं, जिनमें प्रस्तरयुग की वस्तुएँ, भित्तिचित्र तथा बस्तियों के अवशेष हैं—

बाँदा जिले में मोरहना पहाड़,[१६] परतापगढ़,[१७] बाघकोर[१८] और गढ़वी पहाड़[१९] तथा मिर्जापुर जिले में लिखुनियाँ, विजयगढ़ और भलदरिया।[२०] इन स्थानों पर माइक्रोलिथ नामक अकीक, चकमक, स्फटिक इत्यादि पत्थरों के बने हुए छोटे छोटे औजार और शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए हैं जिन्हें विद्वान् उत्तर-प्रस्तरयुग के भी कुछ पूर्व के (Proto-Neolithic) मानते हैं।[२१] यह महत्त्व की बात है कि

१६—जे० कागिन ब्राउन, कैटेलाग ऑव प्रिहिस्टारिक ऐंटिक्विटीज़ इन दि इंडियन म्यूज़ियम, १९१७, पृ० ९२–९४

१७—वही।

१८—वी० स्मिथ, इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९०६

१९—वही

२०—मनोरंजन घोष, मेमॉयर ऑव आर्क्यॉलाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, रॉक पेंटिंग्स ऐंड अदर ऐंटिक्विटीज़ ऑव प्रिहिस्टारिक ऐंड लेटर टाइम्स, सं० २४, १९३२, पृ० १९–२०

२१—डी० एच० गॉर्डन, मेसोलिथिक इंडस्ट्रीज़ ऑव इंडिया, "मैन", ३८, फरवरी १९३८, पृ० २१-२४ इत्यादि।

इस संस्कृति के उपर्युक्त स्थानों में चट्टानों पर आलेखित चित्र प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित स्थानों पर भी ये प्रागैतिहासिक भित्तिचित्र प्राप्त हुए हैं[२२]—

मानिकपुर के निकट सरहत, कुरियाकुंड और करपटिया, मालवा (बदौसा के निकट), चित्रकूट (करवी के निकट), मिर्जापुर जिले में महररिया, कोहबार, चुनार[२३] (पमोसा के निकट) तथा रूप[२४] (बुडहर के पास)।

निम्नलिखित स्थानों से उत्तर-प्रदेश में उत्तर-प्रस्तरयुग के पाषाण के हथियार-औजार प्राप्त हुए हैं—

हमीरपुर जिले में चंडी, टिकारी, कबराई, अचाओली।[२५] बाँदा जिले में दुवंडा, करवी, बाँदा, मरफा, कालिंजर, महोबा, गाडरीकर, आचा।[२६] मिर्जापुर जिले में राजूरा नाला, दरकिरम पहाड़ी, काजूरा नाला।[२७] इलाहाबाद जिले में भीटा।[२८] यहाँ छोटे छोटे स्थान छोड़ दिए गए हैं।

उत्तर-प्रस्तरयुग के पश्चात् ताम्रयुग का आरंभ हुआ। पश्चिमी एशिया में ई० पू० ४५०० के लगभग यह घटना हुई; भारत में कब हुई यह हम अभी नहीं जानते। उत्तर-प्रदेश में निम्नलिखित स्थानों से ताम्रयुग में प्रयुक्त ताँबे के शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए हैं—

राजपुर (जि० बिजनौर);[२९] खेड़ा (मानपुर के निकट, जि० बुलंदशहर);

२२—मनोरंजन घोष कृत उपर्युक्त पुस्तक; पंचानन मित्र कृत प्रिहिस्टारिक इंडिया (१९२७, कलकत्ता विश्वविद्यालय) पृ० १९४-२१५; जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, ३, सन् १९०७ (सी० ए० सिलबर्ड; 'रॉक ड्राइंग्स ऑव बाँदा डिस्ट्रिक्ट') पृ० ५६७-७०।

२३—एँडर्सन, ज० रा० ए० सो०, १८९९, पृ० ८९–९७

२४—कॉकबर्न, वही १८५३, पृ० ९१

२५—कॉगिन ब्राउन, कैटे० प्रि० ऐं० इं० म्यू० १९१७, पृ० ७५–११९

२६—वही।

२७—वही।

२८—ऐनुअल रिपोर्ट ऑव आर्क्यालाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, १९११–१२, १९१५ पृ० २९–४३

२९—कैटे० प्रि० ऐं० इं० म्यू० पृ० ९; एस० पिगॉट, प्रिहिस्टॉरिक इंडिया, १९५० पृ० २२९

मथुरा (चौबारा टीला)[३०]; मैनपुरी;[३१] इटावा;[३२] नियोरई[३३] (जि० इटावा); फतहगढ़[३४] (जि० फर्रुखाबाद); बिसौली[३५] (जि० बदायूँ); बिठूर[३६] (जि० कानपुर); परियार[३७] (बिठूर के सामने, जि० कानपुर); शिवराजपुर[३८] (जि० कानपुर); कौशांबी[३९] (कोसम, जि० इलाहाबाद)। देवती (जि० लखनऊ); मिझावलपुर (जि० हरदोई); हरदी (जि० सीतापुर); सरथौली, धाका, इंदिलापुर (जि० शाहजहाँपुर)।[४०] कमालपुर (जि० हरदोई; यहाँ काँसे की कुल्हाड़ी मिली है।)[४१]

निम्नलिखित स्थान भी प्रागैतिहासिक प्रतीत होते हैं—

(१) खेड़ा (फतहपुर-सीकरी के पास, जि० इलाहाबाद)—यहाँ पत्थर की प्रागैतिहासिक समाधियाँ हैं।[४२]

३०—कनिंघम, रिपोर्ट ऑव आर्कांजिकल सर्वे ऑव इंडिया, १८७२, पृ० १३–४६

३१—बी० डब्ल्यू० कॉलिविन, प्रो० ए० सो० बं०, १८६४, पृ० २६२

३२—पंचानन मित्र, प्रिहिस्टारिक इंडिया, पृ० २६१–६३

३३—कैटे० प्रि० ऐं०, पृ० ६

३४—टी० विलियम्स, एशियाटिक रिसर्चेज़, १८३२, पृ० ६२४

३५—श्री बी० एन० पुरी को प्राप्त।

३६—कै० पर्सग्रेव, एशियाटिक रिसर्चेज़, १४, सन् १८२२, पृ० ३

३७—कॉगिन ब्राउन, पृ० १०

३८—लखनऊ संग्रहालय।

३९—कॉगिन ब्राउन, पृ० १०

४०—लखनऊ संग्रहालय।

४१—लखनऊ संग्रहालय तथा उत्तरप्रदेश के कुछ अन्य स्थानों के ताम्रयुग के शस्त्रादि के विषय में द्रष्टव्य—

(१) वी० ए० स्मिथ, द कॉपर एज ऐंड द प्रिहिस्टारिक ब्रॉन्ज़ इंप्लिमेंट्स ऑव इंडिया', इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग ३४ पृ० २२६ तथा भाग ३६ पृ० ५३।

(२) हीरानंद शास्त्री, ज० ए० सो० बं० (नवीन सं०), भाग ११, १९१५, पृ० १

(३) एस० पिगॉट, ऐंटिक्विटी १८, सन् १९४४, पृ० १७३

४२—कनिंघम, रि० आ० स०इं० ६, १८८७, पृ० १०४

(२) देवधूरा (अलमोड़ा)—यहाँ भी प्रागैतिहासिक समाधि मिली है।[४३]

(३) बजेरा खेड़ा (कोइल के निकट, जि० अलीगढ़) यहाँ के टीले प्रागैतिहासिक हो सकते हैं।[४४]

(४) चुनार—यहाँ आसपास में प्रागैतिहासिक समाधियाँ हैं।[४५]

(५) उमहट, गोपालपुर के निकट—यहाँ खोदने पर अस्थियाँ, शंख तथा अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुईं जो प्रागैतिहासिक हो सकती हैं।[४६]

(६) गोरखपुर—यहाँ से एक मनुष्य का कपाल प्राप्त हुआ है जिसे प्रागैतिहासिक माना गया है।[४७]

उत्तरप्रदेश से प्राप्त ताँबे के हथियार-औजार और उनका समय

उत्तरप्रदेश के उपर्युक्त प्रागैतिहासिक अवशेषों की सभ्यताओं को न तो अब तक पहिचाना जा सका है और न उनका समय निश्चित हो पाया है। इसका कारण यह है कि किसी भी प्रागैतिहासिक सभ्यता के संबंधों और समय का निर्णय उस सभ्यता के मिट्टी के पात्रों की कला के आधार पर ही भली भाँति किया जा सकता है, परंतु दुर्भाग्य से अभी तक ऐसी सामग्री गंगा के मैदानों से प्राप्त नहीं हुई है, तथापि वहाँ से प्राप्त ताँबे के हथियारों के आकार-प्रकार का अध्ययन करके श्री स्टुअर्ट पिगट ने इनके बाहरी संबंध और काल-निर्णय के विषय में कुछ अंदाज लगाया है।

ये शस्त्र मुख्यतया तीन प्रकार के हैं—विशेष प्रकार की मूँठ वाले खड्ग, लंबी छेनीनुमा कुल्हाड़ियाँ, फरसे या परशु, हार्पून नामक मत्स्य मारने का अस्त्रविशेष और मानवाकार से ताँबे के टुकड़े। इनमें से परशु तो ठीक वैसे ही हैं जैसे

४३—डब्ल्यू० जे० हेनवुड, एडिनबर्ग न्यू फिलासाफिकल जर्नल, १८५६, पृ० २०४-५

४४—ए० सी० एल० कार्लील, रि० आ० स० इं० १२, सन् १६७६ ,पृ० १

४५—ले मेसूरियर, प्रो० ए० सो० बं० ३०, १८६१, पृ० ८१-८५।

४६—सी० टकर, वही १६, भाग १, १८४७, पृ० ३७६-७७

४७—एँडर्सन, कैटेलग एँड हार्डबुक ऑव दि आर्क्यालाजिकल कलेक्शन, इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, भाग १, १८८३, पृ० ३६८-४०३।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त हुए हैं। फतेहगढ़ (फर्रुखाबाद के पास) से प्राप्त खड्गों की मूठें श्री पिगट के कथनानुसार ठीक वैसी हैं जैसी कल्लुर (हैदराबाद राज्य) से प्राप्त ताँबे के प्रागैतिहासिक खड्गों की हैं। ऐसा ही एक खड्ग पंजाब के राजनपुर से प्राप्त हुआ है। इस प्रकार की मूठों की कला की तुलना ई० पू० १५०० के लगभग की ईरान और काकेशस के ताँबे तथा काँसे के खड्गों की कला से करते हुए पिगट ने गंगा के मैदान के इन प्रागैतिहासिक ताँबे के शस्त्रों को भी इसी काल का बताया है। गंगा-प्रदेश की छीनीनुमा कुल्हाड़ियाँ सिंध में चन्हुदड़ो और दक्षिण बलूचिस्तान में नाल की समाधि में प्राप्त कुल्हाड़ी से कुछ समानता रखती हैं। ये दोनों सभ्यताएँ ई० पू० २००० से १७०० के लगभग की थीं, परंतु गंगा-प्रदेश में बिठूर, राजपुर, बिसौली, सरथौली इत्यादि स्थानों से जो ताँबे के 'हार्पून' प्राप्त हुए हैं वे संसार भर के प्रागैतिहासिक अस्त्रों में अद्वितीय हैं, क्योंकि हार्पून केवल पूर्व-प्रस्तरयुग के तृतीय-काल (Upper Palaeolithic) में, फिर मध्य-प्रस्तरयुग में, पाषाण के ही बनाकर प्रयुक्त किए जाते थे। ताँबे के रूप में इनकी उपस्थिति के आधार पर पिगट को गंगा-प्रदेश में प्रागैतिहासिक सभ्यता के अस्तित्व को बहुत प्राचीन मानना पड़ा है।[४८]

४८—Associated with these axe types in several hoards confined to the valleys of the Jumna and Ganges, is a remarkable series of copper harpoons, which can be arranged in a typological series evolving from primitive types which clearly copy prototypes in bone or horn. These harpoons must represent a local development among river-side communities whose economy centred round fish-spearing and whose primitive equipment was transformed into metal when the knowledge of metallurgy spread among them. The implied existence of harpoons of forms similar to those known in many mesolithic cultures of Europe and Western Asia is of Some interest.

—S. Piggot, 'Prehistoric India,' 1950, p. 237.

यमुना और सोन के तट-प्रदेश के 'माइक्रोलिथिक' अवशेष

हमीरपुर, बाँदा, इलाहाबाद और मिर्जापुर जिलों में जो प्रस्तरयुग की बस्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं उनके विषय में अभी कोई बात विद्वान् निश्चित नहीं कर सके हैं। प्रस्तुत लेखक ने पश्चिम और मध्यभारत में ऐसे अवशेषों में चित्रित भांड पाए हैं और उनके आधार पर ये अवशेष लगभग ई० पू० ४००० से १५०० तक के प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार गंगा के प्रदेश के ये उत्तर-प्रस्तरयुगीन अवशेष इतने ही प्राचीन हो सकते हैं। लेखक के मत से उपर्युक्त गंगातट की ताँबे के शस्त्रास्त्र की तथा उत्तर-प्रस्तरयुगीन अवशेषों की सभ्यता संभवतः एक ही जाति के लोगों की थी। हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रागैतिहासिक काल संसार के सभी भागों में समकालीन नहीं रहा है। ईराक और मिस्र के इतिहास में ई० पू० ३००० से पूर्व का काल प्रागैतिहासिक माना गया है और भारतीय इतिहास में ई० पू० सातवीं शताब्दी से पूर्व प्रागैतिहासिक काल समझा जाता है। इसी प्रकार भारत में जहाँ जहाँ हथियारों और औजारों के योग्य पत्थर का अभाव था वहाँ लोग धातु का व्यवहार करने लगे और जिन भागों में उपयुक्त पाषाण उपलब्ध था वहाँ लोहे का उपयोग आरंभ होने के समय (लगभग ई० पू० १५००-१२००) तक लोग पत्थर का ही उपयोग करते रहे। अतः एक प्रदेश की प्रस्तर-सभ्यता दूसरे प्रदेश की ताम्र-सभ्यता की समकालीन हो सकती है।

इस प्रकार हम अभी इतना ही कह सकते हैं कि गंगा के मैदान में भी हड़प्पा सभ्यता के पहले ही से प्रागैतिहासिक सभ्यता या सभ्यताएँ विद्यमान थीं, परंतु इन सभ्यताओं के मिट्टी के पात्रों के अभाव के कारण हम इनका संबंध अन्य प्रदेशों और देशों की सभ्यताओं के साथ स्थिर नहीं कर सकते।

सिंध और गंगा के मैदानों के दक्षिण के प्रागैतिहासिक अवशेष

अब हम सिंध और गंगा के मैदानों के दक्षिण की ओर दृष्टिपात करें। यहाँ हम सबसे पहले राजस्थान में आते हैं। प्रागैतिहासिक अवशेषों का इस प्रदेश में अन्वेषण नहीं हुआ। परंतु १६४२ में सर ऑरेल स्टाइन ने वैदिक सरस्वती के सूखे हुए तट पर जो कुछ अन्वेषण किए उनके परिणाम-स्वरूप बीकानेर राज्य और बहावलपुर राज्य के सीमांत पर कुछ स्थानों में प्रागैतिहासिक बस्तियों के अवशेष प्राप्त हुए थे।[४९] इसके दक्षिण १८७१-७२ में ए० सी० एल० कार्लाइल को

४९—'ए सर्वे ऑव एंशंट साइट्स, एलौंग द लॉस्ट सरस्वती रिवर', ज्यॉग्राफिकल जर्नल, लंडन, १६४२

जयपुर राज्य में सतमास, खेड़ा, मह्लारी और दौसा के निकट की पहाड़ियों पर प्रागैतिहासिक बस्तियों और समाधियों के अवशेष प्राप्त हुए थे।[५०] बैराट (प्राचीन मत्स्य देश की राजधानी विराटनगर) के आसपास भी प्रागैतिहासिक समाधियाँ हैं। राजस्थान के दक्षिण मध्यभारत में कोई प्रागैतिहासिक अवशेष प्राप्त नहीं हुआ। पश्चिम भारत अर्थात् गुजरात में १८६३–९४ में भूगर्भशास्त्री ब्रूस फूट को सारे सौराष्ट्र, उत्तर गुजरात और मध्य गुजरात में प्रागैतिहासिक बस्तियों के अवशेष बड़ी संख्या में प्राप्त हुए थे।[५१] मध्यप्रदेश में जबलपुर, गंगेरिया (बालाघाट के पास) इत्यादि में ताम्रयुग की वस्तुएँ तथा जबलपुर, होशंगाबाद, बरमान, पंचमढ़ी इत्यादि स्थानों पर माइक्रोलिथिक अवशेष और प्रागैतिहासिक भित्तिचित्र प्राप्त हुए।[५२] पूर्वी मध्यप्रदेश में रायगढ़ जिले में भी कई स्थानों पर ऐसे अवशेष प्राप्त हुए।[५३] दक्षिण भारत में कन्याकुमारी तक बड़ी संख्या में प्रागैतिहासिक बस्तियों के अवशेष प्राप्त हो चुके हैं जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है।

गंगा-सिंधु के मैदानों के दक्षिण में अब तक प्रागैतिहासिक बस्तियों या समाधियों के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे मुख्यतया दो प्रकार के हैं–(१) माइक्रोलिथिक अवशेष और (२) मेगालिथिक (Megalithic) समाधियाँ। इनमें से मेगालिथिक समाधियाँ ताप्ती नदी से दक्षिण में ही प्राप्त हुई हैं और यह पता लगा है कि वे द्रविड़ लोगों से संबंधित हैं।[५४] परंतु माइक्रोलिथिक अवशेषों का रहस्योद्घाटन अभी नहीं हो पाया है। हम जैसा बता चुके हैं, उत्तरप्रदेश के हमीरपुर, बाँदा, इलाहाबाद और मिर्जापुर जिलों में, राजस्थान में जयपुर राज्य में, सारे पश्चिम भारत में (सौराष्ट्र, कच्छ, गुजरात), सारे मध्यप्रदेश और हैदराबाद राज्य में, तथा कुछ न कुछ कन्याकुमारी और सिलोन तक ये अवशेष प्राप्त हुए हैं।

५०—रि० आ० स० इं, १८७८ पृ०, १–२८

५१—द फूट कलेक्शन ऑव इंडियन प्रिहिस्टारिक ऐंड प्रोटोहिस्टारिक ऐंटिक्विटीज़–नोट्स ऑन देअर एजेज़ ऐंड डिस्ट्रिब्यूशन, मद्रास, १९१६

५२—कॉगिन ब्राउन, कै० प्रि० ऐं० इं० म्यू०।

५३—पंचानन मित्र, प्रि० इं०, पृ० १९३–२१५

५४—के० आर० श्रीनिवासन, 'द मेगालिथिक बेरियल्स ऐंड अर्न-फील्ड्स ऑव साउथ इंडिया इन द लाइट ऑव तामिल लिट्रेचर ऐंड ट्रेडीशन', एंशंट इंडिया, सं० २, जुलाई १९४६, पृ० ९-१६।

मैसूर राज्य में १९४७ में ब्रह्मगिरि और चंद्रावली के उत्खनन में आर० ई० मॉर्टी-मर ह्वीलर को आंध्र(शातवाहन)-कालीन (ई० प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी तक) अवशेषों के नीचे मेगालिथिक समाधियाँ (द्रविड़) और उनके समय के अन्य अवशेष प्राप्त हुए, जिनका समय डा० ह्वीलर ने ई० पू० दूसरी शताब्दी नियत किया । मेगालिथिक अवशेषों के नीचे माइक्रोलिथिक अवशेष प्राप्त हुए । इन अवशेषों में माइक्रोलिथों के साथ ही साथ पाषाण की कुल्हाड़ियाँ भी प्राप्त हुईं और ज्ञात हुआ कि इन दोनों प्रकार के हथियार-औजारों की सभ्यता एक ही थी । इसको 'ब्रह्मगिरि पाषाण-कुठार संस्कृति' (ब्रह्मगिरि स्टोन एक्स कल्चर) नाम दिया गया है । इसका समय ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी का आरंभकाल निश्चित किया गया है ।[५५] इस प्रकार दक्षिण में माइक्रोलिथिक अवशेषों के काल के विषय में हम कुछ जान सके हैं । परंतु वहाँ इन अवशेषों में चित्रित मिट्टी के पात्र नहीं प्राप्त हुए, अतः हम अभी यह नहीं जानते कि यह सभ्यता दक्षिण में कहाँ से और कैसे पहुँची थी । साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गोदावरी के मुहाने में इन माइक्रोलिथों और पत्थर की कुल्हाड़ियों के साथ हाथ से बने हुए मिट्टी के पात्र मिलते हैं । ऐसे पात्र चाक पर बनाए पात्रों की अपेक्षा प्राचीन होते हैं । मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश में ये माइक्रोलिथ प्रस्तरयुग के माने गए भित्तिचित्रों के स्थानों पर प्राप्त होते हैं, जिनको विद्वान् ई० पू० ८००० तक के बताते हैं । इस प्रकार माइक्रोलिथों के अवशेषों की सभ्यता मध्य और उत्तर भारत में ब्रह्मगिरि (दक्षिण भारत) से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है । संभव है इसी सभ्यतावाली जाति या जातियाँ उत्तर-भारत में बहुत प्रचीन काल से बसी रही हों और ई० पू० १००० के लगभग वे दक्षिण भारत में पहुँची हों ।

पश्चिमोत्तर भारत (अब पाकिस्तान) के बाहर शेष भारत के प्रागैतिहासिक अवशेषों पर हमने विहंगम दृष्टि डाली और देखा कि अवशेषों में अभी ऐसी वस्तुएँ (यथा चित्रित मृद्भांड इत्यादि) प्राप्त नहीं हुईं जिनके आधार पर हम यह जान सकें कि ईरान और मध्यएशिया से बाहर निकले हुए आदि-कृपक बलूचिस्तान और सिंधु-उपत्यका से भारत के अन्य भागों में पहुँचे या नहीं । इन प्रदेशों के बाहर केवल सौराष्ट्र के रंगपुर स्थान (धंधुका के निकट, अहमदाबाद से ७५ मील पश्चिम

५५—आर० ई० एम० ह्वीलर, 'ब्रह्मगिरि ऐंड चंद्रवल्ली १९४७', एंशंट इंडिया, सं० ४, १९४७-४८, पृ० २०२

की ओर) में १६३५ में चित्रित मृद्भांडों के साथ प्रागैतिहासिक अवशेष प्राप्त हुए और उनको श्री माधवस्वरूप वत्स ने हड़प्पा सभ्यता के अंतिम काल का बताया।[५६]

नवप्राप्त माहिष्मती सभ्यता

सन् १६४६ में भारतीय पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर-जनरल स्व० श्री के० एन० दीक्षित ने नर्मदाघाटी में उसके तट पर स्थित राज्यों के सहयोग से पुरान्वेषण का आयोजन किया। इस प्रदेश में भरोच (प्राचीन भृगु या भरुकच्छ, गुजरात) के पूर्व ओंकार मांधाता (मध्यप्रांत) तक नर्मदा-प्रदेश का अन्वेषण प्रस्तुत लेखक द्वारा हुआ। पीछे सौराष्ट्र के कुछ भाग और मध्यभारत में चंबलतट के थोड़े से अंश में भी कार्य किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप नर्मदातट पर गरुड़ेश्वर, चिकल्दा, बड़ा बरदा, मोहीपरा, लोहारिया, तेलिया, सातपीपली इत्यादि स्थानों में आदिकृषकों के प्रागैतिहासिक ग्रामों के अवशेष प्राप्त हुए। चंबल के तट पर रतलाम के निकट नागदा में भी ये अवशेष मिले। इन अवशेषों के ऊँचे-ऊँचे विशाल टीलों में से माइक्रोलिथ तथा अन्य पाषाण के औजार-हथियार उपर्युक्त सब स्थानों से प्राप्त हुए और महत्त्व की बात यह हुई कि यहाँ चित्रित मृद्भांड प्रचुर संख्या में मिले, जिनकी परीक्षा के परिणाम-स्वरूप ज्ञात हुआ कि इनकी सभ्यता आदिकृषकों की चित्रित लाल मृद्भांडों की सभ्यता थी और हड़प्पा सभ्यता से पूर्वकाल की बलूचिस्तान और सिंध की अमरी, झोब इत्यादि की ही श्रेणी की थी। इस प्रकार ज्ञात हुआ कि ईरान और मध्यएशिया के आदिकृषकों की लाल पात्रों की सभ्यता केवल बलूचिस्तान की झोब सभ्यता तथा हड़प्पा सभ्यता के रूप में सिंध तक ही मर्यादित नहीं रही, अपितु हड़प्पा सभ्यता के भी पूर्व अर्थात् ई० पू० ४००० से ३५०० के लगभग भारत के मध्य तथा पश्चिम भाग तक जा पहुँची थी। इन प्रदेशों के माइक्रोलिथ तथा पाषाण के अन्य औजार-हथियार इस प्रागैतिहासिक सभ्यता के सिद्ध हैं। बहुत संभव है कि उत्तरप्रदेश में हमीरपुर, बाँदा, इलाहाबाद और मिर्जापुर जिलों के प्रागैतिहासिक अवशेष मध्यएशिया और ईरान की ओर से गंगा

५६—ऐनुअल रिपोर्ट ऑव आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, १६३४-३५, पृ० ३४

के प्रदेश में आकर बसनेवाले आदिकृपकों के ही रहे हों और ये ही आदिकृपक धीरे-धीरे ई० पू० १००० के लगभग सुदूर दक्षिण-भारत में जा पहुँचे हों, जहाँ ब्रह्मगिरि में इनकी पश्चात्कालीन सभ्यता 'ब्रह्मगिरि पाषाण कुठार सभ्यता' के रूप में प्राप्त हुई। नर्मदातट की इस प्रागैतिहासिक सभ्यता को लेखक ने 'माहिष्मती सभ्यता' नाम दिया है, क्योंकि इसकी पहचान उसी स्थान पर हुई जहाँ पुराणवर्णित माहिष्मती (वर्तमान महेश्वर) नगरी के विशाल प्रागैतिहासिक अवशेष स्थित हैं।

भारत में प्राचीन आर्य संस्कृति के अवशेष

प्रश्न उपस्थित होता है कि यह आदिकृपकों की प्रागैतिहासिक माहिष्मती सभ्यता किन लोगों की थी? इसका उत्तर माहिष्मती के विस्तृत ध्वंसावशेषों से हमें मिलता है। यहाँ इस समय महेश्वर नामक स्थान है। ई० सन् की चौथी शती से लेकर सतरहवीं शती तक प्राप्त शिलालेखों द्वारा ज्ञात होता है कि यह स्थान सतरहवीं शती तक माहिष्मती कहलाता था।[५७] स्कंद तथा पद्म-पुराणांतर्गत रेवा (नर्मदा)-खंड में भी, जिसमें नर्मदा के स्रोत से लेकर रेवा-सागर-संगम तक के तीर्थस्थानों का वर्णन है, इस स्थान का प्राचीन नाम माहिष्मती बतलाया गया है। प्राचीन पुराण भी यही कहते हैं और बतलाते हैं कि अयोध्या के प्रतापी राजा मांधाता के छोटे पुत्र मुचुकुंद ने यहाँ नर्मदातट पर माहिष्मती नगरी बसाई थी, जो अनूप (नर्मदाघाटी) देश की राजधानी बनी। यहाँ वास्तव में एक ऐसे प्रागैतिहासिक नगर के भग्नावशेष प्राप्त हुए जिनकी सभ्यता नर्मदातट के उपर्युक्त पूर्वप्राप्त प्रागैतिहासिक ग्रामावशेषों की थी और जो किसी दशा में पुराणवर्णित माहिष्मती नगरी के अतिरिक्त और किसी नगर के नहीं हो सकते। इससे ज्ञात हुआ कि पुराणों की बातें नितांत असत्य नहीं हैं। माहिष्मती के पुरातत्त्वावशेषों के अध्ययन से विदित हुआ कि माहिष्मती ई० पू० ३००० से बाद में किसी हालत में नहीं बसी होगी और इस प्रकार इसके संस्थापक मुचुकुंद और उसके पिता अयोध्यापति मांधाता और ज्येष्ठ पुत्र पुरुकुत्स्थ, जिन्होंने नर्मदाघाटी को जीता

५७—एस० के० दीक्षित, प्रोसीडिंग्स ऑव इंडियन हिस्टारिकल कांग्रेस, १९३९, पृ० १३९-४५; डी० वी० दिस्कलकर, 'श्री संस्कृत इंस्क्रिप्शंस फ्रॉम महेश्वर', प्रो० इं० हि० कां०, १९४७, पृ० ३९२।

था, इसी समय हुए होंगे।[५८] अवशेषों और वहाँ से प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्री को देखकर यही प्रतीत होता है कि माहिष्मती मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से पूर्व बसी हुई होनी चाहिए। अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि मांधाता, परुकुत्स्थ और मुचुकुंद किस जाति के थे? पुराणों के कथन द्वारा और इन लोगों के वंश के राजाओं के नामों की रचना (व्युत्पत्ति) देखते हुए तो ज्ञात होता है कि ये आर्य जाति के होने चाहिएँ। यह बात और अधिक पुष्ट होती है जब हम मांधाता, पुरुकुत्स्थ और उसके पुत्र त्रसदस्यु को ऋग्वेद (१०।१३४;४।४२;८।१६) में मंत्रद्रष्टा के रूप में पाते हैं। जिसकी मातृभाषा आर्यभाषा न रही हो वह कभी ऋग्वेद का मंत्रद्रष्टा नहीं बन सकता।

तब क्या भारत में आर्य लोग उस समय वर्तमान थे जब सिंधुघाटी में मोहेंजोदड़ो का शिलारोपण भी नहीं हुआ था और केवल भाषाशास्त्र के आधार पर निर्णीत यह बात असत्य है कि वे भारत में ई० पू० १५०० के लगभग अर्ध-जंगली चरवाहों के रूप में आए? कुछ भी हो, पुरातत्त्व तो कुछ उन बातों को प्रमाणित करता सा प्रतीत होता है जो भारत में उनके इतिहास के विषय में वेद-पुराणादि में लिखी हुई पाई जाती हैं। बहुत संभव है कि सर जान मार्शल, डॉ० ह्वीलर प्रभृति यह कहने में गलत रास्ते पर हों कि मोहेंजोदड़ो की हड़प्पा सभ्यता आर्यों के आगमन के पूर्व की अनार्य सभ्यता थी और आर्यों ने ई० पू० १५०० के लगभग उत्तर-भारत में आकर इस महान् सभ्यता का विनाश किया था। विश्वविख्यात प्राचीन लिपिविद् और बेबीलोनियन इतिहास के विश्ववंद्य आचार्य डा० लेंग्डन और डा० सी० एफ० गॉड ने मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की सिंधु-चित्रलिपि संबंधी अपने अध्यायों में सर जान मार्शल के मत के विरुद्ध हड़प्पा सभ्यता के आर्यों से संबंधित प्रागैतिहासिक सभ्यता होने की संभावना का

५८—पुराणों में दी हुई अयोध्या के सूर्यवंश की वंशावली द्वारा भी मांधाता और मुचुकुंद का यही समय निकलता है। चंद्रगुप्त मौर्य ई० पू० ३२२ के लगभग गद्दी पर बैठा था और पुराणों के अनुसार इससे ११२ पीढ़ी पूर्व और महाभारत युद्ध से ७४ पीढ़ी पूर्व मांधाता हुआ था। प्रत्येक राजा के राज्यकाल का औसत पचीस वर्ष मानने पर मांधाता चंद्रगुप्त मौर्य से लगभग २८०० वर्ष पूर्व अर्थात् अब से लगभग ५०७३ वर्ष पूर्व हुआ था। अर्थात् वह ई० पू० ३१२३ में या ई० पू० बत्तीसवीं शताब्दी में हुआ था और तभी माहिष्मती नगरी बसी थी।

निर्देश करते हुए स्पष्ट लिखा है कि भारतीय आर्य आर्य जाति के सबसे प्राचीन प्रतिनिधि प्रतीत होते [५६]

गंगा का काँठा और प्रागैतिहासिक अवशेष

भारत के पश्चिम और मध्यभाग में तो प्रागैतिहासिक आर्य-सभ्यता के अवशेष प्राप्त हो चुके थे, परंतु उत्तर-भारत में इस दृष्टि से खोज होना आवश्यक था। सबसे प्राचीन आर्य नगरियाँ गंगा की घाटी में बसी थीं और इस प्रदेश में प्रागैतिहासिक काल के अवशेषों के संबंध में कुछ कार्य भी नहीं हुआ था। इस दृष्टि से लेखक ने उत्तर-भारत में कुछ खोज करना निश्चित किया। सर्वप्रथम यह कार्य उस प्रदेश में आरंभ करना निश्चित किया जहाँ गंगा पर्वतों से बाहर निकलकर मैदान में आती है, क्योंकि इससे गंगा के काँठे में प्रागैतिहासिक खोज का कार्य विधिपूर्वक

५६—सर जॉन मार्शल के ग्रंथ में श्री० सी० एफ़० गॉड ने 'साइन लिस्ट ऑव अर्ली इंडस स्क्रिप्ट' नामक अपने बाईसवें अध्याय में लिखा है—

(१) यह (सिंधुई) लिपि, चित्रलिपि प्रतीत होती है।

(२) मुद्राओं पर इस लिपि में उत्कीर्ण लेख विशेष व्यक्तियों के नाम ज्ञात होते हैं।

(३) ये किसी आर्यभाषा के नाम हैं।

—मोहेंजोदड़ो एंड द इंडस सिविलिज़ेशन, जिल्द २, पृ० ४१४

आगे चलकर तेईसवें अध्याय 'दि इंडस स्क्रिप्ट' के अंत में श्री० एस० लेंग्डन ने लिखा है—

"In any way we may look at the problem, the Aryans in India are far more ancient than history admits. Their migratiom across Anatolia (in Asia Minor), where traces of them are found in the inscriptions of the Hettite capital as early as the seventeenth century B. C. is an hypothesis entirely contradictory to the new situation revealed by these discoveries in the Indus Valley. Far more likely is it that the Aryans in India are the oldest representatives of the Indo- Germanic (Aryan) race".

—वही, पृ० ४३२

आरंभ हो सकेगा और हस्तिनापुर के गंगा के इसी भाग में स्थित होने से उसका भी पुरान्वेषण हो सकेगा।

प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व का कार्य उन स्थानों पर कुछ कम कठिन होता है जो शताब्दियों से उजड़े पड़े हों। दक्षिण पंजाब, राजस्थान, सिंध और बलूचिस्तान के अधिकांश प्रदेश प्रागैतिहासिक काल में हरे-भरे थे, परंतु अब सूखकर रेगिस्तान बन गए हैं। अतः इन प्रदेशों में अधिकांश प्रागैतिहासिक स्थलों पर बाद में बस्तियाँ नहीं बसीं और इससे वहाँ प्रातिगैहासिक खोज कुछ अधिक कठिन नहीं होती। परंतु उत्तरप्रदेश में यह बात नहीं है। दूसरे वहाँ बस्ती घनी है और प्रागैतिहासिक अवशेष इतिहासकालीन स्तरों के नीचे गहराई में दब गए हैं। इसके अतिरिक्त गंगा और अन्य नदियाँ उत्तरप्रदेश में बाढ़ के समय जो मिट्टी बिछाती चली आ रही हैं उसके साथ साथ धरातल की ऊँचाई क्रमशः बढ़ती जाती है और इससे भूगर्भस्थ जल की सतह (वाटर टेब्ल या सब-सॉएल वाटर लेवेल) भी उत्तरोत्तर ऊँची हो रही है। इसके परिणाम-स्वरूप प्राचीन काल के अवशेष धीरे-धीरे भूगर्भस्थित जल की इस सतह के अंदर अधिकाधिक गहराई में डूबते जा रहे हैं। उत्खनन-कार्य में मौर्यकाल के स्तर भी पानी में डूबे हुए मिलते हैं। इससे अधिकांश पुरातत्त्ववेत्ता यह मान बैठे हैं कि गंगा की घाटी से प्रागैतिहासिक अवशेषों का मिलना आश्चर्य की बात होगी।

सच पूछा जाय तो यह केवल भ्रम है। किसी स्थान पर जब बस्ती का आरंभ होता है तब धीरे धीरे वह स्थान टीले में परिणत होने लगता है और शताब्दियों के बाद वह टीला इतना ऊँचा हो जाता है कि लोगों को उसपर रहना असुविधाजनक हो जाता है। परिणाम-स्वरूप बस्ती टीले को छोड़ देती है और नीचे आकर उसके निकट ही नई बस्ती बसने लगती है। फिर यह बस्ती भी खूब ऊँचा टीला बन जाती है और इसे भी छोड़ दिया जाता है। हमारे अधिकांश पुराविद् जिस टीले पर गुप्त, कुषाण या शुंग काल की वस्तुएँ मिलें उसे खोदना आरंभ कर देते हैं और मानते हैं कि इनसे प्राचीन तथा प्रागैतिहासिक स्तर भूगर्भ में होंगे। इससे वास्तविक प्रागैतिहासिक टीले एक ओर पड़े रह जाते हैं। उत्तरप्रदेश में गंगा और उसकी सहायक नदियों ने प्राचीन काल में कई बार प्रवाह बदले हैं, अतः कभी कभी हम प्रागैतिहासिक स्थलों को नदी के वर्तमान प्रवाह के किनारे खोजते हैं और न मिलने पर कहते हैं कि वहाँ प्रागैतिहासिक

अवशेष हैं ही नहीं। परंतु ये अवशेष वास्तव में नदी के पुराने खात पर कहीं दूर होते हैं। अयोध्या, प्रतिष्ठान (झूँसी), कान्यकुब्ज (कन्नौज), वाराणसी (बनारस) इत्यादि प्राग्बौद्धकालीन नगरों के अवशेषों का भली भाँति निरीक्षण करने पर इन नगरों के प्रागैतिहासिक अवशेष अवश्य प्राप्त होने चाहिएँ।

नगरों की उत्पत्ति का मूल कारण

नगरों की उत्पत्ति और उनके विकास का कारण यातायात है। देश के महामार्गों पर लोग प्राचीन काल में पैदल या वाहन द्वारा यात्रा करते थे। मार्ग में आनेवाली नदियों पर पड़ाव डाले जाते थे, जिससे पानी की सुविधा रहे। ऐसे पड़ावों पर कुछ दूकानें जम जातीं थीं और बड़ी नदियों के किनारे इन महामार्गों पर अधिक दूकानें जम जाने से अच्छा व्यापार होने लगता था। इस प्रकार कस्बे बसे और उनमें से कुछ नगर के रूप में अधिक विकसित हुए। दस्तकार लोग भी गाँवों के बदले इन नगरों में आ बसते थे। यदि कोई नगर राज्य के मध्य में होता अथवा सैनिक महत्त्व रखता था तो बाद में राजा उसे अपनी राजधानी बना लेता था।[६०] पंजाब से गंगा की दरी में आने वाले महामार्ग पर गंगा के तट पर एक

६०—हमारे पुरातन नगर इसी प्रकार बसे प्रतीत होते हैं। पुरानी दुनिया के महान् व्यापारिक केंद्र बेबीलोनिया, लघुएशिया, मिस्र इत्यादि अरब सागर के पश्चिम में थे, अतः पूर्वी किनारे की अपेक्षा भारत का पश्चिमी किनारा अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। हमारे प्राचीनतम राज्य गंगा की घाटी में थे। गंगा की घाटी में भारत के पश्चिमी सागरतट जाने के लिये मालव पठार होकर जाना अपेक्षाकृत सरल था, क्योंकि मध्यप्रदेश होकर जाने पर पश्चिमी किनारे और इस प्रदेश के बीच सह्याद्रि (पश्चिमी घाट) पर्वत एक बड़े अवरोध के रूप में लगभग एक हजार मील तक दीवार की भाँति खड़ा है। मालव के मार्ग में यह पर्वतश्रेणी नहीं आती। मालव प्रदेश से उतरते ही गुजरात का सागर तट आता है और इन दोनों प्रदेशों के बीच पर्वत भी नीचे ढल गए हैं जिससे आवागमन के लिये गुजरात के पंचमहाल जिले से एक प्राकृतिक मार्ग बन गया है। इस प्राकृतिक सुविधा के कारण पश्चिमी सागरतट पर नर्मदा के मुख पर एक बंदरगाह बना जो भरुकच्छ (आधुनिक भड़ोंच या भरोच) कहलाया। देखने से पता लगेगा कि भरुकच्छ से गंगाघाटी के किनारे-किनारे मगध जानेवाले महामार्ग पर ही हमारे पुरातन नगरों में से अधिकांश बसे; यथा उज्जयिनी (उज्जैन), विदिशा (बेसनगर-भेलसा), कौशांबी, वाराणसी (बनारस), पाटलिपुत्र (पटना) और राजगृह।

कस्बा बसा होगा जिसको बाद में हस्तिन् ने अपनी राजधानी बनाकर हस्तिनापुर नाम दिया।

वर्तमान हस्तिनापुर

हस्तिनापुर के अवशेष दोआब के उत्तरी भाग में मेरठ जिले की मवाना तहसील में स्थित हैं। गंगा का प्रवाह लगभग चार मील पूर्व की ओर हट जाने से अब हस्तिनापुर गंगा के किनारे नहीं रहा (द्रष्ट० चित्र १)। गंगा का पूर्व प्रवाह जिसके किनारे यह महान् नगर बसा था, अब सूख गया है और बूढ़ी गंगा के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में गंगा का प्रवाह हट जाने से ही हस्तिनापुर निर्जन बना। ई० पू० नवीं शती के लगभग (पार्जीटर के मतानुसार) राजा निचक्षु के समय में गंगा की जिस बाढ़ के कारण हस्तिनापुर नष्ट हुआ, उसी बाढ़ के समय गंगा का प्रवाह हटकर उसके वर्तमान स्थान पर आया होगा। मोहेंजोदड़ो का विनाश भी बिलकुल इसी प्रकार सिंध का प्रवाह आठ मील पूर्व की ओर हट जाने के कारण हुआ था। बड़े संतोष की बात है कि उत्तरप्रदेश की सरकार ने हस्तिनापुर को फिर से बसाने का कार्य हाथ में लिया है। यह विस्थापितों का नगर बनेगा। प्राचीन हस्तिनापुर के अवशेषों के पश्चिम लगभग एक मील की दूरी पर आधुनिक शैली के मकान बनने आरंभ हो गए हैं। अब तो हस्तिनापुर जाने के लिये मेरठ से सीधी बसें मिल जाती हैं जो दिन में अनेक बार आती-जाती हैं। बसों का अड्डा प्राचीन हस्तिनापुर के टीलों के नीचे है। यहीं आधुनिक हस्तिनापुर गाँव है। यहाँ इस समय स्थायी बस्ती नहीं है। दो बड़ी जैन धर्मशालाएँ और मंदिर हैं। ये मंदिर न होते तो आज हस्तिनापुर को हम न पाते। जैन यात्रीगण यहाँ आते-जाते हैं। एकाध बनियों की दूकानें हैं, परंतु तैयार खाना किसी प्रकार का नहीं मिलता। जैनेतर लोगों को धर्मशाला में उतरने नहीं दिया जाता। यहाँ आनेवालों को भोजन साथ लाना चाहिए।

राजगृह से यह महामार्ग ताम्रलिप्ति जाकर समाप्त हो जाता था। इसी प्रकार इस पूर्व-पश्चिम महामार्ग की भाँति उत्तर-दक्षिण महामार्ग भी था जिसपर पुष्कर, माध्यमिका (चित्तौर के निकट नगरी) और दशपुर (मंदसोर) बसे। उज्जयिनी में यह मार्ग पूर्व-पश्चिम महामार्ग से मिलकर फिर आगे नर्मदा पार करके प्रतिष्ठान (पैठण) को जाता था। यह महामार्ग जहाँ नर्मदा को पार करता था वहाँ जो नगर विकसित हुआ वह माहिष्मती कहलाया।

हस्तिनापुर के ध्वंसावशेषों का प्रथम निरीक्षण

पुरातत्त्व-शोध की दृष्टि से सबसे पहले, लगभग ७५ वर्ष पूर्व, सर अलेक्-जंडर कनिंघम यहाँ आए थे, परंतु अपनी रिपोर्ट में उन्होंने इसके अवशेषों के विषय में कोई विशेष बात नहीं लिखी, न अवशेषों में खोज का कार्य चलाया। जैन मुनि श्री विजयेंद्रसूरि ने संवत् २००३ में हस्तिनापुर पर एक छोटी पुस्तिका लिखी जिससे विदित होता है कि उन्होंने हस्तिनापुर की यात्रा की थी। प्रस्तुत लेखक ने अब तक तीन बार हस्तिनापुर की यात्रा की है, पहली १९४८ के दिसंबर मास में दूसरी १९५० के अप्रैल में और तीसरी उसी वर्ष सितंबर में।

हस्तिनापुर का भौगोलिक महत्त्व

गंगा की बाढ़ तथा उसके धारा-परिवर्तन के कारण हस्तिनापुर लगभग ई०पू० नवीं शताब्दी में निर्जन बना था और इसके पश्चात् वह फिर नहीं बसा। अतः यह स्पष्ट बात है कि इसके भग्नावशेषों की सतह पर मिलनेवाली पुरातन वस्तुएँ ई०पू० नवीं शती की अर्थात् मौर्यकाल से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले की होनी चाहिएँ और सतह के नीचे की वस्तुएँ तो अवश्य इससे भी अधिक प्राचीन होंगी। हाँ, एक बात अवश्य है कि हस्तिनापुर पंजाब से आते हुए गंगा की घाटी के प्रवेशद्वार पर स्थित था, अतः इसके उजड़ने के पश्चात् भी इसके पहले और दूसरे टीले इस समतल प्रदेश में ऊँचे होने के कारण सैनिक चौकी के रूप में मुगल और मराठा-काल तक उपयोग में आते रहे, परंतु शेष टीले निर्जन ही बने रहे। गंगाघाटी जैसे सघन प्रदेश में इस स्थान के निर्जन बने रहने का मुख्य कारण है एक तो गंगा का प्रवाह कुछ मील दूर हट जाने से जल-प्राप्ति की असुविधा और दूसरे इसके आसपास की भूमि का ऊसर हो जाना। कुछ भी हो, हस्तिनापुर का स्थान ऊजड़ रहने से गंगा की घाटी के प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व के लिये लाभकारक प्रमाणित हुआ है, क्योंकि इस प्रदेश में यही एक ज्ञात स्थान है जहाँ सतह पर प्रागैतिहासिक अवशेष प्राप्त हो सकते हैं।

पुरातन हस्तिनापुर के टीले

यहाँ हस्तिनापुर के ध्वंसावशेषों के टीलों का मानचित्र दिया गया है (द्रष्ट० चित्र २) जिससे ज्ञात होता है कि यह नगर काफी बड़ा था। किंवदंती तो ऐसी है कि हस्तिनापुर के ध्वंसावशेष यहाँ से लगभग बाईस मील दूर गढ़मुक्तेश्वर तक बूढ़ी गंगा के किनारे किनारे फैले हुए हैं और गढ़मुक्तेश्वर वास्तव में हस्तिनापुर का ही एक मुहल्ला था।

हम दिसंबर १६४८ में इसके जितने ध्वंसावशेषों का निरीक्षण कर सके वे ही इस मानचित्र में दिखलाए गए हैं। दक्षिण और नैऋत्य की ओर इस नगर के टीले दूर दूर तक फैले हुए दिखाई देते हैं, परंतु हम उनकी जाँच-पड़ताल नहीं कर पाए। टीलों के शिखरों के आसपास के ढाल वर्षा के जल से कट रहे हैं और इससे यहाँ सतह के नीचे की प्राचीन वस्तुएँ यत्र-तत्र पड़ी हुई दिखाई देती हैं। वर्षा के पश्चात् शीघ्र ही चरवाहे यहाँ से प्राचीन वस्तुएँ उठा ले जाते हैं। टीले घास-पौधों और धूल से ढके रहते हैं।

उत्तरापथ के काले भाँड़े

हमें सर्वप्रथम टीला क और ख की सतह और ढाल पर कई जगह मिट्टी के ऐसे पात्रों के टुकड़े मिले जिनपर काले रंग का चिकना रोगन लगा हुआ था। ऐसे पात्र अत्यंत प्राचीन काल में बनते थे। इन पात्रों को भारतीय पुरातत्त्व में 'उत्तरापथ के काले भांड़े' कहते हैं। इस विषय का एक लेख भारतीय सरकार के पुरातत्त्व विभाग के मुखपत्र 'एंशंट इंडिया' के जनवरी १६४६ के अंक में अहिच्छत्रा की मृद्भांडकला संबंधी लेख के साथ प्रकाशित हुआ है। श्री कृष्णदेव और डाक्टर मॉर्टीमर व्हीलर लिखते हैं—

"उत्तरापथ के काले भाँड़े अधिक संख्या में प्राप्त नहीं होते। गंगा के काँठे में उनके अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में प्राप्त होने से पता चलता है कि वे इसी प्रदेश से अन्यत्र फैले होंगे। तक्षशिला के उत्खनन में भी इसके बीस टुकड़े प्राप्त हुए हैं।" (पृ० ५५)

ये भाँड़े अब तक इन प्राचीन स्थानों से प्राप्त हो चुके हैं—

गंगा का काँठा–(१) अहिच्छत्रा, (२) मथुरा, (३) कौशांबी, (४) भीटा, (५) झूँसी (६) मसौन–गाजीपुर जिला, (७) अतरंजी खेड़ा–एटा जिला, (८) सारनाथ, (९) राजघाट–बनारस, (१०) बक्सर, (११) पटना, (१२) राजगिरि और गिरियाक, (१३) बानगढ़–दीनाजपुर जिला।

अन्य प्रदेश–(१४) तक्षशिला, (१५) बैराट–राजस्थान, (१६) साँची, (१७) कसरावद–मध्यभारत में महेश्वर के निकट।

तक्षशिला के उत्खनन द्वारा इनकी प्राचीनता का पता लगा है। इस विषय में उपर्युक्त लेख के पृ० ५६ पर बताया गया है—

"उत्तरापथ के काले भाँड़ों के टुकड़े तक्षशिला के प्रथम नगर (भीर टीला) के उत्खनन में ७ से १३ फुट की गहराई में पाए गए हैं। यहाँ ६ फुट से नीचे की गहराई के स्तर ई० पू० ३०० से पूर्व के हैं, अतः ये कुंभ इससे पहले के होने चाहिएँ...इसका आरंभकाल ई० पू० पाँचवीं शती प्रतीत होता है और ई० पू० दूसरी शती तक यह प्रचलित रही।"

तक्षशिला के प्रथम नगर के अवशेष रूप भीर टीले की प्राचीनता ई० पू० आठवीं शती तक की बताई जाती है, अतः यह भी संभव है कि उत्तरापथ के काले भाँड़े भी लगभग इतने ही प्राचीन हों। हस्तिनापुर ई० पू० नवीं शती के लगभग उजड़ा और यहाँ इनका प्रचुर परिमाण में प्राप्त होना कुछ महत्त्व रखता है। हस्तिनापुर के टीले क और ख के उत्खनन द्वारा इसकी वास्तविक प्राचीनता का पता लगेगा।

हस्तिनापुर की चित्रित भांडकला और उसकी प्राचीनता

इनसे भी अधिक महत्त्व के मृद्भांड हमको ख टीले के वर्षा-जल से कटे हुए किनारों के नीचे यत्र-तत्र बिखरे हुए प्राप्त हुए। ये थे मिट्टी के चित्रित पात्रों (Painted pottery) के टुकड़े (द्रष्ट० चित्र सं० ५; ये भांड लाल रंग के हैं और इनपर काले रंग से आकृतियाँ आलिखित हैं)। अन्य टीलों के ढालों पर इन चित्रित भांडों के टुकड़े कई जगह हमें बिखरे हुए मिले। उत्तरप्रदेश या गंगा-घाटी के पुरातत्त्व की दृष्टि से इन प्राचीन वस्तुओं को हम बड़े महत्त्व की गिन सकते हैं। हम यह बता चुके हैं कि चित्रित मृद्भांड भारत में ही नहीं, प्रत्युत ईराक (पुरातन सुमेर और बेबीलोनिया) और पश्चिम एशिया के प्राचीनतम देशों में भी ई० पू० २००० से पूर्व के गिने जाते हैं। भारत में मौर्यकाल और उससे कुछ शती पूर्व के कई प्राचीन नगरों और स्थानों का उत्खनन हुआ है, परंतु कहीं भी चित्रित कुंभ प्राप्त नहीं हुए। इससे प्रतीत होता है कि भारत में यदि अधिक नहीं तो ई० पू० १००० से पूर्व के ये कुंभ अवश्य होने चाहिएँ। गंगा की घाटी में बरेली जिले में रामनगर के निकट आँवला स्थान पर पांचाल देश की प्राचीन राजधानी अहिच्छत्रा के भग्नावशेष टीलों के रूप में फैले हुए हैं। यहाँ १९४४-४५ में पुरातत्त्व विभाग द्वारा उत्खनन हुआ और उसमें प्राचीन बरतन-भाँड़ों के नमूने प्रचुर संख्या में प्राप्त हुए। अहिच्छत्रा के स्तर ९, ८ और ७ में से मिट्टी के सबसे प्राचीन बरतन प्राप्त हुए हैं जो ई० पू० तीसरी शती के हैं। इनके विषय में श्री के० सी० पाणिग्रही लिखते हैं—

"ये प्राचीन पात्र अधिकांश सादे हैं, केवल कुछ पर ठप्पे के चिह्न (Stamped design) प्राप्त होते हैं। परंतु इनपर चित्रित आकृतियों का तो सर्वथा अभाव ही है।" (द पॉटरी ऑव अहिच्छत्रा, एंशंट इंडिया सं० १, पृ० ४१)

इस प्रकार हस्तिनापुर से निकट गंगा की घाटी में ही ई० पू० तीसरी शती तक के मिट्टी के पात्र अचित्रित ही प्राप्त होते हैं। हस्तिनापुर के टीलों पर चित्रित पात्रों का अधिक संख्या में मिलना सूचित करता है कि इस नगर के ध्वंसावशेष अवश्य प्रागैतिहासिक काल के हैं। और भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि भांडकला (Ceramic art) की दृष्टि से ये पात्र हड़प्पा या सिंधुघाटी की किसी भी प्रागैतिहासिक सभ्यता से संबधित बिल्कुल प्रतीत नहीं होते, परंतु चित्र सं० ७ से ज्ञात होगा कि इनका संबंध माहिष्मती-सभ्यता से है। हम देख चुके हैं कि माहिष्मती-सभ्यता भारतीय आर्यों की प्रतीत होती है। माहिष्मती-सभ्यता की मृद्भांडकला (पश्चात् काल की) का आर्यों के नगर हस्तिनापुर में पाया जाना इस बात को और भी अधिक पुष्ट करता है कि 'माइक्रोलिथिक' माहिष्मती-सभ्यता भारतीय आर्यों की थी। अतः बहुत संभव है कि उत्तरप्रदेश में यमुना और सोन के तट-प्रदेश में हमीरपुर, बाँदा, इलाहाबाद और मिर्जापुर जिलों में जो 'माइक्रोलिथिक' अवशेष प्राप्त हुए हैं वे प्रागैतिहासिक आर्य जाति के हों। क्या ही अच्छा हो कि इस प्रदेश में अन्वेषण करके चित्रित मृद्भांडों के नमूने प्राप्त किए जायँ।[६१] डा० मोतीचंद्र जी ने मुझसे कहा था कि बनारस के आसपास भी उन्हें माइक्रोलिथ प्राप्त हुए थे।

चित्र ७ में माहिष्मती-सभ्यता के स्थानों से प्राप्त मृद्भांडों के कुछ नमूने और साथ ही उनके समान हस्तिनापुर से प्राप्त भाँड दिए गए हैं। हस्तिनापुर के ये भांड भी माहिष्मती-सभ्यता के भांडों की तरह लाल हैं जिससे ज्ञात होता है कि हस्तिना-

६१—हस्तिनापुर के उजड़ने पर ई० पू० लगभग नवीं शती में यहाँ के पौरव राजा निचक्षु ने कौशांबी (इलाहाबाद के निकट कोसम) को राजधानी बनाया। कौशांबी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ओर से उत्खनन हो रहा है और मेरे एक पुराविद् मित्र श्री बी० सुब्बाराव ने बताया है कि कौशांबी के अवशेषों के इस उत्खनन-कार्य में नीचे अत्यंत प्राचीन स्तरों में चित्रित कुंभ प्राप्त हुए हैं। कौशांबी में जो पुरातत्त्व-सामग्री बहुत निचले स्तरों में प्राप्त हो वह हस्तिनापुर के अवशेषों की सतह पर हो, यह बात पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

पुर की सभ्यता भी 'लाल भांडों की सभ्यता' (Red ware culture) के वंश की थी। हस्तिनापुर और माहिष्मती सभ्यता के मृद्भांडों की तुलना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हस्तिनापुर के चित्रित भाँड़े उस समय के हैं जब गंगा के प्रदेश में चित्रित भांडकला अपने पतन-काल में थी। हस्तिनापुर के अवशेषों से लाल भांडों के अतिरिक्त भूरे रंग के चित्रित भांड भी प्राप्त हुए हैं। ऐसे पात्र बलूचिस्तान की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं में भी प्राप्त होते हैं। हस्तिनापुर के इन भूरे भांडों पर अभी ऐसी चित्रित आकृतियाँ प्राप्त नहीं हुईं कि उनकी अन्य प्रदेशों के ऐसे भांडों के साथ तुलना की जा सके।

हस्तिनापुर के टीलों पर इतर पुरातत्त्व सामग्री

हस्तिनापुर के सामने पूर्व में गंगातट पर स्थित राजपुर (बिजनौर जिला) में ताम्रयुग की वस्तुएँ प्राप्त होने का हम निर्देश कर चुके हैं। हस्तिनापुर के टीलों पर चित्रित भांडकला के साथ साथ काँच की विविध आकृतियोंवाली एक ही प्रकार की चूड़ियाँ अच्छी संख्या में प्राप्त हुई हैं। काँच के मनके भी प्राप्त हुए हैं। ऐसी ही काँच की चूड़ियाँ नर्मदातट पर महेश्वर में माहिष्मती नगरी के प्रागैतिहासिक अवशेषों में प्राप्त हुई हैं। मिट्टी की मूर्तियाँ, खिलौने इत्यादि नहीं मिले; संभव है खुदाई करने पर मिलें। शंखजीरा पत्थर (Steatite) के खुदी हुई आकृतियोंवाले कुछ टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं। अन्य वस्तुओं का उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

प्रागैतिहासिक युग का काल-विभाग

यह सत्य है कि हस्तिनापुर के लाल रंग के चित्रित कुंभ माहिष्मती-नागदा-रंगपुर श्रेणी के प्रागैतिहासिक अवश्य हैं; परंतु ये बाद के हैं, यह बात इन कुंभों के टुकड़ों की जाँच से ज्ञात होती है। प्रागैतिहासिक काल अर्थात् भारतीय इतिहास में ई० पू० सातवीं शती से लेकर मानवजाति के जन्म (अब से लगभग छः लाख वर्ष पूर्व) तक के विस्तृत समय के मुख्य दो विभाग हैं—एक खेती के आविष्कार के पूर्व का जिसमें मध्य और पूर्व-प्रस्तरयुग (Mesolithic and Palaeolithic ages) के गृहहीन शिकारी जीवन का समावेश होता है; और दूसरा खेती के आविष्कार (ई० पू० ८०००–६००० के बीच) के बाद का, जब कि मानव-जीवन ग्रामादि स्थायी बस्तियों में स्थिर हो गया। इसमें नवप्रस्तर (Neolitlic), ताम्र तथा कांस्य और पूर्व-लौहयुग का

समावेश होता है। प्रागैतिहासिक काल के इस भेद को समझने के लिये कृषिपूर्व-काल को प्रागैतिहासिक और उसके बाद के काल को प्रत्यगैतिहासिक (प्रोटोहिस्टारिक) कहते हैं। केवल पुरातत्त्व की दृष्टि से देखने पर हस्तिनापुर के अवशेष एक नगर के अवशेष हैं। पश्चिम एशिया के पुरातत्त्व के अनुसार[६२] नगरों का आरंभ लगभग ई० पू० ३५०० से हुआ, अतः हस्तिनापुर के अवशेष इससे पूर्व के काल के नहीं हो सकते। हस्तिनापुर की ही संस्कृतिवाले माहिष्मती, नागदा आदि के अवशेषों में पत्थर के हथियार-औजार आदि बड़ी संख्या में मिलते हैं, जब कि हस्तिनापुर के अवशेषों में इनका अभाव है। नव-प्रस्तरयुग के बाद जिस प्रकार ईराक और मिस्र में ताम्रयुग का उदय हुआ उस प्रकार भारत में यह घटना घटित नहीं हुई। भारत में ताँबा कम मात्रा में मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति की धातु-संबंधी आवश्यकताएँ इससे पूरी नहीं हो सकती थीं। अतः भारत में पत्थर और ताँबा साथ-साथ व्यवहार में लाए गए। इन पदार्थों के संयुक्त उपयोग के युग को ताम्र-प्रस्तरयुग (Chalcolithic age) कहते हैं। भारत में ताम्रयुग के बदले यह ताम्र-प्रस्तरयुग चला। बलूचिस्तान और सिंधुघाटी की प्रागैतिहासिक सभ्यताएँ इसी युग की हैं। उत्तर भारत की अपेक्षा मध्य, पश्चिम और दक्षिण भारत में इस काल में विशेषतया पत्थर का ही उपयोग होता रहा, ताँबा बहुत थोड़ी मात्रा में व्यवहृत हुआ। यही कारण है कि पश्चिम और मध्यभारत के प्रागैतिहासिक ग्रामों और नगरों के अवशेषों में पत्थर के हथियार-औजार सिंधुघाटी से कहीं अधिक परिमाण में प्राप्त होते हैं। अतः हम इस आधार पर यह नहीं कह सकते कि ये अवशेष सिंधु-घाटी और उत्तर-भारत के उन अवशेषों के पहले के हैं जिनमें पत्थर के हथियार-औजार बहुत कम और ताँबे-काँसे के अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं। परंतु जैसा कि हम प्रस्तुत लेख के आरंभ में बता चुके हैं, ज्यों ही लोहे के उपयोग (लग-भग ई० पू० १५००) का आरंभ हुआ त्यों ही उत्तर-भारत में ताँबा-काँसा और अन्य भागों में पत्थर के उपयोग का एक साथ अंत हो गया। इस बात का पता अवशेषों

६२—भारत में अब तक प्रागैतिहासिक सभ्यता संबंधी कार्य यथेष्ट नहीं हुआ, इससे यहाँ की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं को समझने के लिये पश्चिम एशिया और विशेष कर ईराक की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं से सहायता ली जाती है। हड़प्पा और उसके पूर्व और पश्चात् की सिंधुघाटी की सभ्यताओं का कालानुक्रम ईराक के पुरातत्त्व के आधार पर अवलंबित है, न कि भारत के पुरातत्त्व के आधार पर।

में पत्थर के हथियार-औजारों की अनुपस्थिति से लगता है। माहिष्मती-नागदादि के अवशेषों में पत्थर के हथियार-औजारों की सतह पर उपस्थिति बतलाती है कि ये अवशेष लगभग ई० पू० १५०० से पूर्व के हैं; जब कि सौराष्ट्र में रंगपुर, नर्मदाघाटी में एकलवारा, छोटा बरदा, हतनावर इत्यादि और गंगाघाटी में हस्तिनापुर के उसी संस्कृति के प्रागैतिहासिक अवशेषों की सतह पर इन पत्थर के हथियार-औजारों का अभाव इस बात का सूचक है कि इन बस्तियों के अंतकाल के अवशेष ई० पू० १५०० (लोहे के उपयोग के आरंभ काल) के बाद के, अर्थात् पूर्व-लौहयुग के हैं। इस प्रकार हस्तिनापुर के अवशेष पत्थर के हथियार-औजारों के अभाव के कारण ई० पू० पंद्रहवीं शती के बाद के, और इसके टीलों की सतह पर चित्रित कुंभों के टुकड़े प्राप्त होने के आधार पर ई० पू० सातवीं शती से कुछ पहले के सिद्ध होते हैं। परंतु हस्तिनापुर के टीलों के भीतर गर्भभाग में क्या-क्या सामग्री भरी पड़ी है, यह हम अभी नहीं जानते। इन टीलों की खुदाई में नीचे पत्थर के हथियार-औजारों का प्राप्त होना असंभव नहीं है। रंगपुर के अवशेषों में भी ये सतह पर नहीं, बल्कि नीचे के स्तरों में खुदाई करने पर प्राप्त हुए। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो आदि में तो ये सतह पर ही प्राप्त होते हैं, परंतु माहिष्मती-नागदा इत्यादि की अपेक्षा बहुत कम परिमाण में।

प्राचीन आर्य इतिहास की समस्याएँ

मानव-इतिहास में आर्य जाति का भाग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है और आज आर्यभाषी जातियाँ ही जगत् का राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्व सँभाल रही हैं। परंतु खेद की बात है कि संसार की इस श्रेष्ठ जाति के आदि इतिहास पर कहीं अंधकार और कहीं गहरी धुंध छाई हुई है जिसमें हम कुछ देख नहीं सकते। इस जाति का सबसे प्राचीन साहित्य और इसके इतिहास के संबंध में सबसे प्राचीन जनश्रुतियाँ पुराणादि साहित्य के रूप में भारत में ही प्राप्त होती हैं। अब तक केवल भाषा-संबंधी तर्कों के आधार पर आर्यों के आदि और प्राचीन इतिहास को प्रकाश में लाने और उसकी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न लगभग पौने दो सौ वर्षों से होता चला आ रहा है। परंतु पुरातत्त्व ही एक ऐसा विषय है जो वास्तविक इतिहास को प्रकाश में ला सकता है। हम भली भाँति जानते हैं कि पश्चिम-एशिया के देशों—ईराक, एलाम, सीरिया, लघुएशिया और फिलिस्तीन तथा मिस्र—का आदि और प्राचीन इतिहास केवल पुरातत्त्व द्वारा ही ज्ञात हो सका है। हड़प्पा

और मोंहेजोदड़ो की भारतीय सभ्यता भी पुरातत्त्व द्वारा ही प्रकाश में आई है। दुर्भाग्य से आर्य जाति का प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व के शिकंजे में अब तक नहीं आता था और भारत का प्राग्बौद्धकालीन इतिहास प्राचीन आर्य इतिहास का ही एक अंग होने से इस इतिहास की भी मिट्टी पलीद होती रही है। कोई कहता है कि पुराण, रामायण, महाभारतादि की बातें कपोलकल्पित हैं तो किसी का कहना है कि भारतीय आर्य अर्धजंगली थे और इसी लिये उनकी संस्कृति के अवशेष प्राप्त नहीं होते। हड़प्पा सभ्यता के शोधकों ने तो इस इतिहास के प्रश्न को सुलझाने की अपेक्षा और अधिक जटिल बना दिया है।

नया प्रकाश

परंतु इस परिस्थिति का अब अंत सा आया हुआ प्रतीत होता है, यह प्रस्तुत निबंध द्वारा हम कुछ अनुभव कर सकते हैं। भारतीय इतिहास के प्राक्कालीन (ई० पू० सातवीं शती) क्षितिज पर माहिष्मती और हस्तिनापुर पुरातत्त्व के आधार पर कुछ अपूर्व सा प्रकाश लिए हुए उपस्थित प्रतीत होते हैं और इस अल्प किंतु स्पष्ट प्रकाश में हमारी आँखों के सामने भारत के प्राग्बौद्धकालीन इतिहास तथा आर्य जाति के आरंभिक इतिहास का चित्रपट अत्यंत प्राचीन, गौरवमय, घटना-पूर्ण एवं विविध आकर्षक रंगों से पूरित दिखाई पड़ता है। बहुत संभव है कि ऋग्वेद-वर्णित दाशराज्ञ युद्ध और पुराणादि के सूर्य और चंद्र-वंश की बातें इतिहास बन जायँ और अकेली आर्य जाति की ही नहीं, अपितु संपूर्ण मानव-समाज की प्राचीनतम संस्कृति और उसके प्राचीनतम नगर हमें गंगा की घाटी में पुरातत्त्व-शोध द्वारा प्राप्त हो जायँ।

वितस्ता का युद्ध

[श्री बुद्ध प्रकाश]

यूनानी वीर सिकंदर और भारतीय योद्धा पौरव का इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध ई० पू० ३२६ में वितस्ता नदी के तट पर हुआ। सिकंदर ने पहले तक्षशिला से पौरव के पास एक दूत भेजा और उससे कहलवाया कि वह उपहार दे और अपने राज्य की सीमा पर आकर उसका स्वागत करे।[1] पौरव ने इस संदेश का उत्तर बड़े कठोर और उत्तेजनाजनक शब्दों में दिया और अभ्यागत का शस्त्रों और सेनाओं द्वारा स्वागत करने का वचन दिया। दोनों सम्राटों में जो पत्र-व्यवहार हुआ उसे फ़िरदौसी ने अपने महाकाव्य शाहनामा में विस्तृत रूप से उद्धृत किया है।[2] उसके पश्चात् सिकंदर के पास पौरव पर आक्रमण करने के अतिरिक्त कोई और चारा न रहा। उसे यह भी पता लगा कि अभिसार-नरेश अपनी सेना लेकर पौरव की सहायता के लिये जा रहा है। इसलिये उसने अपनी सेना को शीघ्रता से प्रयाण करने की आज्ञा दी, जिससे वह अभिसार-नरेश की सेना को बीच ही में रोक ले और उसे पौरव से मिलने न दे। उसने तक्षशिला से निचला मार्ग पकड़ा जो दक्षिण को होता हुआ दुंधियाल तक पहुँचता था और वहाँ से वंग और अस-नोट के पास से होता हुआ जलालपुर जाता था।[3] वितस्ता (झेलम) के तट पर पहुँच पर उसने शाहकबीर से सैयदपुर तक छः मील लंबे मैदान में अपना डेरा डाल दिया।[4]

१—कर्टियस् जे० डब्ल्यू० मैक्क्रिंडिल, दि इन्वेजन ऑव इंडिया बाइ अलेग्जेंडर दि ग्रेट, पृ० २०६। इस पुस्तक के लिये इस लेख में आगे केवल "इन्वेजन" शब्द का प्रयोग किया जायगा। फ़िरदौसी का शाहनामा (टर्नर मेकन द्वारा संपादित) भाग ३, पृ० १३०४।

२—शाहनामा भाग ३, पृ० १३०४—५

३—स्ट्राबो का ज्यॉग्रफी (भूगोल), हैमिल्टन और फेल्कोनर का अंग्रेजी अनुवाद, १५।१।३२

४—सर अलेग्जेंडर कनिंघम, ज्यॉग्रफी ऑव एंशंट इंडिया, पृ० १५७-१७६

वितस्ता के पार पौरव का विशाल शिविर फैला हुआ था। वर्षा ऋतु थी और वितस्ता का विस्तार बहुत बढ़ गया था।[५] इधर दूसरे तट पर पौरव की सेनाएँ उसके सैनिकों पर झपटने के लिये तैयार खड़ी थीं। ऐसी अवस्था में सिकंदर के लिये नदी पार करना बहुत कठिन था।

फिर भी सैनिकों की छोटी छोटी टुकड़ियाँ अपने सिरों पर शस्त्र रखकर विस्तता के चट्टानी द्वीपों तक पहुँच जाया करती थीं। उन्हें तैरते देखकर पौरव के सैनिक भी झपटकर उन द्वीपों तक पहुँच जाते थे और वहाँ उनमें द्वंद्वयुद्ध चलता था। दोनों ओर की शेष सेनाएँ किनारे पर खड़ी यह तमाशा देखती थीं और इन द्वंद्वों के परिणाम से युद्ध के अंतिम निष्कर्ष का अनुमान किया करती थीं। एक दिन दो साहसी अफसर सिम्मेकस और निकेनोर वीर नवयुवकों की एक मंडली लेकर एक द्वीप पर पहुँच गए जहाँ पौरव के सैनिक विद्यमान थे। इन अफसरों ने एकदम भयंकर आक्रमण करके भारतीय सैनिकों में घमासान मचा दिया। परंतु तट पर से शीघ्र ही बहुत से सैनिक तैर आए और उन्होंने यूनानियों को चारों ओर से घेर लिया। चारों दिशाओं से उन पर शस्त्रों की वर्षा होने लगी, फलतः उनमें से बहुत से सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए। जो बचे वे या तो नदी की तीव्र धारा में बह गए या घरघराते भँवरों में फँस गए।[६] इस प्रकार की घटनाओं से दोनों पक्षों के हृदय में आशा-निराशा के ज्वार-भाटे आते रहते थे। इसी गतिरोध में कई दिन बीत गए। वितस्ता के तट घोड़ों और सैनिकों से भरे हुए थे और सारा क्षितिज उनके दिगंतव्यापी जय-घोष से निनादित हो रहा था। ऊँचे ऊँचे हाथी और चमकीले रथ इस वातावरण को चित्र की शोभा प्रदान कर रहे थे। प्रत्येक पक्ष बहुत सतर्क और सावधान था। यूनानी चुपके से नदी पार करने की ताक में थे और भारतीय झपटकर उन्हें इस पार उतरने से रोकने पर तुले हुए थे। अतः प्रत्येक पक्ष ने नदी के किनारे-किनारे चौकीदारों की शृंखलाएँ खड़ी कर रक्खी थीं, जिससे दूसरे पक्ष के कार्य-कलाप का बराबर पता चलता रहे और सूचनाएँ एवं प्रज्ञप्तियाँ तुरत एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाया करें। यूनानियों ने कई बार नदी पार करने का ढोंग रचा और जब भारतीय नदी के

५—कर्टियस; 'इन्वेजन', पृ० २०५; एरियन, 'इन्वेजन', पृ० ९५

६—कर्टियस, 'इन्वेजन', पृ० २०५।

दूसरे तट पर उन्हें रोकने के लिये एकत्र हुए तो वे इधर-उधर बिखर गए और उन्होंने नदी पार करने का प्रयत्न छोड़ दिया। इस प्रकार की झूठी चेष्टाओं से उन्होंने भारतीयों के मन में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया कि उनका नदी पार करने का कोई पक्का विचार नहीं है। कुछ समय बाद भारतीयों की देख-भाल ढीली पड़ गई।

इस बीच में सिकंदर ने नदी पार करने का एक उपयुक्त स्थान ढूँढ लिया। यह स्थान उसके शिविर से सतरह मील (१५० स्टेडिया) दूर था। वहाँ नदी मोड़ खाती थी और उसके तट पर वृक्षों से ढका हुआ एक टीला था। इस टीले के पास एक गहरी दरार थी जिसमें घुड़सवार और पैदल सैनिक छिप सकते थे। कनिंघम के मतानुसार यह स्थान वही है जहाँ जलालपुर से उत्तर की ओर कंदर नाला बहता है। इस टीले के ठीक सामने नदी में सघन वन से ढका हुआ एक द्वीप था जहाँ कठिनता से ही कोई पहुँच सकता था। सिकंदर उस स्थान की ओर बढ़ा और उसने नदी पार करने के लिये नाव और भुस या हवा से भरी हुई खालें तैयार कीं। भारतीय सैनिकों का ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करने के लिये उसने एटलोस को जिसकी आकृति उससे बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी, आज्ञा दी कि वह नदी पार करने का स्वांग रचे और क्रेटोरस को आदेश दिया कि वह उस समय तक उसी तट पर बना रहे जब तक वह नदी को पार करके पौरव के उन हाथियों से न भिड़ जाय, जिनके आकार और गर्जन से घोड़े बहुत डरते थे और नदी पार करने में रुकावट होती थी।

उस रात भयंकर तूफान चला रहा था। मेघ भयानक स्वर में गरज रहे थे। धारासार जलपात हो रहा था। चारों ओर तेज आँधी गूँज रही थी। ऐसे विषम समय में यूनानियों के साहसी नेता ने अपनी सेनाओं को वितस्ता पार करने का आदेश दिया। आँधी की गूँज और गरज में शस्त्रों की खनखटाहट और सेना का शोर विलीन हो गया जिससे भारतीय सैनिक सिकंदर के कार्य-कलाप को समझ नहीं सके। जब तूफान कुछ दबा तो निबिड़ अंधकार के आवरण ने दिशाओं को ढक लिया और दृष्टिपथ को अवरुद्ध कर दिया। उसी समय सिकंदर एक द्वीप पर जा उतरा और उसे नदी का दूसरा तट समझकर उसपर अपनी सेनाओं का व्यूहन करने लगा। परंतु जब उसे पता लगा कि नदी की एक धारा जो रात्रि की वर्षा से बहुत उत्ताल

और उद्वलित हो गई थी, उसके और नदीतट के बीच गरजती हुई बह रही है तो उसने बड़ी कठिनता से उसे पार करने का मार्ग टटोला और बहुत कष्ट के साथ गरदन तक पानी में से होकर तट पर पदार्पण किया। इसी बीच में सिकंदर के उतरने की खबर भारतीय शिविर में फैल गई। परंतु पौरव ने उसपर विश्वास नहीं किया, क्योंकि उसके सामने दूसरी ओर क्रेटोरस की सेनाएँ थीं और वह उन्हें ही सिकंदर की सेनाएँ समझ रहा था। इसलिये उसने विचारा कि उसका मित्र अभिसारेश उसकी सहायता के लिये आ रहा है। परंतु एक गश्त लगानेवाली टुकड़ी जिसका नेतृत्व पौरव का पुत्र कर रहा था, सिकंदर की नदी पार करती हुई सेना से टकरा गई।[७] इस टुकड़ी में एरिस्टोब्यूलस के मतानुसार ६० रथ थे और टोलेमी के कथनानुसार २००० सैनिक और १२० रथ थे। कर्टियस ने लिखा है कि इस टुकड़ी में १०० रथ और ४००० घुड़सवार थे और इसका सेनापतित्व पौरव का भाई हेगेस कर रहा था।

सिकंदर की सेना और इस टुकड़ी में मुठभेड़ हो गई और बहुत घमासान युद्ध हुआ। एरियन ने प्राचीन लेखकों के आधार पर लिखा है कि इस युद्ध में सिकंदर घायल हो गया और उसका घोड़ा बूकेफेलेस मारा गया।[८] जस्टिन कहता है कि वह सिर के बल भूमि पर आ गिरा, परंतु उसके साथी उसकी सहायता के लिये दौड़ पड़े और उन्होंने उसकी जान बचा ली। कुछ देर तक युद्ध का निष्कर्ष संदिग्ध रहा। यह कहना कठिन था कि किस पक्ष को हानि अधिक हुई, क्योंकि यूनानी सैनिक रथों के प्रारंभिक आक्रमण में बुरी तरह कुचले गए।

७—यह सच जान पड़ता है कि पौरव ने इस समाचार पर विश्वास नहीं किया। यदि वह ऐसा करता तो वह काफी अच्छी सेना भेजता, क्योंकि शत्रु-सेना को दबोचने का उससे अच्छा कोई अवसर नहीं मिल सकता था। जब शत्रु-सेना पानी में लथपथ और थकावट में चूर होकर नदी की धारा से तट पर उतर रही थी उस समय उसे शीघ्रता से दबोचा जा सकता था। यदि पौरव इस अवसर पर सेना भेजता तो अवश्य अच्छी सेना भेजता। इसलिये यही प्रतीत होता है कि पौरव के पुत्र या भाई के नेतृत्व में जो टुकड़ी यूनानी सैनिकों से टकरा गई, वह कोई गश्ती दल था जो इधर से उधर चक्कर लगाता डोल रहा था।

८—स्यूडो-कैलेस्थनीज नामक ग्रंथ की 'ब' और 'स' शाखाओं से भी ज्ञात होता है कि बूकेफेलेस इस युद्ध में धराशायी हुआ।

परंतु रथ कीचड़ में धँस गए और यूनानियों के चुस्त घोड़ों ने उन्हें दबा लिया। नदी का तट इस प्रकार जलमग्न था कि उसकी सीमाओं का कुछ पता नहीं चलता था। नदी की धारा और तटवर्ती जलराशि ने सारे क्षितिज को सागर का रूप दे दिया था। इसलिये बहुत से घोड़े रथों को सारथी-सहित नदी की धारा में ले घुसे। इस उद्वेग की अवस्था में चार सौ भारतीय मारे गए और उनमें पौरव का पुत्र भी वीर-गति को प्राप्त हुआ। जो सैनिक बचे वे भाग खड़े हुए।

वास्तव में इन भागे हुए सैनिकों से पौरव को पता चला कि सिकंदर नदी पार कर चुका है। वह यही समझ रहा था कि क्रेटोरस की सेना ही सिकंदर की पूरी वाहिनी है। परंतु जब उसे शत्रु के उतरने का विश्वास हो गया तो उसने अपनी सेना को व्यूढ़ करना प्रारंभ किया। उसने कुछ सेना क्रेटोरस के समक्ष छोड़ी जिससे वह सरलता से नदी पार न कर सके और शेष को समतल मैदान में जहाँ कीचड़ कम था, व्यवस्थित किया। एरियन के मतानुसार उसने अपने साथ ४००० घोड़े ३००० रथ, २०० हाथी और ३०००० पैदल लिए। दियोदोरस ने इससे बड़ी संख्या का उल्लेख किया है। उसके अनुसार पौरव के साथ ५०००० पैदल और १००० रथ थे। परंतु उसने हाथियों की संख्या घटाकर केवल १३० कर दी है। कर्टियस ने हाथियों की संख्या और अधिक घटाकर ८५ लिखी है। ऐसा प्रतीत होता है कि हाथियों ने यूनानी सेनाओं में जो विध्वंस मचाया वह इतना भयंकर था कि यूनानियों ने उनकी संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखी है। हाथियों के आतंक को अभिव्यक्त करने के लिये बाद के लेखकों ने लोहे के घोड़ों की कल्पना की, जिन्हें सिकंदर ने हाथियों का प्रकोप रोकने के लिये वितस्ता के युद्ध में प्रयुक्त किया था।[९]

९—शाहनामा (टर्नर मेकन का संस्करण) भाग ३, पृ० १३०८—

ब-अस्प-ओ-ब-नफ़्त् आतिश अंदर ज़दंद्।
हमाह लश्कर-ए-फोर बर-सर ज़दंद्॥
अज़् आतिश बर-अफरोख्त् नफ़्त-ए-सियाह।
ब-जम्बीद्-अज़ाँ का-हनीं बूद सिपाह॥

[उन्होंने अपने घोड़ों में तारकोल जला दिया और फोर (पौरव) के लश्कर में गड़बड़ी फैल गई। काला तारकोल भभक उठा और फोर की सेनाएँ लौट पड़ीं, क्योंकि वे घोड़े लोहे के बने हुए थे।]

पौरव को अपनी सेना की व्यवस्था करने में कुछ समय लगा और अभी उसका व्यूह तैयार होने को ही था कि सिकंदर ने उसपर आक्रमण कर दिया। एरियन के मतानुसार पौरव ने अपने हाथी सबसेआगे ३३$\frac{1}{3}$ गज की दूरी पर खड़े किए। पोलियनोस ने हाथियों के बीच की दूरी ५० गज लिखी है। हाथियों के पीछे उसने अपने पदातियों की सघन पंक्तियाँ इस प्रकार व्यवस्थित कीं कि उनके बीच की दूरी में वे पूरी तरह भर गए। दूर से यह व्यूह दुर्ग के समान दिखाई देता था जिसकी मीनारें थीं ऊँचे-ऊँचे हाथी और दीवारें पदातियों की पंक्ति। पंक्ति के दोनों छोरों पर उसने अपने घुड़सवार रक्खे और उनके सामने रथ खड़े किए। सिकंदर ने इससे सरल रीति ग्रहण की। उसने अपने घुड़सवारों के दो भाग किए। एक को उसने अपने नेतृत्व में लिया और दूसरे को कोइनोस के सेनापतित्व में रक्खा। उसका विचार यह था कि वह स्वयं पौरव के वाम पक्ष पर आक्रमण करे और जब उसके घुड़सवार इस आक्रमण को रोकने के लिये दक्षिण से वाम पक्ष की ओर जायँ तो कोइनोस का जत्था उनकी पिछाड़ी पर धावा बोल दे। अपनी पदाति-पंक्ति (फालाँ) को उसने एक ओर इस उद्देश्य से प्रतीक्षा करने का आदेश दिया कि जब वह (सिकंदर) अपने अश्वों के आक्रमणों से शत्रु की सेना में खलबली मचा दे तो वह एकदम उसपर टूट पड़े। इस प्रकार सिकंदर ने बहुत शीघ्र अपनी व्यवस्था कर ली और सबसे पहले पौरव पर आक्रमण कर दिया। १००० यूनानी धनुधरों का एक अश्वारोही अग्र-विभाग पौरव के वाम पक्ष पर बिजली की तरह टूट पड़ा।

जस्टिन ने लिखा है कि प्रथम आक्रमण पौरव ने सिकंदर पर किया और उसकी सेना से उसे उपहार रूप में माँगा। यह कथन अयथार्थ है, क्योंकि अन्य लेखक इसका समर्थन नहीं करते। इसके अतिरिक्त पौरव को समतल भूमि ढूँढ़ने में कुछ समय अवश्य लगा होगा और फिर उसके लिये अपनी सेना को व्यवस्थित करना भी काफी देर का काम था। इसलिये यही प्रतीत होता है कि जब वह अपनी तैयारी पूरी कर रहा था तो यूनानियों ने युद्ध आरंभ कर दिया। कर्टियस ने लिखा है कि जब सिकंदर के पार उतरने की सूचना पौरव के पास पहुँची तो उसने समझा कि उसका मित्र अभिसारेश उसकी सहायता को आ रहा है और उसे वस्तु-स्थिति का बोध तब हुआ जब उसके पुत्र की मंडली के भागे हुए सैनिकों ने उसे पूरी कथा सुनाई। इसी प्रकार एरियन ने लिखा है कि पौरव यह समाचार सुनकर असमंजस में

पड़ गया, क्योंकि क्रेटोरस उसके ठीक सामने नदी पार करने का प्रयत्न कर रहा था। इन परिस्थितियों में यही मत मान्य प्रतीत होता है कि सिकंदर ने पौरव पर पहला वार किया। संभव है जस्टिन की भ्रांति का कारण पौरव-पुत्र का प्रथम आक्रमण हो जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं।

शत्रु को आक्रमण करते देख पौरव के दक्षिण-पक्षीय घुड़सवार दूसरी ओर झपट पड़े। जैसे ही उन्होंने दूसरी ओर मुँह किया, कोइनोस अपनी व्यवस्था के अनुसार उनकी पिछाड़ी पर टूट पड़ा। दो ओर से आक्रमण होने पर भारतीय घुड़सवारों ने झटपट अपने को दो भागों में विभक्त किया; एक भाग शत्रु के सामने का आक्रमण रोकने लगा और दूसरे ने मुड़कर पिछली चपेट रोकने की कोशिश की। जब वे अपनी स्थिति बदल रहे थे तो सिकंदर ने उनपर भीषण धावा बोल दिया और उनमें खलबली मचा दी। कोइनोस ने भी पीछे से प्रबल आक्रमण किया और भारतीय घुड़सवारों ने उद्विग्न अवस्था में भागकर हाथियों के पीछे शरण ली।

यह देखकर पौरव ने शत्रु पर हाथियों का भयंकर आक्रमण किया। आरंभ में उसका विचार यह था कि हाथियों की छाया में आगे बढ़े; जब हाथियों के आघातों से यूनानी सेना में आतंक फैल जाय तो पदातियों की सघन पंक्तियों से उसमें मारकाट मचा दे। यह योजना ऐसी ही थी जैसी आधुनिक काल में टैंकों की गोलाबारी के पीछे-पीछे पैदल सेनाओं के अग्रसर होने की व्यवस्था होती है। परंतु सिकंदर के अकस्मात् आक्रमण ने उसकी योजना को अस्त-व्यस्त कर दिया। फिर भी उसने साहस बटोर कर यथासमय हाथियों का आक्रमण आरंभ कर दिया। जैसे ही महावतों ने इन विशाल प्राणियों को शत्रु की ओर चलाने के लिये अंकुश लगाए, भारतीय पदाति-पंक्तियों ने जमकर उनके पीछे-पीछे प्रस्थान किया। हाथियों की प्रलयंकर चीत्कार से यूनानी घोड़े हिनहिनाने लगे और पदाति-पंक्तियों में घबराहट फैल गई। पर्वतों के समान भागते हुए इन हाथियों ने यूनानी फालों को रौंद डाला और अपने पैरों के प्रहारों से उनके कवचों और हड्डियों को चकनाचूर कर दिया। उनके दाँतों के आघातों से यूनानी सैनिक लोहूलुहान हो गए। सामान्यतः वे सैनिकों को अपनी सूँड़ में लपेटकर धम से भूमि पर पटक मारते थे।[10] कभी कभी वे

१०—डियोडोरस, "इन्वेजन", पृ० २७५

सैनिकों को शस्त्रों सहित अपनी सूँड़ में उठाकर और ऊपर घुमाकर महावतों के पास कर देते थे जो तुरंत उनके सिर काट लेते थे।[११] इसी प्रकार दिन भर युद्ध संदिग्ध अवस्था में चलता रहा। कभी यूनानी हाथियों का पीछा करने लगते थे और कभी भाग पड़ते थे।

एरियन ने लिखा है कि इन हाथियों ने सब पंक्तियों को कुचल डाला और भयानक आतंक और हत्याकांड मचा दिया।[१२] परंतु यूनानी सेना अधिक चुस्त और फुर्तीली होने के कारण नाना प्रकार के शस्त्र लेकर हाथियों के चारों ओर जम गई और हँसिया जैसी कटारों, कुल्हाड़ियों और कुदालों को फेंक-फेंककर उन्हें घायल करने लगी। उनमें से बहुत से हाथियों के महावत मारे गए और बहुत से हाथी भी धराशायी हुए। जो बचे वे घावों और तीक्ष्ण अस्त्रों की भयंकर वेदना से त्रस्त होकर चिग्घाड़ते हुए पीछे की ओर भागे और बहुतों ने अपने पक्ष के सैनिकों को ही रौंद डाला। भारतीय धनुर्धर भी बड़ी विपत्ति में पड़ गए। उनके धनुष जो मनुष्य के बराबर लंबे थे और जिनका एक कोना भूमि पर पैर से दबाकर दूसरा बाएँ हाथ से साधा जाता था और जिनके मध्य में दाएँ हाथ से प्रत्यंचा पर बाण रखकर वेग से चलाया जाता था, पिच्छिल और गीली भूमि में रपट जाते थे। इसलिये वे सुचारु रूप से काम नहीं कर सकते थे। रथ भी कीचड़ में धँसकर बेकार हो गए थे। फलतः भारतीय आक्रमण का बल घट गया और वे बचाव के लिये पीछे हट गए।

पौरव के हाथियों को भागते देखकर केटोरस ने नदी पार कर ली और सिकंदर के विश्रांत सैनिकों को नई स्फूर्ति प्रदान कर दी। नई सेना के आ मिलने से सिकंदर के प्रत्याक्रमण का वेग दुगुना हो गया और भारतीय सेना में हाहाकार मच गया। पौरव स्वयं घायल हो गया और उसने बची-खुची सेना को समेटने के लिये अपना हाथी मोड़कर पीछे की ओर प्रयाण किया।[१३] डियोडोरस ने लिखा है कि उसने बचे-बचाए चालीस हाथियों को जो उस समय तक नियंत्रण में थे, इकट्ठा किया और उन्हें लेकर वह प्राणपण से शत्रु पर टूट पड़ा। उसने अपने हाथ से नर-संहार आरंभ कर दिया। उसके भाले गुलेल के गोलों की तरह

११—कर्टियस, "इन्वेजन", पृ० २११

१२—एरियन, "इन्वेजन", पृ० १०६

१३—एरियन, "इन्वेजन", पृ० १०८

अदम्य वेग से चारों ओर बरस रहे थे।[१४] पौरव के हाथी ने अपने स्वामी की रक्षा करने में आश्चर्यजनक सुबुद्धि और सतर्कता का परिचय दिया और बारंबार शत्रुओं को पीछे ढकेलकर उसे बचाने का प्रयत्न किया।[१५] पौरव के इस दूसरे आक्रमण से यूनानी सेना में घोर आतंक और कातरता फैल गई। यदि हम हब्श के लेखों पर कुछ विश्वास कर सकें तो उनसे पता चलता है कि बहुत से यूनानी घुड़सवार खेत रहे और सैनिकों में खेद और वेदना उमड़ पड़ी। कुछ ने शस्त्र फेंक दिए और शत्रु से जा मिलने का विचार किया। यह दृश्य देखकर सिकंदर ने जो स्वयं बड़े संकट में था, युद्ध बंद करने का आदेश दे दिया और वह संधि का प्रस्ताव लेकर पौरव के निकट पहुँचा।[१६] फिरदौसी ने लिखा है कि जब युद्ध की भीषणता चरम सीमा पर पहुँच गई तो सिकंदर ने पौरव को निम्नलिखित शब्दों में संबोधित किया—

हे यशस्वी पुरुष! हम दोनों की सेनाएँ युद्ध से ध्वस्त हो चुकी हैं। वन्य पशु मनुष्यों के मस्तिष्क खा रहे हैं और घोड़ों की नालों से उनकी हड्डियाँ जर्जरित हो रही हैं। हम दोनों वीर और युवक हैं, बुद्धिमान् और मंजुभाषी योद्धा हैं। अतः सेनाओं की हत्या क्यों हो और युद्ध के पश्चात् उन्हें नीरस जीवन क्यों मिले?"[१७]

१४—डियोडोरस, "इन्वेजन", पृ० २७६

१५—प्लूटार्क, "इन्वेजन", पृ० ३०८

१६—सर अर्नेस्ट ए० वालिस बज, दि लाइफ ऐंड एक्सप्लॉएटस ऑव अलेग्जेंडर दि ग्रेट (ट्रांसलेशंस् ऑव दि इथियोपिक हिस्ट्रीज़ ऑव अलेग्जेंडर), पृ० १२३

१७—फिरदौसी का शाहनामा, भाग ३, पृ० १३०६ (मेकन का संस्करण)—

सिकंदर बद्-ऊ गुफ्त क-ए नामदार।
दो लश्कर शकिस्ता शुद अज़् कारेज़ार॥
हमीं दामो-दद मग़्ज़े-मर्दुम ख़ुरद।
हमीं नाल्-ए-अस्प इस्तख्वाँ बस्पुरद॥
दो मरदेम हर दो दिलेर-ओ-जवाँ।
सुखनगो व बा-मग़्ज़ दो पहलवाँ॥
चरा बहर-ए-लश्कर हमीं कुश्तन्-अस्त।
वगर ज़िन्दाह् अज् रज़्म बर गश्तन्-अस्त॥

एरियन ने लिखा है कि सिकंदर ने अपने मित्र तक्षशिलेश को संधि का प्रस्ताव लेकर पौरव के पास भेजा। परंतु जैसे ही यह संधि और शांति का दूत पौरव के निकट पहुँचा, उसका रक्त इस पुराने शत्रु को आते देखकर खौल उठा और उसने एक भाला इतने वेग से उसपर फेंका कि यदि वह अपने घोड़े को पीछे की ओर सरपट न छोड़ देता तो उसका शरीर टुकड़े-टुकड़े हो जाता। कर्टियस के अनुसार वह दूत तक्षशिलेश का भाई था और पौरव के भाले से तत्काल उसकी मृत्यु हो गई थी। परंतु सिकंदर पौरव के साथ संधि करने के लिये इतना लालायित था कि उसने अपने दूतों के प्रति किए गए अनादर और घृणामय व्यवहार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और वह पौरव के पास दूत पर दूत भेजता रहा। जब किसी दूत की दाल नहीं गली तो अंत में उसने मिरोस को भेजा जो पौरव का घनिष्ठ मित्र था। मिरोस एक भारतीय था और पौरव पर उसका काफी प्रभाव था। अतः उसने पौरव को सिकंदर से मित्रता करने के लिये तैयार कर लिया। मैंने अन्यत्र[१८] यह विचार प्रकट किया है कि मिरोस चंद्रगुप्त मौर्य का ही नामांतर है। इस राजकुमार ने तक्षशिला में सिकंदर से मगध पर आक्रमण करने के हेतु एक संधि की थी और वितस्ता के युद्ध के अनिर्णीत अंत से उसकी योजना पर पानी फिरा जा रहा था। इसलिये वह इस बात का गंभीर प्रयत्न कर रहा था कि सिकंदर और पौरव की संधि हो जाय जिससे वह निश्चिंत होकर आगे बढ़ सके। इसीलिये वह पौरव के पास सिकंदर की ओर से संधि का प्रस्ताव लेकर गया। पौरव ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और सिकंदर से मित्रता स्थापित कर ली।

यूनानी लेखकों ने वितस्ता के युद्ध के निष्कर्ष पर पर्दा डालने का प्रयत्न किया है। जस्टिन और प्लूटार्क ने लिखा है कि पौरव अंत में बंदी बना लिया गया। डियोडोरस ने संकेत किया है कि पौरव सिकंदर के हाथों में पड़ गया और उसने उसे भारतीयों को सौंप दिया जिससे उसके घावों का इलाज भली भाँति हो सके। कर्टियस का मत है कि जब पौरव का हाथी धराशायी हो गया और उसे अस्त्रों की वर्षा में एक शकट पर खड़ा किया गया तो सिकंदर पर उसकी भव्य आकृति और महान् वीरता का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने उससे संधि करने का निश्चय कर लिया। एरियन के मतानुसार जब पौरव रणभूमि से वापस लौट रहा था तो सिकंदर

१८—लेखक की अप्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक "हिस्ट्री ऑव चंद्रगुप्त मौर्य" जो शीघ्र प्रकाशित होनेवाली है।

ने देखा कि वह पराक्रमी और वीर है। उसने उसके प्राण बचाने का संकल्प किया और उसके पास दूत पर दूत भेजना प्रारंभ कर दिया। हब्श और सीरिया के लेखों और फिरदौसी के शाहनामे से पता चलता है कि युद्ध के उपरांत सिकंदर और पौरव में जो द्वंद्व-युद्ध हुआ उसमें पौरव मारा गया। यह सूचना असत्य और भ्रांति-मूलक है और घटनाओं के अयथार्थ बोध पर आधारित है। यह निर्विवाद है कि पौरव का पुत्र जो स्वयं पौरव की उपाधि से अभिहित था, सिकंदर के वितस्ता पार करने के तुरंत बाद युद्ध में मारा गया और यह भी स्पष्ट सिद्ध है कि सिकंदर के भारत से चले जाने के बाद ही पौरव की हत्या की गई। यह संभव है कि कल्पनाओं और किंवदंतियों के आवरण में घटनाओं का विकृत रूपांतर हो गया हो और वही उपर्युक्त लेखों की सूचना का आधार हो।

सब यूनानी लेखक इस बात पर एकमत हैं कि पौरव को उसका राज्य लौटा दिया गया और सिकंदर ने जो प्रदेश जीते थे वे भी उसके राज्य में सम्मिलित कर दिए गए। यह विचित्र और अविश्वसनीय प्रतीत होता है कि एक विजेता पराजित शत्रु का राज्य छीनने के बदले अपने प्रदेश भी उसके राज्य में मिला दे। इतिहास में हमें ऐसे अन्य उदाहरण नहीं मिलते। विजेताओं की विजित शत्रुओं के प्रति व्यवहार करने की जो परंपरा हमें इतिहास से ज्ञात होती है, यूनानी लेखकों की उक्त सूचना उसके सर्वथा विपरीत है। कहा जाता है कि सिकंदर पौरव के शौर्य और पराक्रम से प्रभावित होकर उससे मित्रता स्थापित करना चाहता था और इस हेतु उसने उसे अपने जीते हुए प्रदेश देकर उसके राज्य की सीमा और शक्ति को बढ़ाया। सिसरो ने 'प्रोमार्सेलो' में और सिनेका ने 'डि क्लीमेन्शिया' में सिकंदर के पराजित शत्रु के प्रति इस भव्य व्यवहार की बहुत प्रशंसा की है। परंतु उनकी उक्ति सिकंदर के चरित्र से मेल नहीं खाती।

सिकंदर मानव-दुर्बलताओं का दास था। भावना के प्रवाह में वह कभी-कभी अपना विवेक खो बैठता था। एक बार उसने अपनी धात्री के पुत्र क्लीटस पर, जिसने ग्रेनीकोस के युद्ध में उसकी जान बचाई थी, बर्छी का ऐसा वार किया कि वह तुरंत मर गया। इस वीर का अपराध केवल इतना था कि इसने एक गोष्ठी में सिकंदर के पिता फिलिप की प्रशस्ति का एक पद उच्चारण कर दिया था। इसी प्रकार उसने अपने परम विश्वासपात्र सेनापति परमीनियन और उसके पुत्र को एक षड्यंत्र की उड़ती सी खबर पाकर मृत्यु-दंड दे दिया था। एक अवसर पर उसने

अपने गुरु अरस्तू के भतीजे कैलिस्थिनीज को केवल इस अपराध पर बंदीगृह में डलवाकर मरवा डाला था कि उसने उसके प्राच्य पद्धति के अनुकरण करने पर कुछ आलोचना की थी। प्रायः सिकंदर अपने विरोधियों के साथ बड़ी नृशंसता और क्रूरता व्यवहार करता था। बेसस जैसे देशभक्त को उसने अपमान की चरम स तक पहुँचाया था। उसके कोड़े लगवाकर उसको विकलांग कर दिया था और अंत में उसका निर्दयतापूर्वक वध कराया था। इसी प्रकार मशकावती (मसागा) के शरणार्थियों का, जिन्हें वह अभयदान दे चुका था, उसने रात्रि के समय भीषण संहार कराया था। दक्षिण पंजाब और सिंध में होकर वापस लौटते समय उसने असंख्य निरीह पुरुषों, स्त्रियों और बालकों को मौत के घाट उतारा था। वास्तव में उसका हृदय इतना अमानुषिक प्रतिहिंसा और अनर्गल अहंकार से परिपूर्ण था कि वह विरोध और बाधा सहन करने में बिलकुल असमर्थ था और जो कोई उसका मार्ग रोकता था उसके सर्वनाश के लिये कोई यत्न उठा नहीं रखता था। अतः यह बात मन में बिलकुल नहीं बैठती कि अपने सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु के प्रति, जिसने जीवन में सबसे अधिक उसके दाँत खट्टे किए थे,[१९] वह इतना करुणाद्र हो गया था कि अत्यंत कष्ट से उसे पराजित करने के अनंतर भी उसने उसके साम्राज्य और शक्ति में जान बूझकर वृद्धि की थी।

विंसेंट स्मिथ जैसे पुराने इतिहासकार यूनानी लेखकों पर विश्वास कर सिकंदर को ही वितस्ता के युद्ध का विजेता मानते हैं। इसके विपरीत कुछ भारतीय विद्वान्, उदाहरणार्थ श्री हरिश्चंद्र सेठ[२०] यह मानते हैं कि इस युद्ध में पौरव को

१९—एरियन ने लिखा है कि वितस्ता के युद्ध में सिकंदर के केवल ८० सैनिक काम आए, १० घुड़सवार धनुर्धर मारे गए, २० साथी (कंपेनियन) घुड़सवार खेत रहे और २०० अन्य घुड़सवार मौत के घाट उतरे। डियोडोरस ने सिकंदर की सेना के मृत प्राणियों की संख्या कुछ अधिक दी है। उसके मतानुसार २८० घुड़सवार और ७०० पैदल मारे गए। परंतु युद्ध का इन लेखकों ने जिस प्रकार वर्णन किया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिकंदर की हानि इनकी दी हुई संख्याओं से बहुत अधिक थी। एक आधुनिक इतिहासकार ने लिखा है कि इन लेखकों ने सिकंदर की हानि पर पर्दा डालने की कोशिश की है और उसे बहुत कम करके लिखा है (कैंब्रिज एंशंट हिस्ट्री, भाग ४, पृ० ४०६)।

२०—हरिश्चंद्र सेठ, 'वाज़ पोरस द विक्टर ऑव द बैटल ऑव झेलम ?' प्रोसीडिंग्ज ऑव दि सेकंड इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस (१९३८); उनकी पुस्तक "चंद्रगुप्त मौर्य और भारत में अलेग्जेंडर की पराजय।"

विजय प्राप्त हुई। हाल ही में श्री सुधाकर चट्टोपाध्याय ने यह मत प्रकट किया है कि यह युद्ध अनिर्णीत रहा और पौरव अपनी स्थिति सँभाले रहा और यह संदेहास्पद है कि सिकंदर वितस्ता से आगे बढ़ा हो।[२१] इस युद्ध के विषय में जो कुछ भी हमें ज्ञात हैं उससे प्रकट होता है कि यह अंतिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा। जब प्रारंभिक भगदड़ के बाद पौरव अपनी सेना पुनः संघटित करने के लिये पीछे मुड़ा और चालीस हाथियों को एकत्र करके उसने सिकंदर पर दूसरा आक्रमण किया तो सिकंदर ने युद्ध से संधि को अधिक लाभदायक समझा और पौरव के पास मित्रता का प्रस्ताव भेजा। इसी प्रकार पौरव ने भी, जो इस युद्ध से छक चुका था, मिरौस की बात मान ली और सिकंदर को मगध पर आक्रमण करने का साधन बनाने का निश्चय कर लिया। अतः दोनों योद्धाओं ने युद्ध का अंतिम निर्णय प्राप्त होने से पहले ही एक सम्मानपूर्ण संधि कर ली, जिससे दोनों का स्वाभिमान और स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकी। सिकंदर को भारतवर्ष के भीतर घुसने के लिये मार्ग मिल गया और पौरव को अपनी शक्ति बढ़ाने का एक साधन प्राप्त हो गया।

२१—सुधाकर चट्टोपाध्याय, 'द रूल ऑव दि एकेमेनिड्स् इन इंडिया', इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग २५ संख्या ३, पृ० २०१

विमर्श

दस हिंदी शब्दों की निरुक्ति

१—भगौना

चौड़े मुँह और खड़े किनारे का एक बरतन। पानीपत, करनाल, कुरुक्षेत्र, मेरठ आदि में इसका उच्चारण भगौना ही है। अब कहीं-कहीं 'भिगौना' (अर्थात् वह बरतन जिसमें कोई वस्तु भिगोई जाय) कहने लगे हैं। वस्तुत: इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'भागद्रोण' से है। अन्न का राजग्राह्य अंश 'भाग' कहलाता था। महावास्तु (१।३४७-४८) में इस शब्द का प्रयोग हुआ है—'शालिक्षेत्रेषु षष्ठं शालिभागं ददाम'। हिंदी लाग-भाग में भाग शब्द का पुराना पारिभाषिक अर्थ पाया जाता है। द्रोण एक प्रकार का लकड़ी का बरतन था। महाभारत और जातकों के युग में द्रोण से राजग्राह्य भाग को नापते थे। कुरुधम्म जातक में द्रोणमापक नामक विशेष राज्याधिकारी का नाम आया है जो किसानों से मिलनेवाले राजा के अंश को नापते थे। महाभारत में पैपीलिक स्वर्ण (रेजा सोना, जो बालू धोने से प्राप्त होता था) को 'द्रोणमेय' (द्रोण से नापा जानेवाला) लिखा है। इस प्रकार भागद्रोण + क से भगोना शब्द बना होना चाहिए।

२—ब्यौंत

इसकी व्युत्पत्ति मैंने 'हिंदी के सौ शब्दों की निरुक्ति' नामक लेख[1] में संस्कृत 'व्ययपत्र' से सुझाई थी। उसपर डा० बाबूराम जी ने उचित ही मुझे लिखा कि 'व्यय' से इसका संबंध जोड़ने से अनुनासिक का समाधान नहीं होता और अर्थ में भी 'कृष्टि' या खींचातानी है। इसी बीच डा० सुनीतिकुमार जी से भी विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। उन्होंने 'व्याम' शब्द सुझाया। मैंने श्री बाबूराम जी को

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ५४, अंक २-३

इसकी सूचना देते हुए इसे मान्य ठहराया और लिखा कि 'व्याममात्रा' से 'ब्यौंत' संभव है—व्याममात्रा > व्याममत्त > व्यांववत्त > व्यांउत > ब्यौंत।

पीछे मुझे इसका और भी प्रमाण मिला। अर्थशास्त्र में लिखा है कि ८४ अंगुल का १ व्याम होता था जिसे १ खात-पौरुष भी कहते थे, अर्थात् खाई आदि नापने का व्याम ८४ अंगुल का था। मनुष्य की ऊँचाई नापने का पौरुषमान व्याम ९६ अंगुल का था और वेदि नापने का व्याम १०८ अंगुल का था। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों में तीन तरह की व्याममात्राएँ थीं। हरएक की व्याममात्रा या ब्यौंत अलग-अलग था। बौधायन श्रौतसूत्र में पुरुष और व्याम को पर्याय माना है और उसकी नाप ५ अरत्नि = १२० अंगुल = ७॥ फुट दी है (पंचारत्निः पुरुषो व्यामश्च—बौ० श्रौ० सू० ३०।१)।

३—पटकना

यह शब्द कपड़े पर बने हुए चित्र से संबंधित है। जिधर चित्र बनता था वह हिस्सा 'चित्र' या 'चित्त' कहलाता था। चित्त का उलटा 'पट' होता था, अर्थात् जब चित्र उलटकर रख दिया तो पट या सादा कपड़ा दिखाई पड़ने लगता था। अतएव पट + कृ से 'पटकना' बनेगा।

४—बाल

'बाल' शब्द केशवाची प्रसिद्ध है। लेकिन एक दूसरा भी 'बाल' शब्द हिंदी में है जिसका अर्थ अब ओझल हो गया है। हिंदी का मुहावरा है—'बाल भर का भी फर्क नहीं'। मेरे विचार में इसका 'बाल' शब्द सं० वल्ल से निकला है। श्रीधराचार्य कृत गणितसार ग्रंथ की टीका के अनुसार ३ रत्ती की तोल 'वालु' या 'वल्ल' कहलाती थी। वल्ल का दूसरा नाम 'निष्पाव' भी था। निष्पाव संभवतः मटर का नाम था। गेहूँ की छनन के रूप में अलग निकाल देने से मटर की संज्ञा निष्पाव हुई जान पड़ती है। तीन रत्ती की तोलवाले वल्ल से अपभ्रंश 'बालु' और उससे हिंदी 'बाल' सिद्ध होता है।

'बाल भर का फर्क नहीं', यह मुहावरा गद्याणक सिक्के से बना। गदीयाण या गद्याणक एक मध्यकालीन चाँदी का सिक्का था जिसकी तोल १६ बाल या ४८ रत्ती होती थी। इन सिक्कों में कुछ खोट या मिलावट भी रहती थी। बाजार में दो बाल या छः रत्ती की मिलावट प्रामाणिक मान ली गई थी। इसीलिये इन सिक्कों

के नामकरण से पहले 'द्विवल्लक्य' पद जोड़ा जाता था, जैसे 'द्विवल्लक्य बीसल प्रिय दुम्म' (लेखपद्धति, पृ० ४२), अर्थात् बीसलदेव का चलाया हुआ दुम्म जिसमें दो वल्ल की ओख है। अथवा इन सिक्कों को कभी कभी 'द्विवल्लक' भी कहा जाता था। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में गदियाण सिक्के को केवल 'द्विवल्लक' कहा गया है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि दो बाल तक का खोट होने पर गदियाणक सिक्के व्यवहार और हट्ट (लेन-देन और बाजार) में चालू माने जाते थे। इसी आधार पर यह मुहावरा बना कि दो बाल (छः रत्ती) तो क्या, इसकी चाँदी में बाल भर (३ रत्ती) का भी फर्क नहीं।

५—एकबग्गा

जो व्यक्ति एक दल का हो या एक तरफ ही रहे, वह बनारसी बोली में 'एकबग्गा' कहलाता है। यह सूचना मुझे श्री मोतीचंद्र जी से मिली। वहाँ यह पंचायत की शब्दावली से संबंधित शब्द है। 'वर्ग' शब्द पाणिनि में दल या पक्ष के लिये आता है (जैसे अक्रूरवर्ग्यः, वासुदेववर्ग्यः, अर्थात् अक्रूर के दल का व्यक्ति, वासुदेव कृष्ण के दल का व्यक्ति—अष्टाध्यायी ४।३।६४, ६।२।१३१)। एकबग्गा शब्द सं० एकवर्ग्य >एकबग्ग से बना होना चाहिए।

६—बाली

कान में पहनने का आभूषण 'बाली' कहलाता है। बाणभट्ट में 'बालिका' शब्द इसी अर्थ में आता है जिससे बाली निकल सकता है। परंतु पाणिनि के 'चतुर्थी तदर्थे' (६।२।४३) सूत्र पर कुंडल-हिरण्यं, वल्ली-हिरण्यं (कुंडल के लिये सुनार को दिया हुआ सोना, बाली बनवाने के लिये दिया हुआ सोना), ये दो उदाहरण काशिका में दिए हैं। यहाँ सं० वल्ली शब्द बाली के लिये है।

७—जौहर

इसकी व्युत्पत्ति अभी तक अनिश्चित है। 'यमगृह' से एक व्युत्पत्ति सुझाई गई है। परंतु हमारी समझ में इसका मूल सं० जतुगृह है, जिसका अर्थ था लाक्षागृह। अग्नि में जल-मरने की इच्छावाली स्त्रियाँ सामूहिक रूप से लाख के बने हुए घर में चली जाती थीं, जहाँ वे तत्काल भस्म हो सकती थीं। लाक्षागृह की कल्पना प्राचीन है। जतुगृह से जउहर >जौहर व्युत्पत्ति सरल है।

मेरठ की बोली में नई उम्र का बैल जो हिलावर हो, जिसपर नाथ डालने के बाद जुआ रक्खा जा रहा हो, खैरा या खैड़ा कहलाता है। उम्र में यह २॥-३ वर्ष का होता है। हमारी सम्मति में इसका मूल रूप सं० 'उक्षतर' (पाणिनि, ५।३।९१) है। उसी से क्रमशः उक्खयर + क > खयरा > खैरा, खैड़ा रूप बनेंगे।

९—हड़ताल

दूकान या कामकाज बंद करने के अर्थ में हड़ताल शब्द प्रयुक्त होता है। इसका मूल सं० हट्टताल (=बाजार में ताला) शब्द है। श्री अगरचंद नाहटा ने दिखाया है कि यह शब्द पुराना है और भीम कवि कृत 'सदयवत्स' प्रबंध में प्रयुक्त हुआ है—'हाट सबे पाड़ी हटताल' (राजस्थान भारती, अप्रैल १९५०, पृ० ८२)।

१०—जीत, हरी, हरसोत

खेती में हल बैल के द्वारा साझेदारी के लिये अवधी भाषा में अँगवार, डँगवार, हरी, हरसोत और जीत शब्द चलते हैं (कचहरी टेकनिकलटीज, पृ० १४)। इनमें 'हरी' शब्द का मूल सं० हलि है जो अष्टाध्यायी के दो सूत्रों में आया है (३।१।२१; ३।१।११७)। अर्थ है बड़ा हल (महद् हलं हलिः)।

'हरसोत' शब्द का मूल सं० हलीषा और योक्तृ था, अर्थात् हलस और जोत के द्वारा जो साझा हो वह हरसोत कहलाता था।

'जीत' शब्द विचित्र है और यह अत्यंत आश्चर्य की बात है कि पाणिनि का यह शब्द साहित्य में से लुप्त हो गया, पर अवधी बोली में बचा रह गया। 'जीत' का मूल सं० जित्य है (पाणिनि ३।१।११७), जो सं० हलि का पर्याय है; अर्थात् इसका भी अर्थ था 'बड़ा हल'। हल के द्वारा खेती में साझेदारी 'जीत' कही गई।

बुंदेलखंड और रुहेलखंड की बोली में वह हलवाहा-मेहनती 'जीतरा' कहा जाता है जो मजदूरी न लेकर हल-बैल ले लेता है, जिनकी सहायता से वह अपना खेत भी जोत-बो लेता है। इसकी व्युत्पत्ति भी सं० जित्य (=हल) से ही होनी चाहिए।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

चयन

दतिया की यात्रा

"कल्पना" (हैदराबाद-दक्षिण) के अगस्त १९५१ के अंक में प्रकाशित डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'दतिया की यात्रा' शीर्षक लेख, जिससे तीन सौ वर्ष पूर्व की भारतीय वास्तुकला एवं शस्त्रास्त्र-निर्माण-कला की उन्नति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है, यहाँ अविकल उद्धृत है—

१३–१४ मई को दतिया-नरेश महाराज श्री गोविंदसिंह जी की कृपा से मुझे दतिया एवं उसकी पुरानी इमारतें देखने का अवसर मिला। दतिया का पुराना नाम दिलीपनगर कहा जाता है, क्योंकि इसे महाराज दलपतराय ने बसाया था। पर यहाँ लोग ऐसा मानते हैं कि इस प्रदेश में दंतवक्र के राज्य करने की पुरानी परंपरा के कारण नगर का नाम दतिया पड़ गया। इसमें सत्यांश जान पड़ता है। पाणिनि के 'कार्तकौजपादयः' सूत्र (६।२।३७) के गण में जो 'कुन्ति-सुराष्ट्राः' 'चिन्ति-सुराष्ट्राः' उदाहरण मिलते हैं, ये पुराने भौगोलिक नामों के जोड़े हैं। किसी समय कुंति-जनपद और सुराष्ट्र-जनपद का घनिष्ट संबंध हो गया था जिसके कारण इन दोनों का नाम एक साथ लिया जाने लगा और वह शब्द 'कुन्ति-सुराष्ट्राः' समास के रूप में भाषा में पड़ा रह गया। यही बात 'चिन्ति-सुराष्ट्र' के बारे में भी लागू है। चिंति-जनपद और सुराष्ट्र-जनपद का जोड़ा चिंतिसुराष्ट्र कहलाया। विचार करने से इस भौगोलिक नामकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कुछ इस प्रकार सामने आती है। कुंति आजकल का कोंतवार प्रदेश है जिसमें ग्वालियर-दतिया का इलाका है, जो चंबल, कुमारी, काली सिंध और पहूज नदियों के कच्छ का प्रदेश था। यहीं कुमारी नदी के किनारे कौमार-अवस्था में कुंती ने कर्ण को जन्म दिया था। बिना कारण भौगोलिक नाम नहीं पड़ते। आज भी कुमारी नदी उस घटना की सार्वजनिक स्मृति के रूप में कोंतवार या कुंति-जनपद के बीच से बह रही है। जब कृष्ण ने दंतवक्र को परास्त किया तो कोंतवार का प्रदेश सुराष्ट्र के साथ राजनीतिक सूत्र में बँध गया और यहाँ की कच्छ भूमि 'गोपाल कच्छ' कहलाने लगी। यहाँ के रहने-

वालों का दूसरा नाम 'नारायण गोपालाः' प्रसिद्ध हुआ जो महाभारत में कई जगह आता है। इसी के बाद ग्वालियर की पहाड़ी गोपालक गिरि या गोपाचल कहलाने लगी। महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने यहीं के ग्वालों की नारायणी सेना को दुर्योधन को दे दिया था, अतएव कृष्ण के राज्य से संबंधित होते हुए भी नारायण गोपाल पांडवों से लड़े थे। इसी प्रकार चिति प्रदेश नर्मदा के दक्षिण माहिष्मती मांधाता का पुराना नाम ज्ञात होता है, जो इतिहास में चेदि के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ का राजा शिशुपाल भी कौरवों का पक्षपाती था। उससे कृष्ण की टक्कर हुई और राजसूय यज्ञ के समय कृष्ण ने उसका अंत कर डाला। इसके बाद अवश्य ही नर्मदा के दक्षिण का प्रदेश, बरवानी से लेकर जबलपुर तक का इलाका, सुराष्ट्र के राज्य में मिला लिया गया होगा। उस समय भौगोलिक नामों का यह जोड़ा 'चिति-सुराष्ट्र' लोक में प्रयुक्त होने लगा था।

कोंतवार प्रदेश जंगलों से भरा हुआ है। वहाँ जंगलों की शोभा अपूर्व है। नदियों के कच्छ वन्य संपत्ति और पशु-संपत्ति से भरे हुए हैं। किसी समय जब राज्य और जनता के संबंध अच्छे थे, यह प्रदेश घी-दूध से भरा हुआ था। भविष्य में भी जब जनता का भाग्योदय होगा, यहाँ की प्राकृतिक संपत्ति और पशु-धन से लोग मालामाल हो जायँगे। कहते हैं यहाँ गेरू, खड़िया, रामरज आदि बन्नी मिट्टियों की और पत्थर की गिट्टियों का भंडार भरा है। रंगीन मिट्टी यहाँ खबीस मिट्टी (सं० कपिश, प्रा० कविस) कहलाती है। यहाँ स्टेशन पर ही बजरी के ढेर लगे देखे। उसके तोड़नेवाले सोनगर कहलाते हैं। जलाऊ लकड़ी का भी जंगलों में काफी निकास है और जंगलों में रहनेवाले मोगे या सहरिए जगह जगह भट्टियाँ बनाकर कोयला फूँकते हैं। इमारती लकड़ी में धौ के जंगल हैं; शीशम भी होता है।

दतिया के पास तीन मील पर जैनों का तीर्थ सोनागिरि पहाड़ है जो ऋषि-मुनियों की तपश्चर्या के कारण प्रसिद्ध निर्वाणक्षेत्र है। अब इसका उद्धार हो रहा है। पचास से ऊपर मंदिर पहाड़ी पर बन गए हैं, उनमें से बहुतों का संगमरमर से पुनः निर्माण हो रहा है। नए मंदिर भी बनते जाते हैं। लगता है कुछ काल बाद मंदिरों की नगरी के रूप में इसका विकास हो जायगा। चंद्रप्रभु के बड़े मंदिर के सामने का मानस्तंभ भव्य जान पड़ता है। मंदिर में भी फर्श नए ढंग का साफ-सुथरा है। किंतु सबसे अधिक आँख में खुभनेवाली बात यह है कि कला-प्रेम के कारण मंदिरों में जापानी ढंग के चीनी के रंगबिरंगे चौकों का प्रयोग होने लगा है।

यह भोंडी चटक-मटक जैनों की अपनी श्रेष्ठ वास्तुकला के साथ बड़ा अन्याय है जो अनजान में हो रहा है। तुरंत इसे बंद करना चाहिए। पहले युगों में पत्थर और संगमरमर को मोम की तरह भाँति-भाँति की उकेरी से सजाकर जैन श्रावकों और संघपतियों ने वास्तुकला के क्षेत्र में एक चमत्कार ही कर डाला था। और न सही, उसकी लाज से ही इस अज्ञान-जनित नए प्रयोग को अविलंब त्याग देना उचित है।

दतिया में सारे भारत का तीर्थ ओड़छे के बुंदेले महाराज वीरसिंहदेव का सतखंडा महल है। दो खंड धरती के नीचे और पांच खंड ऊपर बने हैं। प्रत्येक खंड में चार चौक और बीच में मंडप है जो क्रमशः उठते चले गए हैं। यह महल सतरहवीं शती की प्रासाद-निर्माण-कला का अद्भुत उदाहरण है। भारतवर्ष में पुराने महलों के उदाहरण यों ही कम बचे हैं, जो रह गए हैं उनका भी अध्ययन अभी तक नहीं किया गया। महलों के भिन्न-भिन्न भाग मंदिर कहलाते हैं; जैसे सुखमंदिर, जहाँ राजा विशेष रूप से समाज करके संगीत-नृत्य का सुख लेते थे। प्राचीन हिंदू-काल के महलों की परंपरा मध्यकालीन महलों में आई और विकसित हुई। फिर मुगल और राजपूत राजाओं के महलों का युग आया और कितनी ही नई बातें प्रासाद-रचना में शामिल हो गईं। महलों के भीतर के खानगी बगीचे 'नज़रबाग' के नाम से प्रसिद्ध हुए। जल-विहार के लिये सावन-भादों नामक दो विशेष महल बनाए जाने लगे। वीरसिंहदेव का यह महल अकबर के फतेहपुरी-सीकरी वाले पँचखंडे महल की तरह हिंदू-परंपरा पर आश्रित है। महल का प्रवेश-द्वार आज भी 'सिंहपौर' कहलाता है। चौथे खंड पर मंडप की शोभा विशेष सुंदर है, वहीं सुखसाज का सुहाग-मंदिर था। यहाँ छत में चित्र लिखे हुए थे और खंभों पर उकेरी बनी थी। सबसे ऊपर की गूमट में बहार-बुर्ज या हवामहल था। अब इस महल की जो दुर्दशा है उसे कहने के लिये लेखक के पास शब्दों का टोटा है। बसाए हुए शरणार्थियों ने इसे घूरे का ढेर बना दिया है। यह बुंदेलखंड के राष्ट्रीय गर्व का स्मारक और प्रासाद-कला का तीर्थ है। क्या कोई इसकी बात सुनेगा ?

दतिया में महाराज का पुराना शस्त्रागार या सिलहखाना है। उसमें से राष्ट्रीय संग्रहालय के लिये कुछ नमूने चुन लेने के लिये श्री महाराज साहब ने उदारतापूर्वक हमारे विभाग को आमंत्रित किया था। शहर में गढ़ के भीतर जो पुराना महल है उसके सामने ही दो सिप्पे (आधी नाल की तोप जो अंग्रेजी मारटर

के तुल्य हुई) रक्खे हुए हैं। किले के बाहरले और भीतरले द्वारों के बीच का घूमा हुआ भाग राजस्थान में 'घूघस' और बुंदेलखंड में 'रेनू' कहलाता है। वहीं लगभग आठ फुट नाल और दो फुट व्यास की एक भारी तोप रक्खी हुई है जिसपर एक लेख खुदा है। उसके अनुसार द्वितीय अकबर के समय में संवत् १८८८ में पारीछित महाराज के राज्यकाल में दलीपनगर के मुहीउद्दीन नामक लुहार ने यह तोप ढाली थी। आश्चर्य है, केवल सवा सौ वर्ष पहले एक साधारण लुहार की भट्टी इतनी बड़ी ढलाई का काम कर सकती थी जो आज भी इनेगिने कारखानों में ही हो सकता है। इसी तरह की बहुत सी बड़ी तोपें मध्य-काल में ढाली गई जो जहाँ-तहाँ पुराने किलों में बिखरी हुई हैं। किसी समय उनका संग्रहात्मक इतिहास बड़ा रोचक होगा।

पुराने हथियारों पर अभी कोई अच्छा परिचयात्मक ग्रंथ नहीं लिखा गया। सिकलीगरों से उस विषय की मूल्यवान् सामग्री मिल सकती है। अलवर के अजायबघर में लगभग दो हजार तलवारों का संग्रह है। उसे देखने के बाद पहली बार हमें अनुभव हुआ कि इस विषय की कितनी शब्दावली अभी तक बच गई है। समय रहते उसका संग्रह होना आवश्यक है। सोमेश्वर के समय (११२७-११३८) के "मानसोल्लास" के 'शस्त्रविनोद' प्रकरण में शस्त्रों का पर्याप्त वर्णन है। पुनः चौदहवीं शती के आरंभ में मैथिली भाषा पर लिखे हुए "वर्णरत्नाकर" ग्रंथ में 'पाणायुध' और 'दंडायुध' भेद से दो तरह के हथियार बताए हैं और ३६ प्रकार के दंडायुधों का उल्लेख किया गया है। सन् १४२१ में विरचित "पृथ्वीचंद्र-चरित" में ३६ दंडायुधों की सूची इस प्रकार दी हुई है—१—वज्र; २—चक्र; ३—धनुष; ४—अंकुश; ५—षंग; ६—छुरिका; ७—तोमर; ८—कुंत; ९—त्रिशूल; १०—भाला; ११—भिंडमाल १२—मुसंडि; १३—मल्लिक; १४—मुद्गर; १५—अरल; १६—हल; १७—परशु; १८—पट्टि; १९—शविष्ठ; २०—कणय; २१—कंपन; २२—कर्त्तरी; २३—तरवारि; २४—कुदाल; २५—दुस्फोट; २६—गदा; २७—प्रलय; २८—काल; २९—नाराच; ३०—पाश; ३१—फल; ३२—यंत्र; ३३—द्रुस; ३४—दंड; ३५—लगड़; ३६—कटारी। उसके लगभग डेढ़ शती बाद के "आईन-अकबरी" में भी शाही सिलहखाने के हथियारों का वर्णन है (आईन ३५) जिसमें सोमनाथ पाटन की बनी हुई बढ़िया फौलादी तलवारों का और 'जमधार' एवं 'खपवा' नामक गुजरात की कटारियों का विशेष उल्लेख है। अठारहवीं शती के "सुजान-चरित" में भी जाटों द्वारा दिल्ली की लूट के प्रसंग में हथियारों का अच्छा वर्णन है; यथा—

तुपक तीर तरवार तमंचा तेगा तीछन। तोमर तबल तुरंग दाब लुट्टियौ तिहीं छन॥
पट्टा पट्टी परस परसि बिछुवा बरछौंके। बल्लम बरछा बरछि धनुष लिय लूटि निसांके॥
बुगदा गुपती गुरज डाढ जमकील सुतारी। सूल अंकुसा छुरी सुधारी तिष्ष कुठारी॥
सिप्पर सिरी सनाह सहसमेखी दस्तानैं। भिलम टोप जंजीर जिरह लुट्टिय मस्तानैं॥
पक्खर गक्खर लक्खराग बागे रु निषंगा। आयुध और अनेक और चिलतह बहु अंगा॥

(सुजानचरित, पृ० १७२)

सूदन की नामावली हमारे अधिक निकट है और लगभग उसी युग की है जब दतिया का सिलहखाना बन रहा था। यहाँ पहली बार हमने लोहे की महीन कड़ियों की बनी हुई हाथी की रक्षात्मक झूल देखी। यह चार हिस्सों में बनती थी। मुँह को ढकनेवाला भाग 'सिरी', दोनों बगलियों में लटकनेवाला भाग 'पाखर' और 'दुमची' और पुट्ठों को बचानेवाला भाग 'पिछाड़ी' कहलाता था। हाथी के दाँतों पर खाँग लगे हुए दो ढक्कन रहते थे जिन्हें 'मुहाला' कहा जाता था। घोड़े का बख्तर और मोहरा भी देखने को मिला। घोड़े का मुँह ढकनेवाला लोहे का कड़ीदार पट्टा 'अँधियारी' कहलाता था।

आदमी का जिरह-बख्तर भी देखा। अच्छा सिपाही सिर से पैर तक बख्तर से अपने-आपको ढककर बारह हथियार बाँधता था, ऐसा प्रसिद्ध है। इस बाने को बारहबान कहते थे। पूछने पर बारह हथियारों की यह सूची बताई गई—(१) तलवार, (२) तमंचा, (३) बिछवा, (४) जमदाढ या जमदढ़िया, (५) कटार, (६) चक्र, (७) कमान, (८) बंदूक, (९) सांग, (१०) ढाल, (११) बाँस, (१२) बख्तर। जिरह और बख्तर का भेद, तथा भिलम और टोप का भेद मुझे उस दिन पहली बार मालूम हुआ। लोहे की कड़ियों का बना हुआ अंगरखा जिरह कहलाता था। इसी के लिये गोसाईं जी ने 'अंगरी' (अयो० १९।१।३) नाम दिया है। अंगुलीयक या अँगूठी के आकार की कड़ियों के मिलाने से बना होने के कारण इसका यह नाम पड़ा। अवेस्ता आथ, पहलवी आड़, पाजंद जरेह् से यह शब्द निकला है। बख्तर उस प्रकार का जिरह था जिसमें आगे-पीछे लोहे के तवे लगे रहते थे। उन्हें 'चार आईना' (आईने की शकल के दो आगे, दो पीछे के लोहे के तवे) कहते हैं। आईनों में आड़ी सलाखें जड़ी रहती हैं जिन्हें पसली कहते हैं। जो पसलीदार हो वह बख्तर कहा जाता है। जिरह के ढंग का ही पाजामा बनता था। सिर पर लोहे का टोप पहन कड़ियोंदार भालर गरदन पर लटकाई जाती थी

जिसे झिलम कहते थे। दोनों के लिये झिलमटोप शब्द हिंदी में चल पड़ा। नाक की रक्षा के लिये आगे लटकता हुआ झिलम 'नकाब' कहलाता था। टोप को गरदन से बाँधने की कड़ीदार जंजीर पवाई कहलाती थी। अंदर रुई भरकर बनाया हुआ किमखाब का अंगरखा जिसके ऊपर लोहे के पत्तर जड़े रहते थे, 'चिलता' कहलाता था। उसके भीतर मगर की पसलियाँ भी रुई में भर देते थे।

मस्त हाथी को वश में करने के लिये पूरे लोहे का भारी अंकुश 'गजघाव' कहलाता था। यहाँ एक दोहरा गुर्ज भी मिला जिसमें ऊपर नीचे के दोनों सिरों पर चीमरी की भाँति का एक एक लोहे का फाँकदार फूल लगा हुआ था। एक चार नाली की चौनाली तोड़ेदार बंदूक थी। कुछ दुनाली भी थीं। छोटी और बड़ी 'रंदापनास' बंदूकें देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। किले की दीवार में जिसे यहाँ 'रर' कहते हैं, ऊपर कुछ सूराख या मोखे बने रहते हैं जिन्हें आजकल 'तीरकस' कहते हैं और पुराने समय में 'रंध्र' कहते थे। अलवर के किलेदार से हमें इनके लिये (कँगूरों में बनी हुई) 'बारियाँ' शब्द मिला था। 'रंध्र' से ही 'राँद' बना है। ऊपर के राँद में बंदूक रखकर दूर के दुश्मन को मारा जाता था। जब शत्रु किले की फसील के ठीक नीचे आ जाता था तब जड़ के या नीचे के राँद में बंदूक रखकर निशाना मारते थे। हमने इन मोखों को पास से देखा तो प्रत्येक के भीतर तीन तीन मोखे थे, एक बीच का जिसे 'सामुख' कहते हैं, एक दाहिना और एक डेरा (बायाँ)। किसी समय इन राँदों में से तीर चलाए जाते थे जिससे तीरकस नाम पड़ा होगा। पीछे बंदूक का प्रयोग होने लगा। राँदों में से चलाई जाने के कारण ही बड़ी बंदूकें 'रंदापनास' कहलाती थीं।

'कुलंग' हथियार भी पहली बार देखने को मिला। यह एक लोहे के डंडे में दूसरा नुकीला डंडा लगाकर बनाया जाता था, जिससे माथे पर चोट करते थे। कुलंग पक्षी की चोंच की तरह होने से इसका यह नाम पड़ा। गुप्तीदार कुलंग भी बनाए जाते थे। कई तरह की तलवारें देखीं; जैसे झोंका तलवार, नागदमन (जिसकी धार दाँतेदार या लहरिया होती थी), सोसन कत्ता और चौड़ा तेगा। दो जीभ की दुभालिया कटार, खोपलेदार कटार, लहरदार कटार और छोटी कटारियाँ (सं० कर्त्तरी) भी देखीं। बिछुआ नामक हथियार पर जगदंबा की मूर्ति बनी थी। पाँच अँगुली और छल्लेवाला बघनखा भी देखा जिसके छल्लों में तर्जनी और छिगुनी डालकर 'गिरिफ्त' की जाती थी।

एक गुर्मीदार फरसा था जिसकी बेंट पर हाथी का मुँह बना था। 'मारू ढालदार' एक नया हथियार देखा जिसके बीच में ढाल लगी थी और दोनों ओर दो छोटे नोकदार भाले लगे थे। लड़वैया इसे बीच से पकड़कर बचाव और मार एक साथ कर सकता था। कड़ाबीन बंदूक वह थी जो एक ओर लटकी रहती और केवल पैंतरे से किसी तरफ को चलाई जाती थी, उसमें आँख से निशाना नहीं साधा जाता था। छोटे-बड़े अनेक प्रकार के तमंचे और बंदूकें भी लड़ाई में काम आती थीं। पिस्तौलें तीन प्रकार की थीं—(१) छोटी टोपीदार, (२) छोटी पथरकला की, (३) टोपीदार और पथरकला की (जो टोपी और चकमक दोनों तरह से चिनगारी प्रज्वलित करके चलाई जाती थी)। पथरकला की बंदूकें और तमंचे पुराने ढंग के थे। उसमें चकमक पत्थर की रगड़ से चिनगारी उत्पन्न होकर बारूद में आग लगती थी। पथरकला का दुनाली तमंचा, पथरकला की कड़ाबीन और पथरकला की बंदूकों के कई नमूने थे।

'हाथी चिक्कार' एक प्रकार का लोहे का बना हुआ भारी भाला था जिससे पैदल सैनिक हाथी पर वार करते थे। छोटा भाला 'बुटी' कहलाता था। हाथी को घूँसने का लोहे का 'घूँसा' नामक हथियार भी होता था। 'सांग' और 'सांगी' बिल्कुल लोहे का बना हुआ भाला था। "पृथ्वीचंद्रचरित" में इसे 'षंग' कहा गया है। इसका फल कनेर की पत्ती के समान नोकदार होता था, इसलिये 'सांगी कनेर पत्तीदार' नाम चालू हो गया।

एक छोटी अद्धा तोप का नाम 'तोप गोरे की' बताया गया। ज्ञात हुआ कि इसमें गोरे पत्थर (एक प्रकार के मुलायम पत्थर का नाम) के गोले भरकर चलाए जाते थे।

इतना सामान महाराजा साहब ने पहले ही छँटवा रक्खा था। फिर हम उनके सिलहखाने और शस्त्रों के गोदामों में गए। वहाँ भी काफी रोचक सामग्री मिली। सबसे पहले मेरा ध्यान गोलचक्र पर गया जो बीच में अँगुली या डंडा डालकर तेजी से घुमाते हुए गरदन का निशाना लगाकर दूर से फेंका जाता था। पृथ्वीचंद्रचरित की सूची में चक्र का नाम आया है। गिरे हुए तीर उठाने के लिये 'फूल' नामक एक यंत्र होता था जिसके सिरे पर एक फाँकदार फूल लगा रहता था। कुल्हाड़ी की तरह का एक हथियार मिला जो 'तबल' कहा जाता था और जो सुजानचरित की सूची में है।

तीर-कमान मध्यकाल का खास हथियार था। धनुर्वेद के ग्रंथों में धनुष-बाण बनाने और उनके प्रयोग के अनेक विवरण मिलते हैं। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित "धनुर्वेद" संज्ञक (सं० ५५७) ग्रंथ में निम्न विषय हैं—धनुर्धर-प्रशंसा, धनुर्धारण-विधि, धनुःप्रमाण, गुण-लक्षण, फल-लक्षण, पायन-विधि, नाराच-नालिका-लक्षण, स्थान, गुणमुष्टि-लक्षण, धनुर्मुष्टि-लक्षण, लक्ष्य-लक्षण, शर-लक्षण, लक्ष्य-संचालन-विधि, शीघ्र-साधन, दूर-पातित्व, दृढ़-प्रहारता, हीन-गति, लक्ष्य-चलन-गति, धनुर्गति, बाण-भंग, वराठिका, विंदुक, गोलयुग्म, शब्दभेदी आदि। कुछ दिन पूर्व अलवर से हमें "रिसाला तीरंदाजी" नामक हस्तलिखित फारसी ग्रंथ मिला था। उ समें ये सब विषय फारसी की चुस्त शब्दावली में ब्यौरेवार लिखे हैं। दतिया के सिलहखाने में कमानें रक्खी देखकर हमने अनुमान किया कि वे बाँस या लकड़ी की बनी होंगी, पर हमें बताया गया कि रेशम कूटकर उसे सरेस से पतली लकड़ी पर चिपकाकर धनुष बनाते थे जो मुड़ने या झुकने पर भी टूटता न था। तीर के ऊपरी सिरे पर एक खाँचा बना रहता है जिसे डोरी या गोशे पर रखकर तब डोरी को पीछे की ओर खींचते थे। यह चिरा हुआ सिरा 'सूपाल' कहलाता था। डोरी ताँत की या रेशम की बनाई जाती थी। तीर कई प्रकार के थे—फुल्लीदार जो सिर्फ निशान डालने के लिये चलाए जाते थे, जिन्हें तुक्का भी कहा जाता था; भालदार, जिसके फल में नोक या अनी हो; चौपैला (चौपहल फल का); कनेर पत्ती का (लंबी पतली धारदार पत्ती की आकृति के फल का)। नावक का तीर भी देखा। वह नाली में रखकर चलाया जाता था। नाली धनुष में ही अटक कर रह जाती थी पर उसमें रक्खा हुआ नावक पूरे वेग से हवा को चीरता हुआ लक्ष्य में पूरा का पूरा घुस जाता था अतएव उसका बाहर निकालना कठिन या असंभव था। स्कूल में कभी 'चले चंद्रबान, घनबान औ कुहकबान औ चलीं कमान धूम आसमान छ्वै रह्यो' यह पद्य पढ़ा था। यहाँ पूछने पर ज्ञात हुआ कि 'चंद्रबान' के भाल में चंद्र लगा रहता था जिससे वह दोहरा घाव छेदता था। घनबान में आगे गुटका सा लगा रहता था जिसमें ज्वलनशील पदार्थ भरा रहता था। चलाते समय उसमें आग लगाकर बाण छोड़ते थे। 'कुहकबान' में आगे एक ढीबरी लगी रहती थी जिसमें चार छेद होते थे। उनमें आगे से हवा भरती और पीछे से निकलती थी और कोयल कुहकने का सा शब्द होता था, जिससे यह नाम पड़ा। तिभालिया (तीन नोक की) गुप्ती, नाहरमुखी बेंट की गुप्ती, तिपहला बल्लम और अणियादार (अणी = नोक) पेशकब्ज भी देखा। 'तूल' वह

डंडा होता था जिसके सिरे पर एक ठोस फूल बना रहता था जिससे सिर पर चोट मारने का काम लिया जाता था।

कटार हिंदू-काल का हथियार था। उसकी बनावट इस प्रकार की होती है– दो सीधी पत्तियों के बीच में दो आड़ी डंडियाँ लगी रहती हैं। पत्तियों का ऊपरी सिरा खुला हुआ और नीचे का एक कमाँचे से जुड़ा रहता है। इसी कमाँचे में फल लगा रहता है। खड़ी पत्तियों को 'टालें', आड़ी डंडियों को 'भोगली', कमाँचे को 'कंधा' कहते हैं। फल में ऊपर के हिस्से में सुंदरता के लिये पान की आकृति और बीच में नस बनी होती है और अगल-बगल का हिस्सा 'सींक' कहलाता है।

तलवारों के अनेक भेद हैं। मूठ और फलों की रचना से उनके अलग-अलग नाम पड़ते हैं। तेलुगु भाषा में "खड्ग-लक्षण-शिरोमणि" नामक एक ग्रंथ मिला था जिसे मद्रास विश्वविद्यालय के तेलुगु विभाग के अध्यक्ष प्रो० वेंकटराव ने प्रकाशित किया है। उसमें १३० के लगभग तलवारों के नाम दिए हुए हैं। ये नाम अरबी-फारसी की परंपरा प्रकट करते हैं, जो अवश्य ही भारतवर्ष में इसलामी राज्य के बाद यहाँ चालू हुए। इनमें कुछ नाम विलायती परंपरा के भी हैं। टीकमगढ़ के दीवान श्री सज्जनसिंह ने एक बार मुझे तलवारों और मूठों के संबंध में कुछ शब्द बताए थे। उनसे इस विषय में मेरी रुचि जाग्रत् हुई और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे इस विषय के अपने ज्ञान को लिपिबद्ध करने की कृपा करें। वे संभवतः ऐसा कर भी रहे हैं। उन्होंने मूठ के अलग-अलग भागों के नाम बताए, जैसे (१) फूल, (२) कटोरी, (३) कंठ, (४) अँबिया, (५) परज, (६) चौक, (७) गट्टा और (८) चुंजक। इसका एक दोहा भी उन्होंने कहा था जो मेरे तत्काल टीप न लेने से हाथ से निकल गया।

इस यात्रा में ज्ञात हुआ कि फूल के ऊपर की गोल फुटक 'निबौरी' कहलाती है। कटोरी को 'बिलिया', कंठ को 'गला', गट्टों को 'तोड़े' और अँबिया और चुंजक के जोड़ को 'चौक' भी कहते हैं। किन्हीं मूठों में कटोरी के ऊपर लंबा दंड सा निकला रहता था, उसे 'नेतुआ' कहते थे। अँबिया को पुतली और फारसी में 'बुत' भी कहते हैं। कहीं-कहीं निबौरी में एक कड़ी पड़ी रहती है जिसे 'नथली' कहते हैं। दतिया में उसका नाम 'दस्कती' भी मिला। दस्तखत करनेवाली मुहर की आकृति से मिलने के कारण उसका यह नाम पड़ा होगा। मूठ को फारसी में कब्जा कहा जाता है। मूठ में नीचे जो चिम्टा सा निकला रहता है उसका नाम संस्कृत के "मानसोल्लास"

में 'सूसक' मिलता है, क्योंकि शिंशुमार या सूँस के खुले हुए मुँह से उसकी आकृति मिलती है। आभूषणों में भी जो ग्राहमुखी या सूँसमुखी सिरे बनाए जाते हैं उन्हें 'सूसक' कहा जाता था। मध्यकालीन शब्दावली का यह पारिभाषिक शब्द था। चुंजक की व्युत्पत्ति चुंज (=चोंच) से ज्ञात होती है। श्री सज्जनसिंह जी ने मुझे कुछ तलवारों के नाम भी बताए थे, जैसे शिवदासी, पुर्तकाली, हजारा (उसके फल में पाँच नाल पड़ते हैं), अलेमानी, गुजराती (तीन नाल वाली), नादौत (राजपीपला रियासत का पुराना नाम नांदोद था, वहाँ की दो नाल वाली तलवार नादौत कहलाती थी; आईन-अकबरी में भी नादौत तलवार का उल्लेख हुआ है)। इस विषय की शब्दावली अपार है और विषय भी रोचक है। परज (फिंगर-गार्ड) के साथ की मूठ जिसमें चौड़े पक्खे भी लगे हों, 'खपरियादार' कहलाती है। म्यान के हिस्सों के भी अलग-अलग नाम होते हैं। ऊपर की सजावट 'मुँहनाल' और नीचे की 'तहनाल' कहलाती है। एक छुरी की म्यान की तहनाल कुछ आगे निकली हुई थी, उसका नाम एडदार तहनाल बतलाया गया। तलवार की तहनाल में 'पूँछरी', 'चौथ', 'कौंथ' आदि कई प्रकार की बड़ी-छोटी सजावट नीचे की ओर बनती थी।

ढाल भी कई तरह की होती थी। मुरादाबादी ढालें धातु की बनी होती थीं। गैंडे की खाल की ढालें तो सुनी और देखी थीं, पर यहाँ रेशम कूटकर बकरे के खून के साथ जमाई हुई ढालें दिखाई गईं, जो 'सिलट' कहलाती हैं। ढाल के पीछे हाथ डालने का फंदा 'हथमासी' (हस्तपाशिका) कहलाता है।

दतिया के सिकलीगर छुट्टू की सहायता से हमें इस सिलहखाने को ठीक से देखने की आँख प्राप्त हुई। हम छुट्टू गुरु के ऋणी हैं। अत्यंत सौम्य और विनीत, वह भारतीय परंपरा का भंडार था। उसने बताया कि तलवार और गदका-फरी के हाथ और दाँव न्यारे-न्यारे होते हैं। गदका-फरी से अभ्यास कराया जाता था। एक सुंदर गदके के दस्ते में भीतर दाने पड़े हुए थे, जिसके कारण प्रयोग के समय वह बजता था। गदके के साथ की ढाल फरी कहलाती है। वह सूत से बुनी हुई बहुत हल्की होती है। गदके के तीन पैंतरे और तलवार के पाँच पैंतरे होते हैं। पैंतरों के लिये पुराना शब्द 'स्थान' है। संस्कृत में कहा है 'स्थानानि धन्विनां पंच'। ये ही पांच तलवार के भी पैंतरे हैं। अलवर में मुझे ज्ञात हुआ था कि कटारों और तलवारों का लोहा कई प्रकार का बनाया जाता था। जैसे १—सकेला (बहुत कड़ा लोहा जिसे ताव देकर पका करते थे); २—खेड़ी (सकेले से

उतरकर मुलायम); ३—गजवेल (फौलाद से ज्यादा मुलायम); ४—फौलाद; ५—नानपारचा (खेड़ी से मिलता हुआ लोहा)। भारतीय फौलाद की कीर्ति सिकंदर के समय में भी यूनान तक पहुँच गई थी और पंजाब के वीर गणराज्यों ने संधि के समय अपने यहाँ की असल फौलाद उसे भेंट में दी थी। बढ़िया फौलाद में बढ़िया रंग, अबर और जौहर निकलता है। सतियों का जौहर 'जतुगृह' (जउहर-जौहर) शब्द से बना है, तलवार का जौहर 'जवाहिर' का रूप है। तलवार का फल जब तैयार हो जाता है, तब उसपर मसाला फेरने या रगड़ने से सिकलीगर चमक पैदा करते हैं। उस समय उसमें गोल-गोल चक्कर और निशान प्रकट होते हैं। सारे फल पर कबूतर की सी आँखें बिखर जाती हैं। ये निशान 'जौहर' कहलाते हैं। मानसोल्लास में इन्हें 'पोगर' कहा है। विलायती 'ऊने' सकरे टेढ़े और बढ़िया लोहे के आते थे और उनके फलों पर अबर जैसा निकलता था। 'ऊना' का अर्थ है कम लंबाई की तलवार। तलवार की लंबाई सदा से तीस अंगुल से अधिक रक्खी जाती थी और बत्तीस अंगुल के भीतर होती थी। इसी कारण तलवार का एक पुराना नाम 'निस्त्रिंश' पड़ गया था। इसी प्रकार की एक परंपरा किले की चार-दीवारी या डंडे की ऊँचाई के विषय में भी मिली। अलवर के राजगढ़ के किले के किलेदार से यह जानकर मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई थी कि किले का डंडा हर जगह १८ हाथ ऊँचा रक्खा जाता है। जातकों में अट्ठारह हाथ ऊँचे प्राकार (अट्ठारस हत्थ पाकार) का बहुत वर्णन आता है। वह परंपरा आज तक दुर्ग-निर्माण में चली आई है। यही बात तलवार की लंबाई के विषय में भी है। 'ऊना' और 'दमतमाचा' तलवारें सामान्य लंबाई से छोटी होती हैं।

तलवारों की किस्मों के नाम अनेक हैं। उनकी अच्छी सूची अलवर से मिली थी। यहाँ प्राप्त कुछ नाम इस प्रकार हैं—बंदरी, फिरंग, मवई, कूँची, सिरोही, जुनब्बी, दुनावी, शाहजहाँपुरी तेगा, पचनाली, चौनावा तेगा, पचनावा, अलेमानी, हलब्बी आदि। बंदरी तलवारें विलायतों से आती थीं और बंदरगाहों पर उतरती थीं। बारहबंदरी प्रसिद्ध हो गई थीं, जैसे जहाजी, मोतनी, कूँची, मवई, फिरंगी आदि। खड्ग-लक्षण-शिरोमणि ग्रंथ में बीस बँदरियों का उल्लेख है, जैसे चाँदू बंदर, गोआ बंदर, महमद बंदर, बेल बंदर, नाट बंदर, आरा बंदर, फ्रांस बंदर, जगवार (?) बंदर, पूतनकेशि बंदर, येना बंदर, लैमनी बंदर, मोनाबी बंदर, तिनाबी बंदर, बूरे बंदर, पामू बंदर, घालू बंदर, बत्ताली बंदर, कामत्ते बंदर,

अंग्रेजी बंदर, मुहम्मद बंदर। इन बंदरगाहों की पहचान करनी आवश्यक है, जहाँ से विलायती तलवारें अठारहवीं शती में भारतवर्ष में आने लगी थीं।

तलवार के फल में खाँचा बनाया जाता था जो 'नाव' कहलाता था। उसी से पाँच सींकों वाला तेगा 'पचनावा' कहलाता था। यदि नाव या नल फल की पूरी लंबाई तक न होकर आधी दूर तक हो तो उसे 'तोड़ा' कहते थे। तीन सींकें पड़ी हुई तलवार 'जुनब्बी' कहलाती थी, जिसकी अँबिया भी सींकेदार होती थी। अलवर के सिलहखाने में दो सींकों वाले फल को 'जनूबी' और तीन वाले को 'फरुखबेगी' बताया गया था। सिकलीगरों के बताए नामों की एक दूसरे से तुलना करके उनकी ठीक पहचान करना आवश्यक जान पड़ता है। नामों के अनुसार खड्गों के चित्र भी लेने चाहिएँ। तब इस विषय का स्पष्टीकरण हो सकेगा। रूमी तलवार में फल सपाट होता है, नल-सींकें नहीं होतीं। उसका खमदम दूसरा ही होता है। सींकें होंगी भी तो अधकट या आधी दूर तक ही होंगी। नीमचा या बचकानी तलवार भी होती थी जिसकी लंबाई आधी या उससे कुछ बड़ी होती थी। तेगा टेढ़ी तलवार को कहते हैं। संस्कृत खड्ग (हिंदी खांडा) तेगे का ही भारतीय नाम था। शाहजहाँपुरी तेगे प्रसिद्ध थे। ये बिल्कुल सपाट होते थे, फल में नल-सींकें नहीं डाली जाती थीं। आगे का फल 'ककरा', 'पीपला' या 'अलम' कहलाता है। खांडे में पीपला चौड़ा और दुधारा या एकधारा भी बनता था। एक आहनी (लोहे के) तेगे पर सुम्मी से चित्तियाँ डाली गई थीं। तेगा अजीजखानी, तेगा बर्दवानी (जिसकी पीठ या पूठ चौड़ी होती थी), सिरोही घाट की तलवार, गुजराती तिनावा, तेगे-आहनी दो-सींके आदि अन्य नाम भी मिले। सुलतानशाही, ताजूशाही, सलाला (खमदार), कच्ची (सीधी), मूदैठ (उलटे खम की), सूदैठ (सीधे खम की), आबेरवाँ हुसैनी, मिसरी, ईरानी, हलब्बी (लंबे घाट की), नागफनी (ऊपर चौड़ी, नीचे सँकरी), वलायती, खुरासानी, अलेमानी, अरफहानी, लहरदार, सोसनपत्ता, तेगा दलेलखानी, पब्बाशाही, अखैराजशाही, अरतंबोली इत्यादि अन्य अनेक नाम अलवर से मुझे प्राप्त हुए थे। पुतली, नल, सींक, म्यान की सजावट, दम-खम आदि की दृष्टि से अनेक बादशाह और राव-राजे तलवारों की बनावट में भेद और विशेषताएँ पैदा करते रहते थे जो उनके नाम से प्रसिद्ध हो जाती थीं।

'कमची' कच्चे फल की तलवार को कहते हैं जो भुट्ठी होती है और केवल जुलूस, खेल आदि में काम आती है। 'कमची तानो' मुहावरा उसी से बना है।

इसी प्रकार का नुमायशी डंडा 'सोटा' होता था जिसमें पीतल की कीलें जड़ी रहती थीं। सूदन ने सुजानचरित में सहसमेखी दस्तानों का वर्णन किया है। इन्हें ही फारसी में हजारमेखी भी कहते हैं। कोहनी से कलाई तक पहने जानेवाले लोहे के खोल जिनपर छोटी छोटी चमकीली बिरंजी या पीतल की कीलें जड़ी रहती थीं, सहसमेखी दस्ताने कहलाते थे। महीन फल का डंडा जिसमें दोनों तरफ धार रहती थी, 'सूजा' कहलाता था। सोसन के पत्ते की तरह के चौड़े घाट का 'सोसनकत्ता' कहलाता था।

ऊँटों पर रखकर चलाई जाने वाली लंबी बंदूकें 'ऊँटनाल' कहलाती थीं। उन्हें 'जजायल' भी कहते थे, जिसे आजकल सिकलीगर 'जंजाल' कहते हैं। छोटी बंदूकें रामचंगी कहलाती थीं। घुड़सवार बल्लम का प्रयोग करते थे जिनमें लंबा बाँस लगा रहता था। छोटे बाँस का भाला होता था जिसका उपयोग पैदल सिपाही करते थे। जिसमें लकड़ी बिल्कुल न हो, जो कुल लोहे का हो, वह सांग कहलाता था। नेजा अपेक्षाकृत छोटा होता था, इसे 'घूसा' भी कहते हैं।

इस प्रकार १३ मई को चार घंटे दतिया का सिलहखाना देखते रहे। अगले दिन महाराज के निजी चित्र-संग्रह को देखने का सौभाग्य मिला। उसमें बिहारी-सतसई के दो सौ से ऊपर चित्र हैं। प्रत्येक दोहे पर एक चित्र बनाया गया है, अतएव ७०० चित्र किसी समय रहे होंगे। इसी प्रकार मतिराम के नायिका-भेद के सवैयों के भी अनेक चित्र मिले। एक भागवत ग्रंथ में तीन सौ के लगभग चित्र थे। हिमाचल, राजस्थान और बुंदेलखंड के रजवाड़ों ने अठारहवीं शती में विलक्षण चित्रसाधना की। प्रत्येक रजवाड़े में महल के पोथीखाने के साथ चित्र-संग्रह भी रहता था।

दतिया में ताल या सागर बहुत हैं। कहते हैं महाराज वीरसिंह देव के द्वारा एक ही रात में बावनी डाली गई थी, अर्थात् बावन इमारतों या तालावों की नींवें डाली गई थीं। उनकी सूची, संभव है, स्थानीय छानबीन से एकत्र की जा सके। इस समय के तालों में रामसागर ताल और करनसागर ताल (महाराज कर्णसिंह का) अच्छे हैं। तालाब बुंदेलखंड के अमृतकुंड हैं। चंदेल राजाओं के समय से ही बरसाती पानी को बाँध-बाँधकर तालों में संगृहीत कर लेने की देशव्यापी योजना आरंभ हो गई थी। तीन ओर का ढलान देखकर चौथी ओर बाँध-बाँधकर रातोंरात चुटकी बजाते बुंदेलखंड के वज्रशरीरी अधिवासी ताल या

सागर बना डालते थे। ढलान या 'कैचमेंट एरिया' के लिये यहाँ मुहाना शब्द चलता है। महाराज पारीछत ने चिरगाँव के पास वेत्रवती नदी पर एक बड़ा बाँध बँधवाया था। गुप्त जी की कृपा से एक बार पारीछा बाँध के दर्शन हमने किए थे। महाराज पारीछत की छतरी में रामायण, भागवत और रासलीला के अच्छे चित्र बने हैं जिनकी रक्षा की भविष्य में बड़ी आवश्यकता है। वीरसिंह-देव के महल और इन छतरियों (राजाओं की समाधियों, स्थानीय मकबरों) एवं सुराइयों (रानियों की समाधियों) को प्राचीन स्मारक मानकर स्थानीय शासन को उनकी रक्षा करनी चाहिए। अतीत के इतिहास में काल के कपोल पर जो मोती झड़े या आँसू गिरे, वे ही ये स्मारक हैं। इन्हें किसी व्यक्ति-विशेष की संपत्ति मानना भूल है। सारी जनता का मन इनके दर्शन से आनंदी बनता है। सबके मानस-तार प्राचीन स्मारकों के साथ मिले होते हैं, अतएव वे सार्वजनिक हैं। मनोविज्ञान के इस सत्य का पालन करना हमारा कर्तव्य है। इन स्मारकों में इस समय एक चौकीदार तक नहीं मिला। आशा है भविष्य इनकी ठीक प्रकार सुध ले सकेगा।

इन विशाल महलों और स्मारकों को देखकर एक विचार बार-बार उत्पन्न होता है। इस देश की अपनी वास्तुकला थी। यहीं के सूत्रधारों और स्थपति-सम्राटों ने वीरसिंह देव के जैसे राजमहलों के नक्शे बनाए, उन्होंने ही इनके सूत पहली बार धरती पर फटके, और फिर धैर्य के साथ कंकड़, पत्थर मिट्टी चुनकर इन गगनचुंबी सतखंडे नौखंडे महलों का भव्य रूप खड़ा किया। आज वे बेचारे कहाँ गए और कहाँ गई उनकी वह अद्भुत वास्तुविद्या और उसके मूल में छिपा हुआ सारा गणित? कौन सा पिशाच उस लहलहाते ज्ञान-वैभव को हरकर जनता को बुद्धि से पंगुल और हाथ-पैर से आलसी करके छोड़ गया? इन महलों के मसाले बाहर से नहीं आए। पास-पड़ोस के पत्थरों को गढ़-छीलकर इनके सर्पाकृति लहरियों से सुशोभित टोड़े बनाए गए, विविध सजों की उकेरी से अलंकृत शिलापट्ट गढ़े गए, और कीमती संगों को चीरकर, कोरकर, पच्चीकारी करके सजावट बनाई गई। यहीं के कंकड़ों से वज्र सा चूना फूँका गया जो आज भी अपनी जगह से नहीं हिलता। तीन सौ वर्षों तक काल के साथ मित्रता बनाए हुए वह जीवित रहा है और आगे भी रहेगा, पर उसका संदेश हमारे कानों तक नहीं पहुँच पाता। आज माल-मसाले के कल्पित अभाव में हमारा भवन-उद्योग ठप्प हुआ पड़ा है। यहीं दतिया में चुंगी का नया भवन देखकर मन खिन्न हुआ। देशी वास्तुकला को धता

बताकर लोहे के ट्रंकनुमा अमरीकी वास्तु को अपने सुंदर भवनों के बीच में हम कैसे सह लेते हैं, विदेशी पर्यवेक्षकों तक को यह अचरज होता है।

निर्देश

हिंदी

आधुनिक हिंदी एकांकियों में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति—रामचरण महेंद्र; "कल्पना", अगस्त १६५१ [आलोचना]।

कुंतक की वक्रोक्ति और क्रोचे की अभिव्यंजना—विश्वनाथप्रसाद मिश्र; "प्राची", श्रावण २००८ [भारतीय वक्रोक्तिवाद और क्रोचे की 'अभिव्यंजना' की तुलनात्मक समीक्षा तथा यह विचार कि क्रोचे का मत काव्य-मीमांसा की भारतीय परंपरा में नहीं खप सकता।]

कौवेड प्रथा—महादेव साहा; "जनवाणी", अगस्त १६५१ [स्त्री की प्रसूतावस्था में पुरुष के प्रसूता की भाँति बीमार पड़ने का अभिनय करने की प्रथा पर भिन्न-भिन्न विद्वानों की व्याख्याएँ।]

चाक्षुष प्रत्यक्ष—आनंद झा; "शांतिदूत", भाग १ अंक ४ [किसी द्रष्टव्य-पदार्थ को हम चक्षु द्वारा किस प्रकार ग्रहण करते हैं, इस विषय पर वैदिक मनीषियों और पाश्चात्य वैज्ञानिकों के परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले मतों में सामंजस्य दिखलाया गया है।]

तिब्बत में भारतीय संस्कृति—लोकेशचंद्र; कल्पना, अगस्त १६५१ [इस लेख में प्राचीन काल से तिब्बत और भारत के संबंध, भोट लिपि के मूल स्रोत, संस्कृत से भोट भाषा में अनुवाद की प्रणाली, तिब्बत के बौद्ध वाङ्मय, लामाधर्म तथा वहाँ के बौद्धकालीन पुरावशेषों पर प्रकाश डाला गया है।]

प्रकरण-विच्छेद-सूचक शब्दों का तात्पर्य—'गवेषक'; शांतिदूत, १।४ [ग्रंथों में अष्टक, मंडल, सर्ग, उच्छ्वास, अंक आदि विभागों की सार्थकता पर विचार।]

भारत और भाषाशास्त्र—भोलाशंकर व्यास; "साहित्य-संदेश", सितंबर १६५१ [भारत में भाषाशास्त्र के अध्ययन की स्थिति का संक्षिप्त सिंहावलोकन।]

भाषाओं में भूत का संचार काका कालेलकर; "मंगल-प्रभात", सितंबर १६५१ [अपनी अपनी भाषाओं का ही अभिमान करने और देश की सब

भाषाओं में समभाव न रखने से देश में भाषा के प्रश्न को लेकर जो कटुता बढ़ी हुई है और भाषा की समस्या अभी तक न सुलझ पाने से जो विकट स्थिति बनी हुई है, उसी पर विचार।

वाग्गेयकार श्री मुत्तुस्वामी दीक्षितार—वारणासि राममूर्ति रेणु; कल्पना, अगस्त १६५१ [उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में हुए देशी संगीत के प्रसिद्ध आचार्य का परिचय।]

शरच्चंद्र संबंधी मेरे संस्मरण—इलाचंद्र जोशी; "नईधारा", सितंबर १६५१ प्रसिद्ध बँगला उपन्यासकार शरद् बाबू के मनोरंजक संस्मरण।]

श्री अरविंद के प्रति श्रद्धांजलि—हजारीप्रसाद द्विवेदी; कल्पना, अगस्त १६५१ [योगी अरविंद के विचारों को उदार और श्रद्धापूर्ण दृष्टि से मनन करके जिस रूप में लेखक ने समझा है, उसे ही लेखबद्ध किया है। लेखक की दृष्टि से अरविंद का योग पातंजल योग से इस बात में आगे बढ़ा हुआ है कि प्राचीन योग में जहाँ पुरुष मुक्ति के लिये अविद्या से छूटने का प्रयत्न करता है, वहाँ अरविंद मानते हैं कि परम-तत्त्व नित्य निरंतर जगत् की ओर आ रहा है और जगत् भी नित्य स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर हो रहा है। परम-तत्त्व की शक्ति स्वयं जीवों के उद्धार का प्रयत्न कर रही है। इस तथ्य की अरविंद ने समझने योग्य वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है।]

षष्ठी का प्रत्यय—काका कालेलकर; मंगल-प्रभात, सितंबर १६५१ [षष्ठी के चिह्न का—की—के के स्थान पर सर्वत्र लिंग-भेद-रहित 'क' या 'कः' कर देने का सुझाव।]

संगीतकला और जन-संगीत—ललितकिशोर सिंह; जनवाणी, अगस्त १६५१ [शुद्ध और उच्च कोटि की संगीतकला का आधार केवल स्वर-विन्यास है, अर्थ से उसका संबंध नहीं। संगीतकला का आस्वादन उसके शास्त्रीय ज्ञान के बिना सर्व-साधारण के लिये संभव नहीं; पर इस कारण जनरुचि की तृप्ति के लिये उसका स्तर नीचा करना उचित नहीं, जनरुचि को ही ऊपर उठाना चाहिए।]

स्मृति शब्द का दार्शनिक और वैज्ञानिक विश्लेषण—रामशंकर भट्टाचार्य; शांतिदूत, ११४ [दर्शन पुराणादि में 'स्मृति' की व्याख्या और उसके महत्त्व का उल्लेख।]

हिंदी की तात्कालिक आवश्यकताएँ (३)—संपादकीय; कल्पना, अगस्त १६५१ [प्रामाणिक अँग्रेजी-हिंदी कोष प्रस्तुत करने की समस्या और उसकी कठिनाइयों पर विचार।]

अंग्रेजी

अनालिसिस ऑव भक्ति—एन० सुब्रह्मनिया शास्त्री; जर्नल ऑव द श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टिट्यूट, भाग ६ अंक २ [भक्ति के भिन्न-भिन्न आचार्यों के तत्संबंधी मतों की परस्पर तुलना करते हुए भक्ति की व्याख्या ।]

एंशंट ऐस्ट्रॉनमी ऑव द हिंदूज—सेफारिएल; ब्रह्मविद्या (ब्लावाट्स्की अंक) भाग १५ अंक २ ['हमें पहले सिखाया जाता था कि हिंदू असभ्य, धर्महीन और सर्व दुर्गुणों से पूर्ण होता है। परंतु वही हिंदू आधुनिक वैज्ञानिकों का मद चूर करता हुआ आज भी दावा करता है कि अनेक अन्य विषयों के अतिरिक्त उसका ज्योतिष का ज्ञान कम से कम ५००० वर्षों से अपने पूर्वजों के उत्तराधिकार के रूप में उसकी संपत्ति है'—इस भूमिका से आरंभ करके लेखक ने हिंदू के इस दावे को सत्य सिद्ध किया है और बतलाया है कि पुराणादि में दिए हुए युगों और कल्पों के अगणित वर्ष प्राचीन हिंदू ऋषियों ने कौतुक के लिये कल्पित नहीं किए थे, वे शुद्ध गणना पर आवृत हैं।]

ऐंटिक्विटी ऑव बिहारशरीफ—अद्रीश बनर्जी; इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, भाग २७ अंक २ [शैशुनाग-नंद-मौर्य-शुंग-काण्व-कुषाण-गुप्त-मौखरी वंशों के शासनकाल में बिहारशरीफ के इतिहास का पता लगाते हुए बताया गया है कि चीनी यात्रियों के समय में पाटलिपुत्र उजड़ चुका था और बिहारशरीफ (श्रीनगर या उद्दंडपुर) स्कंधावार के रूप में स्थापित हुआ था। बख्तियार खिलजी के समय तक यह उन्नत नगर था।]

कल्चुरल यूनिफिकेशन ऑव ईरान ऐंड इंडिया—सी० कुन्हन राजा; ब्रह्मविद्या, भाग १५ अंक २ [भारतीय संस्कृति के प्रेमी और उत्साही प्रचारक, संस्कृत साहित्य के पंडित श्री कुन्हनराजा आजकल तेहरान विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक हैं। अध्यापन के साथ वे भारतीय संस्कृति तथा ईरान-भारत के प्राचीन संबंध की ओर ईरानियों का अनुराग सफलतापूर्वक बढ़ा रहे हैं, उसका विवरण।]

गणेश, क्लू टु ए कल्ट ऐंड ए कल्चर—टी० जी० अरवमुथन; जर्नल ऑव ओरिएंटल रिसर्च, भाग १८ अंक ४ [यह स्थापना कि विघ्नहर्ता, सिद्धिदायक, सिंधुरवदन, मूषकवाहन, शिवपुत्र गणेश की उत्पत्ति प्रकृति के उन भिन्न-भिन्न रूपों की धारणा से हुई जो ऋग्वेद में मरुत् (वृष्टि और विघ्नों के देवता), रुद्र (मरुतों के पिता), बृहस्पति (बुद्धि और गणों के अधिपति) तथा इंद्र (सर्पहंता और मरुतों के स्वामी) के रूप में प्रतिष्ठित हुए थे ।

द न्यू ट्रेंड्स ऑव मॉडर्न सायंस—लुइगी फंतप्पी; ईस्ट ऐंड वेस्ट, भाग २ अंक १ [इटली के इस प्रसिद्ध गणितज्ञ विद्वान् ने इस लेख में बतलाया है कि ई० १६०० तक विज्ञान अनुमान और सिद्धांतों का आश्रित था। कारण से कार्य की उत्पत्ति की पुनरावृत्ति द्वारा उसका प्रत्यक्ष दर्शन वा ऐंद्रिय बोध उसकी विशेषता थी, जो अब भी है। परंतु अब विज्ञान इस उन्नत अवस्था में पहुँच चुका है कि प्रत्येक वैज्ञानिक वाद वा तथ्य इंद्रियों को प्रत्यक्ष होकर उन्हीं के द्वारा पुष्ट हों, ऐसा विचार मूर्खतापूर्ण है। हमारे सामने प्रायः ऐसे तथ्य उपस्थित होते हैं जो परस्पर विरोधी परिस्थितियों में भी इंद्रियों को सत्य दिखाई पड़ते हैं। ऐसे विरोध का परिहार बुद्धि और तर्क के द्वारा ही संभव होता है, ऐंद्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नहीं।]

द स्प्रेड ऑव शक एरा इन साउथ इंडिया—डी० सी० सरकार; इं० हि० क्वा०, भाग २७ अंक २ [इं० हि० क्वा०, भाग २६ पृ० २१६–२२ में छपे उक्त शीर्षक लेख में श्री वि० वि० मिराशी ने बताया है कि शक संवत् ४६ और ४६५ के बीच दक्षिण में शक संवत् का प्रयोग नहीं मिलता। इस अवधि में हैदराबाद के दक्षिण में स्थित महिष देश के शक क्षत्रप उसका प्रयोग करते रहे और उनके बाद उसे चालुक्यों ने ग्रहण किया। प्रस्तुत लेख में लेखक ने बताया है कि महिष देश मैसूर में था और चालुक्यों के पहले वह शकों के नहीं, कदंब राज्य के अधीन था। उपर्युक्त अवधि के बीच जैन ग्रंथ "लोकविभाग" में शक संवत् ३८० का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि उक्त अवधि में जैन लोग ही गुजरात-काठियावाड़ से, जो पश्चिम-भारत के शक राज्य में था, ज्यों-ज्यों दक्षिण में फैलते गए, इस संवत् का प्रयोग करते रहे।]

दि अर्थशास्त्र मैटीरियल इन द रघुवंश—दशरथ शर्मा; इं० हि० क्वा०, भाग २७ अंक २ [रघुवंश और अर्थशास्त्र के अनेक तुलनीय उद्धरण देकर यह मत व्यक्त किया है कि रघुवंशवर्णित कालिदास के राजनीतिक विचार अधिकतर कौटल्य के अर्थशास्त्र से लिए गए हैं।]

देसी वर्ड्स इन त्रिविक्रम्स प्राकृत ग्रामर—पी० वी० रामानुज स्वामी; ज० वें० ओ० इं०, भाग ६ अंक २ [त्रिविक्रम ने अपने प्राकृत व्याकरण के अंत में जो देशी शब्द दिए हैं, हेमचंद्र की देशीनाममाला से उनकी तुलना करते हुए पाठ-भेद सहित उनका संपादन किया गया है।]

बुद्धिज्म इन कामरूप—महेश्वर नियोग; इं० हि० क्वा०, भाग २७ अंक २ [कामरूप में बौद्धमत का प्रचार।]

लंका—एस० बी० चौधरी; इं० हि० का० २७।२ [किबे, हीरालाल, याकोबी, रामदास, जे० सी० घोष (और राय कृष्णदास, ना० प्र० पत्रिका ५२।४ तथा ५४।१,२-३—संपादक) लंका को अमरकंटक पर मानने के पक्ष में हैं। कुछ अन्य विद्वान् अन्य स्थलों पर मानते हैं। प्रस्तुत लेख में रामायण के उद्धरणों से यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि लंका परंपरा से प्रसिद्ध सिंहल या सीलोन ही है। अन्य प्रमाणों में यह भी बताया गया है कि किष्किंधाकांड ४६।१७ तथा ४८।२ में उल्लिखित 'विंध्य' मलयगिरि का ही कन्याकुमारी तक फैला हुआ दक्षिणी भाग है।]

श्रीमद्भागवत, द प्लेस ऑव इट्स ओरिजिन—जे० एन० बनर्जी; इं० हि० का०, भाग २७ अंक २ [अंतःसाक्ष्य द्वारा फर्कुहर के इस कथन की पुष्टि कि भागवत तमिल देश (दक्षिण) में लिखा गया।]

सॉब्रिकेट्स इन संस्कृत—वी० राघवन; ज० ओ० रि०, भाग १८ अंक ४ [संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों के कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध विशेषणों वा अपर नामों—यथा घंटामाघ, दीपशिखा कालिदास, भवभूति आदि—की व्याख्या। कुल ५५ नाम दिए गए हैं।]

सोर्स ऑव मूल सर्वास्तिवादिन् स्टोरी ऑव दि ओरिजिन ऑव द गैंजीज़—डैनिएल एच० एच० इंगल्स; हार्वर्ड जर्नल ऑव एशियाटिक स्टडीज़, भाग १४ अंक १-२ [डा० नलिनाक्षदत्त संपादित 'गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स' की जिल्द ३ में मूल सर्वास्तिवादियों के 'विनय' के 'भैषज्य वस्तु' का प्रायः आधे का संस्कृत पाठ है, जिसमें पृष्ठ ६३-६५ पर गंगा की उत्पत्ति की कथा दी है। इस लेख में उसकी समीक्षा है। यह कथा महाभारत में दी हुई चर्मण्वती की उत्पत्ति-कथा से मिलती है।]

समीक्षा

सुमित्रानंदन-पंत, काव्य-कला और जीवन-दर्शन—संपादिका श्री शचीरानी गुर्टू एम० ए०; प्रकाशक रामलाल पुरी, आत्माराम ऐंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या डिमाई अठपेजी ३७२ + १२, सजिल्द और कवि के एक चित्र सहित; मूल्य ६ रुपए मात्र।

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक हिंदी काव्य के श्रेष्ठ कलाकार, छायावाद और प्रगतिवाद के अग्रदूत श्री सुमित्रानंदन पंत के जीवन, जीवन-दर्शन और काव्य-कला संबंधी तेईस भिन्न-भिन्न लेखकों के निबंधों का सुंदर संग्रह सुयोग्य संपादिका ने किया है। निबंधों के शीर्षक कुछ इस प्रकार हैं—पंत का व्यक्तित्व; सुमित्रानंदन पंत एक संस्मरण; हिंदी के युग-प्रवर्तक कवि पंत की बहिर्मुखी साधना; पंत और प्रकृति; पंत-काव्य में नारी; पंत का भाव-जगत्; पंत का मानववाद; छायावाद, रहस्यवाद और पंत आदि। विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गए इन निबंधों में पंत जी के संबंध में प्रायः सभी जानने योग्य बातें आ गई हैं।

प्रस्तुत संग्रह में तीन प्रकार के निबंध हैं। पहले तीन निबंध कवि के व्यक्तित्व से संबंध रखते हैं। इनमें पहला निबंध स्वयं पंत जी द्वारा लिखित 'मैं और मेरी कला' कवि की अंतर्वृत्तियों को समझने में अत्यंत उपयोगी प्रमाणित होगा। दूसरे तथा तीसरे निबंध पंत जी के व्यक्तित्व और उनके प्रभाव की व्यापकता समझने में सहायक होंगे।

दूसरे प्रकार के निबंधों में कवि की संपूर्ण कृतियों का विवेचन विशेष दृष्टिकोणों से किया गया है। किसी ने पंत में प्रकृति-चित्रण, किसी ने पंत की कविता में मानववाद, किसी ने उनके भाव-जगत् और किसी ने उनके जीवन-दर्शन और काव्यकला का विवेचन किया है।

तीसरे प्रकार के निबंधों में कवि की विशिष्ट रचनाओं में से कुछ संग्रहों का परिचय और अध्ययन है। गुंजन, ग्राम्या, युगांत, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि तथा उत्तरा का अध्ययन इस प्रकार के निबंधों में मिलता है। अंत में 'पंत और शैली'

एक तुलनात्मक समीक्षा है और उसके उपरांत इन तेईस निबंधों के लेखकों का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया गया है। इस प्रकार यह निबंध-संग्रह पंत जी के सम्यक् अध्ययन के लिये अत्यंत उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है।

परंतु इस संग्रह को सर्वांगीण बनाने के लिये एक पक्ष का अभाव बहुत खटकता है। पंत जी के भाषा-प्रयोग और छंद-प्रयोग के संबंध में इस संग्रह में एक भी स्वतंत्र निबंध नहीं है। पंत जी का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य काव्य-भाषा खड़ी बोली की शक्ति और सामर्थ्य में अभिवृद्धि करना था। द्विवेदी-युग की खड़ी बोली पर ब्रजभाषा के समर्थक प्रायः आक्षेप किया करते थे कि इस खड़ी भाषा में कविता के लिये उपयुक्त माधुर्य और सामर्थ्य का अभाव है। परंतु पंत जी ने अपनी प्रारंभिक रचनाओं की भाषा में यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा से भी अधिक ओज, माधुर्य और शक्ति-सामर्थ्य प्रदर्शित किया जा सकता है। इस दृष्टि से उनकी 'परिवर्तन' शीर्षक रचना अपूर्व है। भाव और कला ही नहीं, भाषा के सामर्थ्य की दृष्टि से भी यह रचना युग-प्रवर्तक रही है। इसी प्रकार 'पल्लव' संग्रह में उनका छंद-प्रयोग भी अपने ढंग का निराला है। गीतियों में विशेषतः 'सांध्य तारा' और 'नौका-विहार' में उनकी अंत्यानुप्रास-योजना भी अपूर्व है। परंतु इस संग्रह में पंत जी की काव्य-कला के इस पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। विशिष्ट संग्रहों के परिचय और अध्ययन में 'पल्लव' तथा ज्योत्स्ना' स्वतंत्र निबंध भी अत्यावश्यक हैं जो इस संग्रह में नहीं हैं।

पुस्तक की छपाई चित्ताकर्षक और सुरुचिपूर्ण है। कागज भी अच्छा है। सब मिलाकर यह संग्रह पंत के अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी है।

अंगराज—महाभारत के प्रसिद्ध महारथी दानवीर कर्ण का जीवन-काव्य। रचयिता—श्री आनंदकुमार। प्रकाशन—राजपाल एँड सन्स, नई सड़क, दिल्ली। पृष्ठ-संख्या—डिमाई अठपेजी ४४ + ३०० । सजिल्द। मूल्य सात रुपया मात्र।

श्री आनंदकुमार का यह पचीस सर्गों का महाकाव्य खड़ी बोली का एक नया महाकाव्य है। महाभारत से ली गई इस कथा को कवि ने बड़े सुंदर ढंग से उपस्थित किया है। प्रथम सर्ग में भगवान भास्कर की प्रभावती नगरी प्रभावती का वर्णन है जहाँ भगवान सूर्य अपने प्रिय पुत्र कर्ण से उसके मर्त्य जीवन के अतीत इतिहास को एक खुले पृष्ठ के समान उसके समक्ष उपस्थित करते हैं। कर्ण स्वयं अपने अतीत जीवन का चित्र देखता है। यह इतिहास कर्ण के जन्म से प्रारंभ

होकर उसकी मृत्यु के पश्चात् पांडव-ज्येष्ठ युधिष्ठिर द्वारा दिए गए तर्पण तक का चित्र अंकित करता है, जिसमें भारत-युद्ध का बड़ा रोचक और विशद वर्णन मिलता है।

महाभारत में अंगराज कर्ण के संबंध में अनेक विरोधी बातें देखने को मिलती हैं। एक ओर तो वह अद्वितीय पराक्रमी, महापुरुषार्थी, दानवीर, प्रणवीर और महायशस्वी परशुराम के तुल्य ही अजेय धनुर्धर के रूप में चित्रित हुआ है और दूसरी ओर वह दुष्ट दुर्योधन का कुचक्री मित्र, पांडव-विद्वेषी, क्रूर, कुटिल और कायर के रूप में वर्णित है। वास्तव में महाभारत में जहाँ भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर, अर्जुन, कर्ण आदि महान् चरित्रों का चित्रण है वहाँ कर्ण का चरित्र इनसे किसी प्रकार हीन नहीं है, परंतु दुर्योधन का सहायक होने के कारण उस दुर्दैवग्रस्त महापुरुष के चरित्र पर अनेक लांछन लगाए गए हैं। इस महाकाव्य में कर्ण के चरित्र पर लगाए गए समस्त लांछनों का निवारण कर उसका निर्दोष चरित्र अपने शुभ्र और ज्योतिर्मय गौरव के साथ चित्रित है। इस दृष्टि से कवि ने वास्तव में एक प्रशंसनीय कार्य किया है।

परंतु इस प्रशंसनीय कार्य के साथ ही कवि ने युधिष्ठिर का चरित्र इतने काले रंगों से रँगा है कि पढ़कर आश्चर्य और क्षोभ उत्पन्न होता है। कर्ण का चरित्र उठाने का अर्थ पांडवों का चरित्र गिराना नहीं है। कर्ण महान् था, इसमें कोई संदेह नहीं, परंतु युधिष्ठिर भी महान् थे। महाभारत में संभवतः कृष्ण को छोड़ कर उनके समान महान् व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है। इसीलिये महाभारत के नायक भीष्म या अर्जुन नहीं, धर्मराज युधिष्ठिर ही माने जाते हैं। परंतु 'अंगराज' के रचयिता कवि को, जान पड़ता है, पांडवों से विद्वेष है और पांडव-ज्येष्ठ युधिष्ठिर के प्रति तो उसके विद्वेष की कोई सीमा ही नहीं। उसने युधिष्ठिर को स्त्रैण, कामी, धूर्त, कायर, जुआड़ी और पाखंडी सभी कुछ चित्रित किया है। द्रौपदी-स्वयंवर के पश्चात् द्रौपदी से विवाह के लिये जो कलह-प्रसंग कवि ने छठे सर्ग में चित्रित किया है वह पांडवों के लिये ही नहीं, कर्ण के प्रतिपक्षी के लिये भी अशोभन है। स्वयं कवि के शब्दों में सुनिए—

देख युधिष्ठिर उस तरुणी का तन-लावण्य ललाम।
ममतामयी पृथा माता से बोला वहाँ सकाम।

सुन जननी, अब हुई द्रौपदी कुलनिधि सर्वप्रकार।
अतः बने वह योग्य रीति से वंश-एकताधार ॥
वंश-संपदा पर हम सबका है समान अधिकार।
कहीं हमारे मध्य नहीं है भेद-भाव-व्यवहार।
ध्येय नहीं इस सर्व-सम्मिलित कुल में स्वत्व-परत्व।
अतः प्राप्य है बंधु-बंधु को द्रुपदात्मजा-वरत्व।
इसके पंचजनी होने का हम करते प्रस्ताव।
इस विध होगा पंचजनों का सुदृढ़ एकता भाव ॥

इत्यादि। [पृ० ६७-६८]

इस घृणित प्रस्ताव को सुनकर जब पार्थ अपने अग्रज के कामोन्माद का तिरस्कार करता है उसके पश्चात् कवि की उक्ति सुनिए—

किंतु द्रौपदी को प्रियकर थी धर्मराज की नीति।
थी अभीष्ट उसको पंचामृत तुल्य पंचतय प्रीति।
देख वधूजन-अंशदान में भ्राता को अनुदार।
धर्मराज ने कहा—जघन्यज तुझको है धिक्कार।
उचित यही क्या है कि करे तू रमणी-संग विलास।
और करें पणावी-पूजन हम लेकर चिर संन्यास ॥ [पृ० ६८]

इसी सर्ग में आगे चलकर कवि युधिष्ठिर के संबंध में कहता है—

राज्य-प्राप्ति से धर्मराज का हुआ प्रभुत्व-विकास।
जिस जीवन-वन में पतझड़ था वहाँ हुआ मधुमास।
द्यूतालय हो गया अक्षप्रिय उस राजा का वास।
धर्मराजता भूल बना वह मुग्ध द्रौपदी-दास।

× × × ×

पांडवाग्र श्यामा-प्रति होकर अधिकाधिक आसक्त।
अर्जुन प्रति हो गया शीघ्र ही अतिशय ईर्ष्याग्रस्त ॥
समुन्नद्ध नृप ने कर कल्पित दोषारोप प्रचंड।
दिया अनुज को एक वर्ष का राज-प्रवासन-दंड ॥ (पृ० ७०)

युधिष्ठिर को इतने नीचे गिराकर भी कवि को संतोष नहीं होता। वह उनकी कायरता का बड़ा विशद चित्र खींचता है। कर्ण की मृत्यु के पश्चात् जब

मद्रराज शल्य कुरुदल का सेनापति हो भीषण युद्ध प्रारंभ करता है, तब भगवान कृष्ण के आग्रह पर पांडवाग्रज किस प्रकार युद्ध करते हैं, देखिए—

वीरजनों से रक्षित पांडव बढ़ा जयार्जन हेतु।
बढ़ा यान जब, कँपा ज्ञान तब ज्यों पवनाहत केतु।
शल्य-संग द्वैरथ संगर वह करने लगा विभीत।
शत्रु रूप में उसे काल ही सम्मुख हुआ प्रतीत।
रण-कातर बन कभी देखता था वह श्रीपति-ओर।
कभी पलायन-पंथ देखता था ज्यों शंकित चोर।
कभी दूर से चिकित्सकों को करता था संकेत—
रहो निकट, होकर अचेत हम गिरें न मुकुट-समेत॥ (पृ० २८०)

यदि कवि का वश चलता तो वह युधिष्ठिर की और भी अधिक दुर्दशा दिखाता; परंतु महाभारत में शल्य का निधन धर्मराज द्वारा ही वर्णित है, इसी कारण धर्मराज की अधिक दुर्दशा न दिखाकर कवि उससे छल द्वारा शल्य का बध कराता है।

इस प्रकार पांडवों के प्रति और विशेष रूप से द्रौपदी और युधिष्ठिर के प्रति पूर्ण अविचार से काम लिया है। संभवतः कवि को यह ज्ञात नहीं है कि किसी वीर की महत्ता उसके प्रतिद्वंद्वियों के हीन चित्रण से प्रमाणित नहीं की जा सकती। परंतु इससे भी अधिक अपराध कवि ने भगवान वेदव्यास की स्वाधीन चेतना पर आक्रमण करके किया है। प्रस्तुत महाकाव्य के अंतिम सर्ग (पचीसवें सर्ग) में भगवान भास्कर कर्ण से कहते हैं—

वहाँ दूर देखो—सभी पांडवों का, जयोत्थान जाता लिखा व्यास द्वारा।
महावप्तृ भी भीत होके जयी से, उसी की प्रशंसा लिखे जा रहे हैं।
यही लोक की भ्रांतिकारी प्रथा है, प्रजा जिष्णु को विष्णु-सा मानती है।
सुधी व्यास की दृष्टि में भी विजेता महाधूर्त ही है प्रतिष्ठाधिकारी॥ (पृ० २६४)

कवि पांडवों को धूर्त, पाखंडी, कामी और नीच समझता है; परंतु महाभारत में पांडव धर्मात्मा लिखे गए हैं, अतः इस अपराध में व्यास को भी प्रसाद मिलना ही चाहिए था। परंतु कवि व्यास पर पांडवों की अपेक्षा कुछ अधिक सदय है, इसी लिये वह यह भी लिख देता है कि व्यास ने पांडवों के विरोधी जनों की भी महत्ता प्रदर्शित की है, किंतु संकेत द्वारा, जिसे केवल विज्ञ, विवेकी और समीक्षाधिकारी ही समझ सकते हैं। कहना न होगा कि इस महाकाव्य का रचयिता

एक ऐसा ही विज्ञ, विवेकी और समीक्षाधिकारी व्यक्ति है और अपनी विज्ञता, विवेक और समीक्षाधिकार का पूर्ण प्रदर्शन उसने ४३ पृष्ठों की लंबी भूमिका में कर रखा है।

इन थोड़े से दोषों के अतिरिक्त इस महाकाव्य के वर्णन स्पष्ट और सुंदर हैं। युद्ध का वर्णन प्रभावपूर्ण है। भाषा संस्कृतगर्भित साहित्यिक है, यद्यपि इसमें कितने ही अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनका अर्थ पाद-टिप्पणियों में दिया गया है। छंदों में गति और प्रवाह है। मात्रिक छंद सभी तुकांत हैं और संस्कृत साहित्य तथा "प्रियप्रवास" की परंपरा में वर्णित सभी छंद अतुकांत रखे गए हैं। एक सर्ग में अतुकांत घनाक्षरी भी लिखे गए हैं जो प्रायः सुंदर बन पड़े हैं। सब मिलाकर यह महाकाव्य पढ़ने योग्य सुंदर रचना है। छपाई-सफाई संतोषजनक है।

इंदु—उपन्यास; लेखक श्री व्रजबिहारी शरण, एम० ए०, बी० एल०; प्रकाशक अनिलबिहारी शरण, एम० बी० ई० (मिलिटरी) बक्सर, बिहार। पृष्ठ-संख्या डिमाई अठपेजी २२८; मूल्य दो रुपया मात्र।

इंदु आत्मकथा-शैली में लिखा हुआ एक उपन्यास है। इसके लेखक श्रीव्रजबिहारी शरण ने सन् १६११ से अब तक अनेक कहानियाँ, उपन्यास, नाटक और निबंध लिखे हैं, परंतु शासन-संबंधी राजकीय कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उनकी रचनाएँ अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी थीं। इंदु उनकी प्रथम प्रकाशित रचना है और संभवतः यह उनकी काफी पहले की रचना जान पड़ती है, क्योंकि इसमें समाज की जिस स्थिति का चित्र है वह आज से बहुत दिन पूर्व की स्थिति है, जब शिक्षित समुदाय के एक सीमित वर्ग में थियासोफी का प्रभाव बढ़ रहा था। आज की परिस्थिति में मिस्टर वेस्ट के थियासोफिस्ट परिवार में चंद्रिकासिंह का पूषण के रूप में प्रवेश और मिस होप वेस्ट का इंदु के रूप में वैदिक पूषण की चर्चा करना कुछ विचित्र सा जान पड़ेगा, परंतु भारत में थियासोफिस्ट विचार-धारा ने जिस प्रकार प्रचार पाया और इस विचारधारा के प्रवर्तकों ने प्राचीन भारत की आध्यात्मिकता का जो आडंबर रचा था, उसे देखते हुए इस उपन्यास की अस्वाभाविकता का बहुत कुछ परिहार हो जाता है। लिओं कार्टर की तंत्र, मंत्र और हिप्नाटिक प्रक्रियाओं में निपुणता आज से ४०-५० वर्ष पूर्व थियासोफी विचारधारा की प्रचारित मान्यताओं की ही अभिव्यक्ति है। आज उस विचार-धारा और दृष्टि-

कोण का प्रभाव बहुत कम हो गया है, इस कारण इस युग के पाठकों को यह उपन्यास विशेष आकृष्ट नहीं कर सकेगा, फिर भी इससे इस उपन्यास के मूल्य में कुछ कमी नहीं आती।

शैली और कथानक की दृष्टि से यह रचना काफी मनोरंजक है, यद्यपि इसमें स्थान-स्थान पर स्वाभाविकता का अभाव बहुत खटकता है। उपन्यास चरित्र-प्रधान है और इसमें इंदु, चंद्रिकासिंह तथा गोपाल का चरित्र-चित्रण काफी सफल रहा है। पाश्चात्य समाज की महिला होते हुए भी इंदु का भारतीय नारी जैसा शुद्ध चरित्र, चंद्रिकासिंह की एकनिष्ठा और साहस, गोपाल का मित्र-स्नेह और त्याग, सभी कुछ प्रशंसनीय है। खल नायक के रूप में लिओं कार्टर की तंत्र-मंत्र और हिप्नाटिज्म में दक्षता उसकी भौतिक, शारीरिक दुर्बलता को ढँक लेती है और वह इसी के बल पर इंदु और पूषण दोनों के प्रेम की कठिन परीक्षा लेता है जिसके कारण वे खरे सोने की भाँति जगमगा उठते हैं।

इस उपन्यास का सबसे बड़ा दोष इसकी अव्यवस्थित भाषा है। प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर इसमें व्याकरण संबंधी अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। 'ने' के प्रयोग की भूलों में केवल 'ने' की उपेक्षा ही नहीं है, कहीं-कहीं जहाँ 'ने' की आवश्यकता नहीं है वहाँ भी उसका प्रयोग कर दिया गया है। जैसे—

विजय ने सिर हिलाते कहा, "हाँ, हाँ। उन्होंने इतनी मिठाई और इतने खिलौने लाये हैं।" (पृ० २, पंक्ति ४)

शुद्ध वाक्य इस प्रकार होगा—

विजय ने सिर हिलाते हुए कहा, "हाँ हाँ! वे इतनी मिठाइयाँ और इतने खिलौने लाए हैं।"

साथ ही प्रूफ संबंधी अशुद्धियाँ भी कम नहीं हैं। सब मिलाकर पुस्तक की अशुद्ध और अव्यवस्थित भाषा ने उपन्यास के रहे-सहे प्रभाव और मनोरंजकता को भी नष्ट कर दिया है। पुस्तक की छपाई अच्छी नहीं है और कागज भी अच्छा नहीं है। दूसरे संस्करण में बहुत सुधार की अपेक्षा है।

—श्रीकृष्ण लाल

समीक्षार्थ प्राप्त

आदर्श बेटी—लेखक श्री व्रजेंद्रकुमार 'मधुकर'; प्रकाशक हिंदी-प्रचार सभा, धारा नगरी, मोताई लोंग, मारीशस। मूल्य

कुहेलिका (कविता)—लेखिका कुमारी विमलकिशोरी मिश्र, एम० ए०; प्रकाशक श्री कृष्णराय हृदयेश, गाजीपुर। मूल्य ।।)

गांधी और साम्यवाद—लेखक श्री किशोरलाल मश्रूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १।)

गाँव के ओर (भोजपुरी कविता-संग्रह)—लेखक श्री रामवचन द्विवेदी 'अरविंद'; प्रकाशक सुलभ साहित्य-सदन, पटना। मूल्य ।।)

दक्षिणा (कविता)—लेखक श्री रामअधार सिंह; प्रकाशक पी० एल० सोनथलिया, ६५ पथरियाघट्टा स्ट्रीट, कलकत्ता। मूल्य ३)

नियामक ज्यामिति, भाग २—ले० डा० ब्रजमोहन, एम० ए०, एल० एल० बी०, पी-एच० डी०; प्रकाशक बिड़ला हिंदी प्रकाशन मंडल, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। मूल्य २।।)

पथ के गीत (कविता)—लेखक श्री रामदरश मिश्र; प्रकाशक श्री श्यामलाकांत वर्मा, कबीरचौरा, बनारस। मूल्य २)

बापू के पत्र मीरा के नाम (१९२४–४८)—लेखक महात्मा गांधी; अनुवादक श्री रामनारायण चौधरी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ४)

भारतीय व्यापार का इतिहास—लेखक श्री कृष्णदत्त वाजपेयी; प्रकाशक राष्ट्रभाषा प्रकाशन, मथुरा। मूल्य ७)

महादेव भाई की डायरी, भाग ३—संपादक श्री नरहरि द्वा० पारीख; अनुवादक श्री रामनारायण चौधरी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ६)

रचनात्मक कार्यक्रम—लेखक श्री मोहनदास करमचंद गांधी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य २।।)

वायु महापुराण—संस्कृत से हिंदी अनुवादक श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री; प्रकाशक हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। मूल्य १२)

विज्ञान के चमत्कार—लेखक श्री सोहनलाल गुप्त, एम० एस-सी०, एम० ए०; प्रकाशक शांति पुस्तक-भंडार, कनखल। मूल्य ।।=)

श्री दुर्गायण—दुर्गा सप्तशती का हिंदी पद्य में रूपांतर, लेखक श्री भद्रदत्त शास्त्री, वैद्य-भूषण; प्रकाशक श्री कैलासनाथ शर्मा, बड़ी होली, कासगंज। बिना मू०।

संस्कार-विधि-विमर्श—लेखक श्री अत्रिदेव विद्यालंकार, भिषग्रत्न; प्रकाशक नरेंद्र शशी, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। मूल्य ३)

साहित्य-समीक्षा—लेखक श्री कन्हैयालाल पोद्दार; प्रकाशक श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, मथुरा। मूल्य २॥)

स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग—लेखक श्री अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार, भिषग्रत्न; प्रकाशक नरेंद्र शशी, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। मूल्य ३)

हमारे त्योहार—ले० डा० ब्रजमोहन, एम० ए०, एल० एल० बी०, पी-एच० डी०; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज आफिस, काशी। मूल्य १॥)

विविध

कुछ हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संशोधित विवरण

लखनऊ के श्री ज्योतिप्रसाद जैन ने उपर्युक्त शीर्षक लेख पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजा है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा "हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग" सं० १९८० में प्रकाशित हुआ था, उसके बाद के विवरणों को भी शीघ्र प्रकाशित करने की आवश्यकता बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि "सभा की विवरण-पुस्तिका में उल्लिखित हिंदी के जैन ग्रंथों अथवा लेखकों पर से हिंदी जैन साहित्य के संबंध में प्राय: कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती, न उसके स्वरूप और महत्त्व का ही कोई अनुमान लगाया जा सकता है। और जो कुछ थोड़े से उल्लेख हैं वे भी अशुद्ध अथवा भ्रामक हैं।" अत: इस उद्‌देश्य से कि "उक्त पुस्तिका के दूसरे संस्करण में उनका संशोधन कर दिया जा सके और उस समय तक उसमें दिए हुए विवरणों के स्थान में संशोधित विवरण का उपयोग किया जा सके; साथ ही भविष्य में उक्त ग्रंथ के अन्य भागों में जो विवरण दिए जायँ उनमें समुचित सावधानी बरती जाय," उन्होंने उक्त विवरणों का संशोधित रूप दिया है जो यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

आत्मानुशासन (हिंदी गद्यानुवाद)—पं० टोडरमल जयपुर-निवासी कृत, नि० का० लगभग १८१५, वि० वैराग्योपदेश; मूल संस्कृत गुणभद्र स्वामी (सं० १९५०) कृत। दे० (क—१३४)।

एकीभाव भाषा—द्यानत कवि कृत, नि० १७८० के लगभग, वि० वादिराज (११वीं शताब्दी) कृत संस्कृत के भक्ति-रस-पूर्ण स्तोत्र का पद्यानुवाद। दे०(क-१०१)।

गुणभद्र स्वामी—सं० ९००-९५५ में वर्तमान, आत्मानुशासन संस्कृत, दे० (क-१३४); ये राष्ट्रकूट-सम्राट् अमोघवर्ष के गुरु और आदिपुराण, जयधवल, पार्श्वाभ्युदय काव्य आदि ग्रंथों के रचयिता सेनवंशी आचार्य जिनसेन के शिष्य थे, और सं० ९५५ में इन्होंने अपना 'उत्तर-पुराण' नामक महाग्रंथ पूर्ण किया था।

गुणसागर—इस नाम के दो विद्वान् हुए हैं, एक सं० १६२६ से पूर्व 'पार्श्व-जिनस्तवन' नामक दर्शन-स्तोत्र के रचयिता हैं, दूसरे विजयपति गच्छ के श्वेतांबर विद्वान् हैं जो पद्मसागर सूरि के शिष्य थे और जिन्होंने सं० १६७२ या १६७६ में 'ढालसागर' (हरिवंश पुराण) नामक ग्रंथ की रचना की थी। प्रस्तुत 'सत्रह भेद पूजा' नामक रचना इन दोनों में से किसकी है, यह नहीं कहा जा सकता। संभव है, उक्त ग्रंथ के अवलोकन से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ सके।

जैन छंदावली—(ठीक नाम 'छंद शतक' है)—वृंदावन कृत, नि० १८९८, पिंगल वर्णन।

टोडरमल्ल—जयपुर-निवासी जोगीदास के पुत्र; गोदीका-गोत्रीय खंडेलवाल जैन, सं० १७९३–१८२४ में वर्तमान, प्रसिद्ध विद्वान्, गोमट्टसारादि सैद्धांतिक ग्रंथों की विशालकाय हिंदी गद्य-टीकाओं के रचयिता। इनके द्वारा रचे गए लगभग दश ग्रंथों का पता चलता है जो प्रायः सब उपलब्ध हैं। 'मोक्ष-मार्ग प्रकाशक' आदि २-३ स्वतंत्र ग्रंथ हैं, शेष सब प्राकृत वा संस्कृत ग्रंथों की टीकाएँ हैं। आत्मानुशासन का हिंदी गद्यानुवाद भी इन्हीं की कृति है। इनकी संपूर्ण रचना का परिमाण, जिसका अधिकांश खड़ी बोली गद्य में है, लगभग ८०००० श्लोकों अथवा छापे के साढ़े चार हजार पृष्ठों के बराबर है।

द्यानत कवि (कवि द्यानत राय)—आगरे के निवासी, गोयल-गोत्रीय अग्रवाल जैन, वीरदास के पौत्र और श्यामदास के पुत्र, सं० १७३३–१७८१ में वर्तमान, प्रसिद्ध कवि, छोटी-बड़ी विविध-विषयक ४५ पद्य रचनाएँ, ३३३ पद्य-भजन और कई एक पूजा-पाठों के कर्त्ता। सं० १७८० में दिल्ली में इन्होंने अपनी उपर्युक्त समस्त रचनाओं का संकलन 'धर्मविलास' नामक ग्रंथ के रूप में किया, जिसका अधिकांश छप चुका है। 'एकीभाव भाषा' भी उसी संग्रह में से एक रचना प्रतीत होती है। यद्यपि एक अन्य 'भाषा एकीभाव' जो अधिक प्रचलित है, कवि भूधर जी की कृति है।

धर्मचंद्र—कवि वृंदावन के पिता, शाहाबाद जिले के बारा नामक ग्राम के निवासी गोयल-गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। सं० १८६० में जब वृंदावन बारह वर्ष के थे तो धर्मचंद्र बनारस में आकर बाबर शहीद की गली में रहने लगे। वृंदावन जी की मृत्यु के उपरांत उनके पुत्र अजितदास आरा में जाकर रहने लगे। ये भी कवि थे। वृंदावन जी ने १८९८ में 'छंद-शतक' की रचना पंद्रह दिन में ही इन्हीं अजितदास के पठनार्थ की थी। उनके वंशज आरा में अभी तक विद्यमान हैं।

धर्मदत्त-चरित्र—दयासागर सूरि कृत; इसका नि० का० सं० १७५५ दिया है, किंतु प्रेमी जी और मिश्रबंधु इस ग्रंथ को १४८६ में रचा गया बताते हैं, जो ठीक प्रतीत होता है। उपलब्ध प्रति से इसका ठीक-ठीक निर्णय किया जाना चाहिए।

धर्म-परीक्षा—मनोहरलाल कृत, नि० १७०५ (१७७५ नहीं), वि० अमितगति कृत तन्नाम संस्कृत ग्रंथ का हिंदी गद्यानुवाद, एक काल्पनिक कथा के मिस से विभिन्न मतमतांतरों का विवेचन।

धर्ममंदिर गणि—१७४१-१७५० में वर्तमान, श्वेतांबर जैन यति, 'प्रबोध-चिंतामणि' (प्रबोध-चिंतामणि मोह-विवेक) और 'चोपी मुनि-चरित्र' के रचयिता।

बनारसीदास—सं० १६४३-१७०७ में वर्तमान, जौनपुर-निवासी जैनधर्मानुयायी श्रीमाल-जातीय खरगसेन के पुत्र, अधिकतर आगरे में रहे। गोस्वामी तुलसीदास, संत सुंदरदास तथा बादशाह शाहजहाँ के मित्र थे, ऐसी अनुश्रुतियाँ हैं। प्रसिद्ध विद्वान् और उच्च कोटि के कवि, 'अर्ध कथानक' नामक हिंदी के सर्वप्रथम आत्मचरित की रचना के लिये विख्यात। आगरे के तत्कालीन अनेक विद्वानों की ज्ञान-गोष्ठी में प्रमुख तथा स्वतंत्र विचार के सुधारवादी सज्जन थे।

कृतियाँ—१-नाममाला (शब्दकोष), नि० १६७०; २—परमार्थ-वचनिका, नि० लगभग १६८०, केवल यही रचना गद्य में है, शेष सब पद्य में; ३—नाटक समयसार, नि०१६६३; ४—अर्द्धकथानक, नि० १६६८, उनके जीवन के पचपन वर्षों का आत्मचरित्र; ५—बनारसी-विलास, १७०१ में जगजीवन द्वारा संकलित, जिसमें उनकी 'साधु-वंदना,' 'मोक्ष-मार्ग-पैड़ी', 'कल्याण-मंदिर-भाषा' 'ज्ञानबावनी', आदि छोटी-बड़ी ६० रचनाएँ संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद भी हैं। 'बनारसी-पद्धति' नामक ग्रंथ अभी अनुपलब्ध है।

बुधजन—१८७१-१८६५ में वर्तमान। पूरा नाम विरधीचंद्र था। ये जयपुर-निवासी खंडेलवाल जैन थे, संत-शैली के एक अच्छे आध्यात्मिक कवि थे। कृतियाँ—१—तत्त्वार्थबोध (१८७१), २—बुधजन-सतसई (१८८१), ३—पंचास्तिकाय (१८६१), ४—बुधजन-विलास (१८६२), और ५—योगींद्रसार (योगसार) भाषा (१८६५)।

बेनीराम—दयाराम के शिष्य, जैन श्वेतांबर खरतरगच्छ के अनुयायी, पीपाड़ (जोधपुर) के जागीरदार राठौर माधोसिंह के आश्रित, कृति 'जिनरास'।

ब्रह्मराय मल्ल—१६१६-१६३० में वर्तमान। मूलसंघ शारदगच्छ के आचार्य रत्नकीर्ति के शिष्य मुनि अनंतकीर्ति के शिष्य थे। पिता का नाम संभवतः भूलसिंह था और निवासस्थान रणथंभोर। कृतियाँ—१—हनुमतमोक्षगामी कथा या हनुमंत-चरित्र (१६१६), २—श्रीपाल रासो (१६३०)।

भक्तामर भाषा—पांडे हेमराज कृत, नि० १७०१-१७२६ के बीच, लि० १७८८, वि० ईश-वंदना—मानतुंग के संस्कृत स्तोत्र का ललित पद्यानुवाद।

भगवतगीता—विद्याकमलकृत, नि० १६६६ के पूर्व, वि० शारदा-स्तवन।

भगौतीदास (भैया भगौतीदास)—सं० १७३१-१७५५ में वर्तमान। आगरे के निवासी, कटारिया-गोत्रीय ओसवाल जैनी साहु दशरथ के पौत्र और लालजी के पुत्र; प्रसिद्ध आध्यात्मिक कवि; इनकी ६७ रचनाओं का संग्रह 'ब्रह्मविलास' के नाम से प्रसिद्ध है, उन्हीं में से एक 'चेतन-कर्म-चरित्र' है।

भद्रस्वामी—देखिए गुणभद्र स्वामी (भद्रस्वामी नाम अशुद्ध है)।

भूधरमल—आगरे के निवासी खंडेलवाल जैन थे। १७७५-१७६० में वर्तमान उच्च कोटि के कवि थे। कृतियाँ—१—जैन-शतक (१७८१) जो १०७ सुभाषित कवित्त, छप्पय, सवैया, दोहादि का संग्रह है; २—पार्श्वपुराण (१७८६); ३—भूधरविलास, जो ८० पद-भजन-विनतियों और कई छोटी-छोटी रचनाओं का संग्रह है। उन्हीं में से एक 'भूपाल-पचीसी' है।

भूपाल-पचीसी—भूधरमल कृत, नि० १७६० के लगभग, वि० भूपालराय कृत भूपाल-चतुर्विंशतिका नामक संस्कृत के भक्तिपूर्ण स्तोत्र का भाषा-पद्यानुवाद।

मनोहर—१७०५ के लगभग वर्तमान, सोनी-गोत्रीय खंडेलवाल जैन, मूलतः सांगानेर के निवासी, बाद में धानपुर में जाकर रहे। कृति—धर्म-परीक्षा।

मानसिंह—जैन श्वेतांबर विजयपति गच्छ के अनुयायी। ग्रंथ उदयपुर में लिखा। कृति—'बिहारी-सतसई की टीका'।

मुनि लावण्य—सं० १६६६ के पूर्व वर्तमान। कृति—'रावण-मंदोदरी-संवाद'।

विजयदेव सूरि—जैन श्वेतांबर साधु, सं० १७३३ में वर्तमान। कृति—'सीलरासा'।

विद्या कमल—१६६६ के पूर्व वर्तमान, जैन साधु। कृति—'भगवत गीता'।

विषापहार भाषा—भ० अचलकीर्ति कृत, नि० १७१५, नारनौल में रची गई, वि० कवि धनंजय के संस्कृत स्तोत्र का हिंदी पद्यानुवाद।

वृंदावन—धर्मचंद्र के पुत्र, गोयल-गोत्रीय अग्रवाल जैन, काशी-निवासी, जन्म सं० १८४८, सं० १६०५ तक वर्तमान, प्रसिद्ध कवि। खड़ी बोली पद्य में भी पर्याप्त रचनाएँ हैं। कृतियाँ—१—प्रवचनसार टीका, २—चतुर्विंशति जिन पूजापाठ, ३—तीस-चौबीसी पूजापाठ, ४—पासा केवलि (१८६१), ५—छंद-शतक (१८६८), ६—वृंदावन-विलास (बहुत सी फुटकर रचनाओं का संग्रह)।

समयसार नाटक—बनारसीदासकृत, नि० १६६३, वि० कुंदकुंदाचार्य के अध्यात्म-रस-पूर्ण प्राकृत ग्रंथ का स्वतंत्र पद्यानुवाद।

सीलरासा—यह भ्रम से 'सीलदास' छप गया है।

सुदृष्टि तरंगिणी (टीका)—टेकचंदकृत, नि० १८३८, वि० जैन-धर्म-निरूपण, मूल संस्कृत ग्रंथ की विशालकाय हिंदी गद्य-टीका।

हेमराज (पांडे)—आगरे के निवासी, १६७५–१७२६ में वर्तमान। कृतियाँ—भक्तामर भाषा (पद्य) के अतिरिक्त निम्नोक्त ग्रंथों की गद्य टीकाएँ लिखीं—१—प्रवचनसार, २—पंचास्तिकाय, ३—गोमट्टसार जीवकांड, ४—कर्मकांड, ५—नयचक्र।

हमारा राष्ट्रीय अभिलेख-संग्रहालय

किसी राष्ट्र का अभिलेख-संग्रह उस राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री ही नहीं, अपितु उसकी अमूल्य सांस्कृतिक निधि भी है। इस दृष्टि से राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के वैज्ञानिक ढंग से संग्रह एवं रक्षण का प्रबंध प्रत्येक शासनारूढ़ सरकार का अत्यावश्यक कर्तव्य है। हमें हर्ष है कि नई दिल्ली में स्थित हमारा राष्ट्रीय अभिलेख-संग्रहालय (नेशनल आर्काइव्ज) भारत-सरकार द्वारा किए गए ठोस निर्माण-कार्यों का एक ऐसा उदाहरण है जिसपर हम गर्व कर सकते हैं।

उक्त विशाल अभिलेख-संग्रह कई दृष्टियों से ऐतिहासिक सामग्री का विश्व में अद्वितीय संग्रह है। इसमें प्रयुक्त फौलाद के टाँड़ों की कुल लंबाई लगभग १४ मील है। इसके भीतर सुरक्षित अभिलेखों की बँधी हुई जिल्दों की संख्या ७२६६१ तथा बिना जिल्द के अभिलेखों की संख्या ३६४४००० है और इन संख्याओं में निरंतर इस तीव्रता से वृद्धि हो रही है कि उनके लिये स्थान का प्रबंध भी शीघ्र ही एक समस्या बन जायगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले तक इसका नाम साम्राज्य-अभिलेख-विभाग (इंपीरियल रेकर्ड्स डिपार्टमेंट) था, जिसकी स्थापना आज से ६० वर्ष पूर्व सन् १८६१

में हुई थी। १८६१ के पहले भारत-सरकार के भिन्न-भिन्न विभाग ही अपने-अपने अभिलेखों की देख-भाल करते थे; परंतु उनकी निरंतर वृद्धि के कारण जब स्थान की कठिनाई पड़ने लगी तो उनमें से अनावश्यक कागज-पत्रों की छँटाई अनिवार्य हो गई। तब १८६१ में इसपर विचार करने के लिये एक अभिलेख-समिति नियुक्त की गई जिसने सम्मति दी कि अलग-अलग विभागों में बिखरे हुए स्थायी महत्त्व के लेखों की मूल प्रतियाँ एक ही स्थान में रक्खी जायँ। तीस वर्ष बाद यह प्रस्ताव कार्यान्वित हुआ और तब से १९४७ तक अनेक अभिलेख-संग्रह में कुशल एवं इतिहासज्ञ अंग्रेज तथा भारतीय पंडितों की देखरेख में यह बराबर उन्नति करता आ रहा है। सन् १९११ में जब राजधानी कलकत्ते से दिल्ली आ गई तो इस संग्रह को भी दिल्ली लाने का निश्चय हुआ, परंतु यह कार्य बहुत मंद गति से हुआ। वर्तमान अभिलेख-भवन १९२६ में बनकर तैयार हो गया, परंतु समस्त अभिलेखों को वहाँ रखने का कार्य कहीं १९४७ में जाकर पूरा हुआ। १९३९ में इतिहास-शोधकों के लिये इसका उपयोग सुलभ कर दिया गया।

इस संग्रह में सन् १७४८ के इधर की सामग्री नियमित रूप से संगृहीत है, परंतु कुछ अभिलेख इससे पहले के भी हैं। अधिकतर लेख्य अंग्रेजी में हैं, परंतु प्राय: सभी प्राच्य भाषाओं के भी लेख्य हैं जिनका विशेष ऐतिहासिक एवं भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व है। इन सामग्रियों से भारत में सौ वर्ष पूर्व अमरीकी, चीनी और इताली खेतिहरों द्वारा कपास, चाय आदि की खेती और अफगानिस्तान, लंका, जावा, मिस्र, क्रीमिया आदि देशों से ब्रिटिशों के युद्धों तथा मध्य-एशिया, मध्य-पूर्व और सुदूर-पूर्व के एशियाई देशों से ईस्ट इंडिया कंपनी के कूटनीतिक संबंधों आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ईस्ट इंडिया कंपनी और भारत के देशी राज्यों के बीच हुए कितने ही महत्त्वपूर्ण पत्र-व्यवहार यहाँ सुरक्षित हैं जिनमें अधिकतर फारसी में हैं, परंतु अनेक पत्र संस्कृत, अरबी, हिंदी, बंगाली, मराठी, उड़िया, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, ब्राह्मी, चीनी, स्यामी और तिब्बती भाषाओं में भी है। एक पत्र लैटिन में मैसूर के नवाब हैदर अली के नाम हैब्सबर्ग के अधिपति द्वितीय जोसेफ का है और एक रूसी भाषा में 'ज़ार' की ओर से खीवा से हजरत के नाम है।

यह संग्रह, जैसा पहले कहा जा चुका है, बराबर बढ़ता जा रहा है। सन् १९५०-५१ में ग्यारह लाख संचिकाएँ स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व के राजनीतिक तथा वैदेशिक विभागों से प्राप्त हुई और इंडियन हिस्टारिकल रेकर्ड्स कमीशन की

प्रादेशिक सर्वेक्षण-समितियों से अनेक हस्तलेख तथा फर्मान आदि भेंट में अथवा क्रय करके प्राप्त किए गए। भारत-संबंधी विदेशस्थ अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रंथों के मायक्रोफिल्म भी प्राप्त किए गए।

लेख्यों के प्रतिसंस्कार तथा रक्षण का कार्य भी सुचारु रूप से हो रहा है। गत वर्ष १४४००० मुड़े हुए लेख्य-पत्र सीधे करके उनकी मरम्मत की गई तथा ५६३ अलभ्य ग्रंथों और हस्तलेखों का प्रतिसंस्कार किया गया। १७००० जिल्दों पर कृमिनाशक गंध और मसाले दिए गए। यहाँ की अभिलेख-रक्षण-प्रयोगशाला में अनुसंधान कर पहले-पहल भोजपत्र पर लिखित ग्रंथों की रक्षा की पद्धति निकाली गई। इस पद्धति द्वारा कश्मीर-सरकार से प्राप्त गिलगिट-संग्रह के बहुत से भोजपत्र के लेखों का पुनरुद्धार किया गया। अभिलेखों के पुनरुद्धार तथा रक्षा आदि के संबंध में कितनी ही बाहर की संस्थाओं को परामर्श दिए गए। हस्तलिखित ग्रंथों को यंत्र द्वारा वायु-स्नापित करने का भी प्रबंध किया गया। सन् ५०-५१ में २१००० ग्रंथों के मायक्रोफिल्म लिए गए। इस समय इसमें २५० कुशल कार्यकर्ता इसके संचालन एवं उन्नति के लिये विविध कार्यों में नियोजित हैं।

इस प्रकार भारत की राजधानी में अत्यंत उपयुक्त स्थान तथा भव्य भवन में सुस्थापित, सभी आधुनिक साधनों एवं यंत्रोपकरणों से सुसज्जित तथा भारत-सरकार के शिक्षा-विभाग के तत्त्वावधान में कुशल कार्यकर्ताओं द्वारा संचालित हमारा यह राष्ट्रीय अभिलेख-संग्रहालय सचमुच हमारे गर्व और गौरव का विषय है और हम इसकी उत्तरोत्तर उन्नति की कामना करते हुए आशा करते हैं कि इसमें आधुनिक अभिलेखों के संग्रह के साथ-साथ भारतीय इतिहास एवं संस्कृति से संबंधित प्राचीन अभिलेखों तथा हस्तलिखित ग्रंथों का भी अधिक से अधिक संख्या में नियमित रूप से संग्रह करने की ओर और अधिक ध्यान दिया जायगा।

—संपादक

केशव-स्मृति-अंक

नागरीप्रचारिणी सभा ने स्वर्गीय पंडित केशवप्रसाद मिश्र (द्रष्टव्य पत्रिका वर्ष ५५, अंक ४, पृ० ३४४) की स्मृति में पत्रिका का एक विशेषांक 'केशव-स्मृति-अंक' के नाम से मार्च १९५२ में उनकी वार्षिकी के अवसर पर प्रकाशित करने का निश्चय किया है। अतः पत्रिका का आगामी तृतीय-चतुर्थ संयुक्त अंक 'केशव-स्मृति-अंक' के रूप में प्रकाशित होगा।

मिश्र जी भाषाशास्त्र और साहित्य के मर्मज्ञ एवं विशिष्ट विद्वान् थे। साथ ही पुरातत्त्व, इतिहास आदि भारतीय विद्या संबंधी विषयों पर भी उनका गंभीर एवं विस्तृत अध्ययन था। इस दृष्टि से उक्त विशेषांक में निम्न-लिखित विषयों पर उच्च कोटि के लेख रहेंगे—

(१) भाषाशास्त्र—भारतीय भाषाओं, विभाषाओं और बोलियों का शास्त्रीय अध्ययन।

(२) साहित्य—हिंदी, संस्कृत तथा अन्य भारतीय साहित्य का ऐतिहासिक और आलोचनात्मक अध्ययन।

(३) कला।

(४) इतिहास।

(५) पुरातत्त्व।

अंत में मिश्र जी का संक्षिप्त जीवन-चरित तथा संस्मरण रहेंगे।

हमें आशा है कि उक्त विशेषांक को पूर्णतः सफल बनाने में विद्वान् लेखकों का पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

—संपादक

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र

(चैत्र कृष्ण ७ सं० १९४२—फाल्गुन शुक्ल १३ सं० २००७)
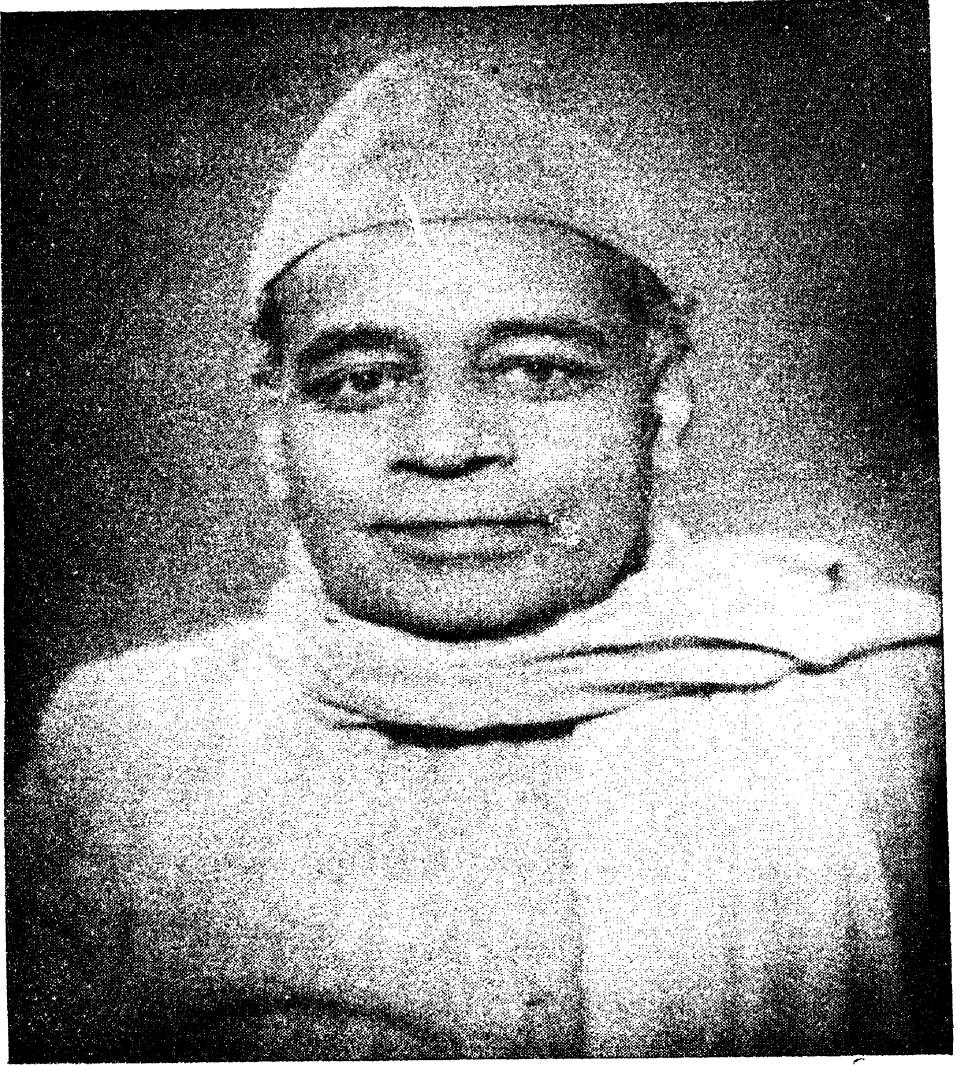
हिंदू विश्वविद्यालय से अवकाश-ग्रहण करने पर अभिनंदन के अवसर का चित्र

प्रस्तावना

परलोकगत विशिष्ट विद्या-प्रतिभा-संपन्न सत्पुरुषों का श्रद्धापूर्वक स्मरण तथा उनकी स्मृति को साकार बनाने का प्रयत्न हमारा एक आवश्यक कर्तव्य है। उसका पालन कर हम उन्हें नहीं, अपने को गौरवान्वित एवं उपकृत करते हैं। हम जिस भाव से उन्हें देखते हैं—जैसी श्रद्धा उनके प्रति रखते हैं—वह बहुत अंशों में हमारे वर्तमान का निदर्शक एवं भविष्य का विधायक होता है। अतः उनकी उपेक्षा कर हम केवल एक शिष्ट कर्तव्य से च्युत ही नहीं होते, प्रमादवश अपनी क्षति भी करते हैं।

आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र सात्विकी श्रद्धा से पूर्ण त्रिविध[1]-तपोनिरत, भारती के उन मौन उपासकों में थे जिन्हें समझने-परखने में युग-सुलभ-ख्याति-लोभी दृष्टि को भ्रम होना सहज संभव है, किंतु जिनको समझ-परख लेने पर सात्विक निष्ठावाले सत्पुरुषों को अपूर्व मनःप्रसाद एवं आत्मबल प्राप्त होता है। जगत् में आज विद्वानों, कवियों, कलाविदों, समालोचकों आदि की कमी कहाँ है? परंतु अपने सत्-आचार एवं प्रिय-हित भाषण द्वारा दूसरों के मनःप्रसादन का गुण सबमें कहाँ होता है! गंभीर विद्वत्ता एवं प्रसन्न प्रतिभा के साथ वह सहज सरसता क्या सर्वत्र सुलभ है? केवल विद्वत्ता तो समय पर राक्षसी रूप

१—भगवद्गीता के अनुसार शारीर, वाङ्मय एवं मानस तीन प्रकार का सात्विक तप इस प्रकार है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च **शारीरं तप** उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव **वाङ्मयं तप** उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो **मानसमुच्यते**॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्**त्रिविधं** नरैः।
..............**तपः। सात्विकमुच्यते**॥ गीता, १७।१४-१७

भी धारण कर सकती है, पर सरस हृदय अपनी सरसता का त्याग किसी भी अवस्था में नहीं कर सकता।[२] केशव जी ऐसे ही सरस विद्वान् थे।

केशव जी कुशल कवि, प्रकृतिसिद्ध अध्यापक, विज्ञ समालोचक, सफल निबंध-कार, विशिष्ट भाषातत्त्वज्ञ, पाणिनि-पतंजलि के मार्मिक प्रवक्ता एवं बहुमुखी-प्रतिभाशाली विद्वान् थे। अपने युग के भारतीय विद्या के कितने ही प्रतिष्ठित विद्वानों—स्रष्टाओं और भावकों—का उन्होंने सम्मान पाया और कितनों ही को उनसे सत्प्रेरणा मिली। सर्वोपरि वे इस युग के एक आदर्श ब्राह्मण एवं आदर्श भावक थे।

केशव जी को परलोकगत हुए सौर चैत्र ७, सं० २००८ (२१ मार्च सन् १९५२) को एक वर्ष हो गया (पत्रिका, वर्ष ५५ अंक ४, 'विविध')। सभा ने यह संकल्प किया था कि इस अवसर पर पत्रिका के तृतीय-चतुर्थ अंक उनकी स्मृति में एक विशेष अंक के रूप में प्रकाशित हों। उस संकल्प की पूर्ति में विद्वानों के लेखों एवं श्रद्धा-संस्मरणों तथा आचार्य केशव जी की कुछ रचनाओं के संकलन से युक्त यह केशव-स्मृति अंक प्रस्तुत है। इस अंक के रूप में हम आचार्य केशव जी के महद्गुणों का स्मरण करते हुए उन्हें अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—संपादक

२—साक्षरा: विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्।
सरसो विपरीतश्चेद् सरसत्वं न मुञ्चति॥

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

卐 केशव-स्मृति अंक 卐

वर्ष ५६] संवत् २००८ [अंक ३–४

पाणिनि और उनका शास्त्र*

[ले० श्री वासुदेवशरण]

येनाक्षर - समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥
पाणिनीयं महत्सुविहितम्

व्याकरण

भारतवर्ष में व्याकरण को उत्तरा विद्या एवं छहों वेदांगों में प्रधान माना गया है (व्याकरणं नामेयं उत्तरा विद्या, भाष्य १।२।३२; षट्सु अंगेषु प्रधानम्)। भाषा के वर्गीकरण और प्रकृति-प्रत्यय रूप विश्लेषण में जैसी उन्नति इस देश में हुई वैसी अन्यत्र नहीं। संस्कृत के वैयाकरणों ने सर्वप्रथम मूल शब्द के रूपों को अलग किया, धातु और प्रत्यय के भेद को पहिचाना, प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय किया और शब्दविद्या का इतना निश्चित और पूर्ण शास्त्र तैयार किया जिसकी उपमा किसी अन्य देश में नहीं मिलती। भारतीयों के शब्दविद्या-विषयक ज्ञान से पश्चिमी विद्वानों ने अपने भाषाशास्त्र में भी लाभ उठाया है।

पाणिनि का व्याकरणशास्त्र भारतीय शब्दविद्या का सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जो इस समय उपलब्ध होता है। आचार्य पाणिनि ने महान् अष्टाध्यायी शास्त्र की रचना की, जो अपनी विशालता, क्रमबद्धता एवं विराट् कल्पना के कारण भारतीय

---

* लेखक-रचित ग्रंथ का पहला अध्याय।

मस्तिष्क की उसी प्रकार की सविशेष कृति है जिस प्रकार पर्वत में उत्कीर्ण वेरूल क्षेत्र का विशाल कैलास-मंदिर। पाणिनि ने संस्कृत भाषा को अमरता प्रदान की। व्याकरण की जो रीति उन्होंने समझाई उसके द्वारा संस्कृत भाषा के सब अंग प्रकाश से आलोकित हो गए। पाणिनि की सहायता से उनमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालने में किसी को कठिनाई का अनुभव नहीं होता। संसार की कितनी ही प्राचीन भाषाएँ नियमित व्याकरण के अभाव में दुरूह बन गईं, किंतु संस्कृत भाषा के गद्य और पद्य दोनों एक समान पाणिनि-शास्त्र से नियमित होने के कारण सब काल में सुबोध बने रहे हैं। संस्कृत भाषा का जहाँ तक विस्तार है वहीं तक पाणिनीय शास्त्र का प्रमाण है। पाणिनि का प्रभाव सदा के लिये संस्कृत भाषा पर अक्षुण्ण है; आज भी उसकी मान्यता है। पाणिनि के कारण ही मानो यह भाषा कालग्रस्त नहीं हो सकी।

पाणिनि का यश और अष्टाध्यायी का महत्त्व

पश्चिमी जगत् के विद्वान् जब पाणिनि से परिचित हुए तो उनपर उस शास्त्र के महत्त्व की छाप पड़ी। वेबर ने अपने संस्कृत भाषा के इतिहास में अष्टाध्यायी को इस कारण सभी देशों के व्याकरण-ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना कि उसमें बहुत बारीकी से धातुओं और शब्द-रूपों की छानबीन की गई है। गोल्डस्टूकर के मत में पाणिनि-शास्त्र संस्कृत भाषा का स्वाभाविक विकास हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शास्त्र के चारों ओर अति प्राचीन काल से अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना होती रही है। भारतीय शास्त्रीय परंपरा की भूमि में पाणिनि की जड़ें सबसे अधिक गहराई तक फैली हैं। पाणिनि के सूत्र अत्यंत संक्षिप्त हैं। उन्हें छोटा बनाने में जिन विविध उपायों से काम लिया गया वे उनकी मौलिक सूझ प्रकट करते हैं। किंतु यह संक्षिप्त शैली सर्वथा स्पष्ट है, कहीं भी दुरूह नहीं होने पाई। जब से सूत्रों का पठन-पाठन आरंभ हुआ तब से आज तक उनके शब्दों के अर्थ स्पष्ट रहे हैं।

अष्टाध्यायी की रचना से पहले शब्दविद्या का दीर्घकालीन विकास हो चुका था, किंतु अष्टाध्यायी जैसे बृहत् और सर्वांगपरिपूर्ण शास्त्र के सामने पुराने ग्रंथ लुप्त हो गए। लोक में उसी का सर्वोपरि प्रमाण माना जाने लगा। पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल यास्क का निरुक्त बचा है और वह भी केवल इस कारण कि उसका ध्येय वैदिक अर्थों को विवृत करना था। यास्क और पाणिनि के समय में जो 'चरण' संज्ञक वैदिक शिक्षा-संस्थाएँ थीं उनकी परिषदों में अनेक प्रकार से शब्द और ध्वनि

के नियमों का ऊहापोह किया गया था। चरण-परिषदों के अतिरिक्त भी कितने ही आचार्यों ने शब्दविद्या के विषय में ग्रंथ रचे थे; उनमें से कुछ का प्रमाण स्वयं पाणिनि ने दिया है। उस विस्तृत सामग्री की पृष्ठभूमि लेकर पाणिनि ने अपना शास्त्र बनाया।

पाणिनि ने अपने समय की बोलचाल की शिष्ट भाषा की जाँच-पड़ताल करके अपनी सामग्री का संकलन किया। एक प्रकार से अधिकांश सामग्री उन्होंने स्वयं अपने लिये प्राप्त की। पाणिनि के सामने संस्कृत वाङ्मय और लोकजीवन का बृहत् भंडार फैला हुआ था, वह नित्यप्रति प्रयोग में आनेवाले शब्दों से भरा हुआ था। इस भंडार का जो शब्द अर्थ और रचना की दृष्टि से कुछ भी निजी विशेषता लिए हुए था उसका उल्लेख सूत्रों में या गणपाठ में आ गया है। तत्कालीन जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं रहा जिसके शब्द अष्टाध्यायी में न आए हों। भूगोल, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक जीवन, कृषि, वाणिज्य-व्यवसाय, सिक्के, नापतोल, सेवा, शासन, राजा, मंत्रिपरिषद्, यज्ञ-याग, पूजा, देवी-देवता, साधु-संन्यासी, रंगरेज, बढ़ई, लुहार, जुलाहा, महाजन, किसान, जुआरी, बहेलिया—जहाँ तक जीवन का विस्तार है वहाँ तक शब्दों को पकड़ने के लिये पाणिनि का जाल फैला हुआ था। विशेषतः भौगोलिक जनपदों और स्थानों, वैदिक शाखाओं और चरणों तथा गोत्रों और वंशों के नामों से संबंधित बहुत अधिक सामग्री अष्टाध्यायी में संगृहीत हो गई है। इन नामों से बननेवाले जो शब्द भाषा में रातदिन काम में आते थे उनकी रूप-सिद्धि और अर्थों का निश्चय पाणिनि का लक्ष्य था। इन शब्दों और अन्य सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी। दूर से पुकारने (दूराद्धूते च, ८।२। ८४), अभिवादन का उत्तर देने (प्रत्यभिवादेऽशूद्रे, ८।२।८३) और प्रश्नोत्तर, डाँट-फटकार आदि के लिये (भर्त्सने ८।२।९५; पृष्टप्रतिवचने, ८।२।९३) जिस प्रकार वाक्यों और शब्दों में स्वरों का प्रयोग होता था उनके नियम सूत्रों में दिए गए हैं, जो उनकी व्यावहारिक उपयोगिता को बताते हैं।

पाणिनीय शैली की बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने धातुओं से शब्द-निर्वचन की पद्धति को स्वीकार किया। इसके लिये उन्होंने धातुपाठ में लोक में प्रचलित धातुओं का बड़ा संग्रह किया। आज भी इस देश की आर्य-भाषाओं और बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पाणिनि द्वारा संगृहीत धातुपाठ सामग्री और अर्थों की दृष्टि से अति मूल्यवान् है। दूसरी ओर पाणिनि ने, जिस

प्रकार धातुओं से संज्ञा शब्द सिद्ध होते हैं उस प्रक्रिया की, सामान्य और विशेष रीति से पूरी छानबीन करके कृदंत प्रत्ययों की लंबी सूची दी है, और जिन अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं उनका ज्ञान भी कराया है। यह सरल शैली शब्द-ज्ञान के लिये नितांत सरल और सुबोध हुई। पाणिनि से पहले आचार्य शाकटायन ने भी यह मत स्वीकार किया था कि शब्द धातुओं से बनते हैं; किंतु वैयाकरण शाकटायन ने अपने इस मत को एक आग्रह का रूप दे डाला था और व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी प्रकार के शब्दों को धातु-प्रत्यय से सिद्ध करने का क्लिष्ट प्रयत्न किया था। शाकटायन के मत की झलक और उसके उदाहरण यास्क ने निरुक्त में दिए हैं। सभी शब्दों को धातुज मानने की शाकटायन-प्रदर्शित पगडंडी पर चलते हुए ही उणादि सूत्रों की रचना हो सकती थी। उनके ठीक कर्ता का पता नहीं; हो सकता है शाकटायन के व्याकरण के ही वे अवशेष हों जिनमें पीछे भी कुछ जोड़-तोड़ होता रहा। दूसरी ओर पाणिनि को किसी मत का आग्रह न था। वे 'मध्यम पटिपदा' या बीच का रास्ता स्वीकार करना अच्छा समझते थे। जहाँ दो मतों का झगड़ा हो, वहाँ पाणिनि मध्यम पथ या समन्वय को पसंद करते हैं। उन्होंने देखा कि भाषा में कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी सिद्धि धातुओं में प्रत्यय लगाकर सामान्य या विशेष नियम के अंतर्गत आती है। किंतु लोक में शब्दों का भंडार बहुत बड़ा है; उसमें कितने शब्द ऐसे भी हैं जिनमें धातु-प्रत्यय की दाल नहीं गलती। हठात् प्रत्यय की थेकली लगाकर उन्हें सिद्ध करना न केवल क्लिष्ट कल्पना है, बल्कि कभी कभी व्याकरण-शास्त्र की भी हँसी कराना है। ऐसे शब्द लोक में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अर्थों के साथ उनका संबंध जुड़ जाता है, एवं वे लोगों के कंठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। ऐसे शब्दों को पाणिनि ने संज्ञाप्रमाण (१।२।५३) कहा है। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनमें व्याकरण के नियमों की बाँस-बल्ली नहीं लगती, वे जैसे लोक के कंठ में ढल गए हैं। ऐसे शब्दों को यथोपदिष्ट मानकर उनकी भी प्रामाणिकता उन्होंने स्वीकार की है (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, ६।३।१०९)। उणादि प्रत्ययों को भी पाणिनि ने अपने शास्त्र में प्रमाण तो मान लिया, किंतु ब्योरेवार उनके पचड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझी। 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) सूत्र लिखकर उन्होंने उणादि शैली से शब्द-सिद्धि करने की प्रक्रिया पर अपनी स्वीकृति की मोहर तो लगा दी, किंतु 'बहुलम्' कहकर लंबी छूट दे दी कि जो आचार्य जितनी चाहे उतनी चौकड़ियाँ भरे। और भी जहाँ-जहाँ मतों का द्वंद्व था, आचार्य पाणिनि ने समन्वय का दृष्टिकोण स्वीकार किया।

शब्द का अर्थ व्यक्ति है या जाति, यह एक पुराना विवाद था। महाभाष्य में इसका लंबा शास्त्रार्थ दिया हुआ है। आचार्य वाजप्यायन का मत था कि 'गौ' शब्द का अर्थ गौ-जाति-मात्र है (आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः, १।२।६४।३५)। आचार्य व्याडि का मत था कि गौ शब्द व्यक्ति-रूप केवल एक गौ का वाचक है (द्रव्याभिधानं व्याडिः, १।२।६४।४५)। पाणिनि ने देखा कि इन दोनों मतों में सत्य का अंश है, अतएव अपने दो सूत्रों में उन्होंने दोनों को मान्यता दी। 'जात्याख्यायां एकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (१।२।५८) सूत्र में यह माना कि जाति मात्र शब्द का अर्थ है, 'एवं सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१।२।६४) सूत्र में शब्द का अर्थ द्रव्य या एक व्यक्ति लिया गया। पतजंलि ने महाभाष्य के आरंभ के पस्पशाह्निक में इस संबंध में पाणिनि की स्थिति को संक्षेप में स्पष्ट कर दिया है।

पाणिनि का महान् शास्त्र अष्टाध्यायी इस दृष्टि से भी हमारे लिये महत्त्व-पूर्ण है कि यास्क के निरुक्त की तरह उसपर एक ही आचार्य के कर्तृत्व की छाप है। वह इस प्रकार का ग्रंथ नहीं है जिसका संकलन चरण-साहित्य के ढंग पर गुरु-शिष्य-परंपरा में पल्लवित होनेवाले शास्त्रीय ज्ञान को इकट्ठा करके किया गया हो। शब्द-सामग्री का संग्रह करने के बाद पूर्वाभिमुख आसन पर बैठकर महान् यत्न से एक ही बार में आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र की रचना की। सूत्रों की अन्तःसाक्षी इसी पक्ष में है। रचना के बाद भी पाणिनि के ग्रंथ में बहुत ही कम फेरफार हुआ है। बर्नेल ने लिखा है कि अष्टाध्यायी का पाठ जितना शुद्ध और प्रामाणिक ढाई सहस्र वर्षों की दीर्घ परंपरा के बाद हमें मिलता है, उतना किसी अन्य संस्कृत ग्रंथ का नहीं (ऐंद्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३१)।

अष्टाध्यायी के सूत्रों में भूगोल, इतिहास, सामाजिक स्थिति एवं संस्कृति संबंधी जो सामग्री पाई जाती है, उसकी प्रामाणिकता उतनी ही बढ़ी-चढ़ी है जितनी प्राचीन शिलालेखों या सिक्कों की हो सकती है।

अष्टाध्यायी की प्राचीनता को आजकल के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं; इस प्राचीनता से भी इस ग्रंथ की सामग्री का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हमारे प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य अष्टाध्यायी की सांस्कृतिक सामग्री पर प्रकाश डालना है। एक प्रकार से यह पाणिनि-शास्त्र की बहिरंग परीक्षा ही है, जो इस शास्त्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय देकर सूत्रों में प्रतिपादित

शब्दों को नया मूल्य प्रदान करेगी और उनमें नई रुचि का संचार करेगी। इस अध्ययन से पाणिनि-शास्त्र की गंभीरता का भी कुछ अनुमान हो सकेगा। प्रायः व्याकरण-शास्त्र को रूखा विषय समझा जाता है, किंतु इस अध्ययन से संभवतः यह विदित होगा कि पाणिनि-शास्त्र कोरी दाँत-किटाकिट नहीं है। उनके अष्टाध्यायी में संस्कृति की जो अमूल्य सामग्री है, उससे प्राचीन लोक-जीवन का जीता-जागता परिचय मिलता है। इसकी सहायता से यदि हम आचार्य पाणिनि के ग्रंथ के समीप एक बार नए उत्साह से अपने मन को ला सकें तो यह परिश्रम सफल होगा।

संस्कृत भाषा का जो पुराना इतिहास था उसके एक गाढ़े समय में पाणिनि का प्रादुर्भाव हुआ। यास्क के समय में ही वैदिक भाषा का युग लगभग समाप्त हो चुका था। नए-नए ग्रंथ, अध्ययन के विषय एवं शब्द सब ओर जन्म ले रहे थे। गद्य और पद्य की एक नवीन भाषा-शैली प्रभावशालिनी शक्ति के रूप में सामने आ रही थी। उस भाषा के विस्तार का क्षेत्र उत्तर में कंबोज—प्रकण्व (पामीर फरगना) से लेकर पश्चिम में कच्छ-काठियावाड़, दक्षिण में अश्मक (गोदावरी-तट का प्रदेश) और पूर्व में कलिंग एवं सूरमस (आसाम की सूरमा नदी का पहाड़ी प्रदेश) तक फैला हुआ था, जैसा कि अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से विदित होता है। संभव है इस विशाल प्रदेश में संबंधित बोलियाँ भी रही हों, किंतु एक-छत्र साम्राज्य का पट्टबंध संस्कृत के ही माथे था। संस्कृत भाषा एवं साहित्य की इस प्रकार दिपती हुई चारखूँट जागीरी के एकत्र तेज से पाणिनि के महान् शास्त्र का जन्म हुआ। पाणिनि से पूर्व शब्दविद्या के दूसरे आचार्यों ने इस विस्तृत भाषा को नियमबद्ध करने के प्रयत्न किए थे, किंतु वे एकांगी थे; संभवतः एक दूसरे से टकराते भी थे और शब्दों के रूप और नियम भी उनमें पूरी तरह घिरकर न आ सके थे। किंतु पाणिनि का शास्त्र विस्तार और गांभीर्य की दृष्टि से इन सबमें सिरमौर हुआ। वह उस स्थिर सरोवर के समान है, जिसमें निर्मल जल भरा हो और जिसमें उतरने के लिए पक्के घाट बँधे हों। पाणिनि ने अपने एकाग्र मन, सारग्राहिणी बुद्धि, समन्वयात्मक दृष्टिकोण, दृढ़ परिश्रम, सूत्र रचने की कुशलता एवं विपुल सामग्री की सहायता से जिस अनोखे व्याकरण शास्त्र की रचना की, उसने सचमुच ही तत्कालीन संस्कृत भाषा की समस्या का एक बड़ा समाधान देशवासियों के लिये किया। तभी तो लोक में एक स्वर से पाणिनि-शास्त्र का स्वागत करते हुए यह किलकारी उठी—

पाणिनीयं महत्सुविहितम्। (भा० ३।२।३)
अर्थात् पाणिनि का महान् शास्त्र सुविरचित है।

काशिका के अनुसार सारे लोक में पाणिनि का नाम छा गया (पाणिनि शब्दो लोके प्रकाशते, २।१।६); सर्वत्र 'इति पाणिनि' की धूम हो गई। पाणिनि की इस सफलता का स्रोत लोक की दृष्टि में ईश्वरीय शक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता था ? इसी कारण यह अनुश्रुति प्रचलित हुई कि शब्द के आदि आचार्य भगवान् शिव की कृपा से पाणिनि को नया व्याकरण-शास्त्र प्राप्त हुआ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में लगभग चार सहस्र सूत्र हैं, अथवा ठीक गिनती के अनुसार ३६६५ हैं, जिनमें 'अ इ उ ण्'•'ऋ लृ क्' आदि अक्षर-समाम्नाय के चौदह प्रत्याहार सूत्र भी सम्मिलित हैं। पाणिनि ने सूत्रों की शैली में अत्यंत ही संक्षिप्त अक्षरों के द्वारा ग्रंथ की रचना की। सूत्र-शैली पाणिनि से पूर्व ही आरंभ हो चुकी थी। ब्राह्मण-ग्रंथों के बृहत्काय पोथों की प्रतिक्रिया-रूप सूत्रों की सुंदर हृदयग्राही शैली का जन्म हुआ था। संसार की साहित्यिक शैलियों में भारतवर्ष की सूत्र-शैली की अन्यत्र उपमा नहीं है। यों तो श्रौत, धर्म और गृह्यसूत्रों एवं प्रातिशाख्य आदि वैदिक परिषदों के ग्रंथों में सफलतापूर्वक सूत्रशैली का प्रयोग हो चुका था, किंतु उसी को अच्छी तरह से माँजकर इस शैली की पूर्ण शक्ति और संभावना के साथ उसे काम में लाने का श्रेय पाणिनि को ही है। सूत्रशैली को माँजने की कल्पना पाणिनि के मन में थी। प्रयत्नपूर्वक माँजे और निखारे हुए सूत्र को उन्होंने 'प्रतिष्णात' कहा है (सूत्रं प्रतिष्णातम्, ८।३।६०)। अतएव 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि के लिये प्रचलित हुई। महाभाष्य में पतंजलि ने एक प्राचीन उदाहरण देते हुए सूत्रकार पद पाणिनि के लिये ही प्रयुक्त किया है (पाणिनेः सूत्रकारस्य, १।२।११)।

पाणिनि से पूर्व भी व्याकरणशास्त्र की रचना हुई, परंतु उस समय लक्ष्य और लक्षण अर्थात् शब्द और उनकी सिद्धि के नियम, इन दोनों को मिलाकर व्याकरण समझा जाता था। पतंजलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द की अलग-अलग साधनिका में न जाकर, अथवा उसके शुद्धरूप का पृथक् पृथक् उपदेश न करके, पाणिनि ने सामान्य और विशेष नियमों को स्थिर करके सूत्र बनाए (न हि पाणिनिना शब्दः प्रोक्तः, किन्तर्हि, सूत्रम्, पस्पशाह्निक वा० १३)। व्याकरणशास्त्र को सूत्रों में ढालने के लिये 'व्याकरणं सूत्रयति', यह प्रयोग ही चल पड़ा (३।१।२६)।

उसके बाद कात्यायन ने अपने वार्तिक सूत्र-शैली में ही लिखे, एवं व्याकरण लिखने के लिये सूत्रों की परिपाटी लगभग दो सहस्र वर्ष बाद तक भी चलती रही, परंतु 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि को ही प्राप्त हुई।

सूत्रकार और शब्दकार, ये दोनों संज्ञाएँ पाणिनि के ही एक सूत्र 'न शब्द श्लोक कलह गाथा वैर चाटु सूत्र मन्त्र पदेषु' (३।२।२३) में साहित्यिक शैलियों का परिगणन करते हुए आई हैं। वैयाकरणों के लिये 'शब्दकार' और 'शाब्दिक' संज्ञाओं का भी प्राचीन काल में प्रयोग होता था। व्याकरण को पाणिनि ने भी 'शब्दसंज्ञा' कहा है (स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्द संज्ञा, १।१।६८; अभिनिसस्तनः शब्दसंज्ञायाम्, ८।३।६)। सूत्र ४।४।३४ में 'शब्दं करोति शाब्दिकः' पद भी पाणिनि ने सिद्ध किया है। पाणिनि के समय में वैयाकरण शब्द भी चल चुका था, जैसा कि 'वैयाकारणाख्यायां' (६।३।७) प्रयोग से ज्ञात होता है, लेकिन अधिकांश में व्याकरण उस समय शब्दशास्त्र ही कहलाता था। पीछे चलकर इसका प्रयोग कम और व्याकरण शब्द का अधिक हो गया।

पाणिनि के विषय में कात्यायन का दृष्टिकोण

कात्यायन पाणिनि के सबसे योग्य, प्रतिभाशाली और वैज्ञानिक पारखी एवं एक प्रकार से व्याख्याता हुए हैं। उनका व्याकरण-विषयक निजी ज्ञान उच्च कोटि का था। पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उन्होंने सूत्रों की पृष्ठभूमि का परिचय दिया एवं उस संबंध में होनेवाले अनेक विचार-विमर्शों की तुलनात्मक ढंग से समीक्षा की। उन्होंने सूत्रों पर नए विचारों की उद्भावना की, कालांतर में जहाँ नए प्रयोग उत्पन्न हो गए थे वहाँ पाणिनि-सूत्रों के साथ उन्हें मिलाने का सुझाव दिया और व्याकरण संबंधी सिद्धांतों के जो मत-मतांतर थे उनपर शास्त्रार्थ चलाया, जो कहीं कहीं ५६ वार्तिकों तक लंबा खिच गया है (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ, सूत्र १।२।६४)। कहीं उन्होंने पाणिनि के सूत्रों में पड़े हुए शब्दों का मंडन किया है, कहीं दूसरों से उठाई हुई शंकाओं का उत्तर दिया है, कहीं दूसरों की शंकाओं की निस्सारता दिखाकर नई दृष्टि से पाणिनि के सूत्रों के शंका-स्थलों का संकेत किया है, और कहीं अपनी-पराई सभी शंकाओं का निराकरण करके सूत्र की शुद्धता का मंडन किया है, एवं जहाँ उन्हें जँचा, वहाँ सूत्र अथवा उसके एक भाग की अनावश्यकता भी दिखाई है। उनके वार्तिकों की संख्या लग-

भग ४२६३ हैं, जो उनके अपरिमित पाणिनि-विषयक श्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार की बहुमुखी समीक्षा से पाणिनि का शास्त्र एकदम तप गया।

व्याकरणशास्त्र के इतिहास में वह घड़ी बड़े दुर्भाग्य की थी जब यह ऊल-जलूल कहानी गढ़ी गई कि पाणिनि और कात्यायन में लागडाँट थी और पाणिनि के यश से कुढ़कर उन्हें नीचा दिखाने के लिये कात्यायन ने वार्तिकों का घटाटोप खड़ा किया। पीछे यह बात इतनी घर कर गई कि शबरस्वामिन् जैसे महाविद्वान् की लेखनी से लिखा गया—'सद्वादित्वाच्च पाणिनेर्वचनं प्रमाणं, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य' (मीमांसा भाष्य, १०।८।१), अर्थात् ठीक कहनेवाले पाणिनि का वचन प्रमाण, बे-ठीक कहनेवाले कात्यायन का नहीं। आज भी शेखचिल्ली की इस कहानी को कहते-सुनते यह अनुभव नहीं किया जाता कि इसके द्वारा एक महान् वैयाकरण के प्रति अन्याय करते हुए हम अपने ही शास्त्र के पैरों में आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं। कहाँ कात्यायन का पाणिनि-विषयक गहरा परिश्रम एवं सूक्ष्म विचार, और कहाँ उसके प्रति यह उदासीनता! सच बात तो यह है कि कात्यायन ने वार्तिक-सूत्रों की रचना करके पाणिनीय शास्त्र को जीवनदान दिया। कात्यायन और पतंजलि का पाणिनि-विषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ एक जैसा है। किन्हीं-किन्हीं सूत्रों में तो पतंजलि त्रुटियों की उद्भावना करने में कात्यायन से आगे निकल गए हैं। शंकाओं की उद्भावना, उनपर यथार्थ विचार और उनका समाधान—यही व्याकरणशास्त्र के विचार की प्राचीनतम परिपाटी थी। इसी का अनुसरण कात्यायन और पतंजलि ने किया, एवं इसी शैली से दो सहस्र वर्षों तक संस्कृत के विद्वान् विचार करते रहे हैं।

कात्यायन के वार्तिक पतंजलि के महाभाष्य की कुंजी हैं। किसी सूत्र के वार्तिकों को अलग छाँटकर उनपर विचार करें तो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की एक स्पष्ट लड़ी सरल शब्दों में गुँथी हुई मिल जाती है। पतंजलि के भाष्य में दो प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं। जहाँ तक वार्तिकों का संबंध है, उन्होंने एक-एक शब्द अलग करके अर्थ समझाया है। इस सरल शैली का नाम चूर्णिका है। इसके अतिरिक्त जहाँ व्याकरण के सिद्धांतों का ऊहापोह-विषयक विचार चलता है, वहाँ की शैली दूसरे प्रकार की हो जाती है—भारी-भरकम, ओजस्वी और सिंहमुखी; जिस प्रकार हाथी सारे शरीर को घुमाकर पीछे देखता है उस प्रकार की नागावलोकन दृष्टि से वह विषय से आमने-सामने जूझती है। पहली चूर्णक है, दूसरी तंडक। भाष्य की

इन दो शैलियों के बीच में अंतर्यामी सूत्र की तरह विषय को पिरोनेवाले कात्यायन के वार्तिक हैं। भाष्य मुख्यतः कात्यायन के वार्तिकों पर आश्रित है।

इस प्रकार वार्तिकों का सर्वातिशायी महत्त्व प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में था। स्वयं कात्यायन वार्तिकों की रचना करने के बाद पाणिनि के प्रति अत्यंत श्रद्धावान् हो उठे और अपना अंतिम वार्तिक उन्होंने इस प्रकार के भक्ति-भरे शब्दों में समाप्त किया—'भगवतः पाणिनेः सिद्धम्।'

पतंजलि का दृष्टिकोण

पतंजलि का महाभाष्य पाणिनि-शास्त्र के इतिहास में सबसे बड़ी घटना हुई। अनेक जलधाराओं के वर्षण से जैसे बहिया आ जाय और उस जलौघ को एकत्र करके किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाय, उसी प्रकार व्याकरण के विशाल क्षेत्र पर जो विचार-मेघ बरसे थे उन सब जलों का संग्रह करके पतंजलि ने महाभाष्य के द्वारा उन्हें सदा के लिये व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की महानदी के साथ मिला दिया। पाणिनि और कात्यायन के शास्त्रों का सुचिंतित अध्ययन करते हुए पतंजलि के अपने पांडित्य और विलक्षण व्यक्तित्व की अमिट छाप महाभाष्य में लगी हुई है। जिस क्षेत्र को उन्होंने अपना बनाया था, जिसके वे एक प्रकार से चक्रवर्ती थे, उसी क्षेत्र में पाणिनि की महिमा और प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने भी कात्यायन की भाँति पाणिनि के लिये 'भगवान्' पद का प्रयोग किया। उन्होंने कात्यायन को भी एक बार इस विरुद से अलंकृत किया (भाष्य ३।२।३), और उन्हीं की भाँति महाभाष्य के अंत में पाणिनि को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की—

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। (भा० ८।४।६८)

पतंजलि ने पाणिनि को मांगलिक आचार्य (अर्थात् जिन्होंने अपने ग्रंथ का आरंभ मांगलिक शब्द और भावना से किया, जिससे उसकी परंपरा देश और काल में चिरजीवी हो, १।१।१,१।३।१) लिखा है। कहा है कि आदि में मंगल, मध्य में मंगल और अंत में मंगल करनेवाले शास्त्र लोकमंगल के साथ विस्तार को प्राप्त होते हैं। निस्संदेह 'वृद्धि' शब्द से प्रारंभ होनेवाला पाणिनि का ग्रंथ, जिसे पतंजलि ने महान् शास्त्रौघ अर्थात् शास्त्र का विस्तृत महार्णव (भा० १।३।१) कहा है, लोक में अपूर्व सफलता को प्राप्त हुआ और उसके द्वारा राष्ट्र की भाषा, विचारशैली एवं संस्कृति का महान् कल्याण हुआ।

पतंजलि के समय में पाणिनि-व्याकरण का अध्ययन आरंभिक कक्षाओं तक फैल गया था। उन्होंने लिखा है—

आकुमारं यशः पाणिनेः (भा० १।४।८६) एषास्य यशसो मर्यादा।

काशिका के अनुसार पाणिनि का व्याकरण जब लोक में फैला तो चारों ओर उसका प्रमाण मानते हुए 'इतिपाणिनि' 'तत्पाणिनि' ध्वनि सुनाई पड़ने लगी (का० २।१।६)।

पतंजलि ने स्पष्ट ही पाणिनि को 'प्रमाणभूत आचार्य' की सम्मानित उपाधि दी है (भा० १।१।३९)। किस प्रकार अपने गंभीर उत्तरदायित्व का अनुभव करते हुए पाणिनि शास्त्र-रचना में प्रवृत्त हुए, इसका चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।

अर्थात् प्रमाणकोटि में पहुँचे हुए आचार्य ने कुशा से हाथ पवित्र करके पूर्वाभिमुख बैठकर मस्तिष्क के बड़े प्रयत्न से सूत्रों की रचना की। उसमें एक अक्षर के भी निष्प्रयोजन होने की गुंजाइश नहीं, सारे सूत्र की तो बात ही क्या (भा० १।१।१, वा० ७)।

इस प्रकार की रगड़ करके जो निखरा हुआ शास्त्र रचा गया उसके प्रति विद्वानों में पूज्य बुद्धि होना स्वाभाविक था। इससे ही उस रोचक परिभाषा का जन्म हुआ जिसमें कहा गया है कि सूत्र में आधी मात्रा कम हो जाने से वैयाकरण को इतनी प्रसन्नता होती है जितनी पुत्र-जन्म से—अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा १२२)। लाघव पर इतना ध्यान देते हुए भी पहिले के वैयाकरण सूत्रों को प्रसन्न और सरल रखते थे। पाणिनि के सूत्रों की प्रसन्न भाषा कहीं कहीं बहुत हृदयग्राहिणी हो गई है। जैसे सोममर्हति यः, (४।४।१३७, मनु के 'सोमं पातुमर्हति', ११।८ से तुलना कीजिए); धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (५।२।१); क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (५।२।९२); साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१, दो स्वरों के छोटे से 'साक्षी' शब्द की सिद्धि के लिये आठ स्वरों वाला बड़ा सूत्र आचार्य ने बनाया है)। किन्हीं किन्हीं सूत्रों में पाणिनि के शब्दों का प्रवाह असाधारण रूप से बह निकला है। जैसे 'इन्द्रियम् इन्द्रलिंगम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा'

(५।२।६३)। केवल 'इन्द्रियं' इतना सूत्र रखकर भी 'इन्द्रिय' शब्द की सिद्धि हो सकती थी, परंतु पाणिनि से पूर्व के ब्राह्मण-ग्रंथों और निरुक्तादि ग्रंथों में 'इन्द्र' और इन्द्रिय' के पारस्परिक अर्थों के संबंध को लेकर बहुत कुछ ऊहापोह हो चुका था, उसमें से पाँच उदाहरण उन्होंने सूत्र में रख लिए और शेष के लिये 'इति वा' कहकर गुंजाइश कर दी। इस सूत्र में इंद्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा का इंद्रियों के साथ जो महत्त्वपूर्ण संबंध है, उपनिषद् और सूत्रकाल के दार्शनिक क्षेत्रों में उसकी चर्चा थी। उसके प्रति मान्य बुद्धि रखकर पाणिनि ने शब्दों के बढ़ने की परवाह न करते हुए भिन्न-भिन्न मतों को अपने व्याकरण में भी स्थान देना उपयुक्त समझा। यह सूचित करता है कि आचार्य का हृदय सार-वस्तु को लेने में कितना उदार था और उनकी शैली कितनी हृदयग्राहिणी थी। पंतजलि ने आचार्य की इस सरल प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उन्हें 'सुहृद्भूत' कहा है (तदाचार्यः सुहृद्भूत्वा अन्वाचष्टे, भा० १।२।३२)। पाणिनि की सूत्रशैली को क्लिष्ट कहना उसके प्रति अपने हृदय के सरस भावों को कुंठित कर लेना है।

पाणिनि के लिये पतंजलि ने 'अनल्पमति आचार्य' (१।४।५१) विशेषण का प्रयोग किया है। पाणिनि के मस्तिष्क की विशालता इससे प्रकट है कि वे शब्दों की लगभग अपरिमित सामग्री को संचित, व्यवस्थित और सूत्र-संनिविष्ट कर सके। उनकी तर्कबुद्धि और निश्चित शैली का विद्वानों ने लोहा माना है; शताब्दियों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी विद्वानों को उसने प्रभावित किया है।

पतंजलि ने एक स्थान पर पाणिनि को 'वृत्तज्ञ आचार्य' (भा० १।३।३।६, वा० १५) कहा है। अर्थात् शब्दों का अर्थों के साथ जो संबंध है, अर्थों को प्रकट करने के लिये जो प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं, तथा शब्दों के रूपों में जो परिवर्तन होते हैं या उनके अनुसार प्रत्ययों में गुण-वृद्धि करानेवाले जैसे जैसे अनुबंध रखे जाते हैं—इन तीनों बातों को पाणिनि पूरी तरह जानते थे। शब्द अपने सीधे-सादे रूप में जो अर्थ रखता है उससे अधिक किसी विशेष अर्थ को जब हम उससे प्रकट करना चाहते हैं, तब उसमें प्रत्यय जोड़ते हैं। प्रत्यय शब्द के साथ मिलकर नया अर्थ देने लगता है। उदाहरण के लिये 'वर्ष' का अपना अर्थ है 'साल'। 'साल भर में होनेवाला'—इस विशेष अर्थ के लिये नया शब्द बनाया जाता है 'वार्षिक'। 'वर्ष' शब्द में 'इक्' प्रत्यय जुड़कर 'वर्ष में होनेवाला', इस नए अर्थ को प्रकट करने का सामर्थ्य उत्पन्न करता है। सब भाषाओं का लगभग यही नियम है।

प्रत्यय द्वारा विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो शब्द की क्षमता है उसे व्याकरण में 'वृत्ति' कहा गया है (परार्थाभिधान वृत्तिः)। प्रत्येक भाषा में मनुष्यों के व्यवहारों के अनुसार हजारों तरह के अर्थ शब्दों से प्रकट होते हैं। संस्कृत में भी ऐसा ही था, और आज हिंदी में भी यही नियम है। जैसे, 'चवन्नी' का सीधा अर्थ चार आने मूल्य का एक विशेष सिक्का है। लेकिन जब हम 'चवन्नी चरितावली' कहते हैं तब चवन्नी शब्द में विशेष अर्थ भर जाता है। 'चवन्नी मूल्य में मिलने वाली'—यह विशेष अर्थ मूल चवन्नी शब्द में जोड़ते हैं। व्याकरण-शास्त्र चाहता है कि इस विशेष अर्थ के लिये एक प्रत्यय लगाना चाहिए, फिर चाहे वह प्रत्यय शब्द में दिखाई पड़े या भाषा के मुहावरे के साथ उसका लोप हो गया हो। 'कश्मीरी दुशाला' प्रयोग में 'कश्मीरी' शब्द का 'ई' प्रत्यय कश्मीर में काढ़ा जाने-वाला, कश्मीर से आनेवाला, इन कई अर्थों को प्रकट करता है। कश्मीर के निवासी (कश्मीरी), कश्मीर में होनेवाला (कश्मीरी चावल), कश्मीर में बोली जानेवाली (कश्मीरी बोली) आदि और भी इस प्रकार के कई अर्थ 'ई' प्रत्यय से प्रकट होते हैं। यह लोक-जीवन और भाषा का सत्य है। व्याकरण का विद्यार्थी अपनी ओर से न प्रत्यय बनाता है और न अर्थ, वह तो उनका अलग अलग विश्लेषण करके उन्हें समझने का प्रयत्न करता है, और जो लोक में चालू शब्द हैं उनके अनुसार प्रत्ययों को अलग करके देखता है।

पाणिनि ने अपने समय की भाषा के लिये भी यही काम किया। उन्होंने शब्द और अर्थ के संबंधों और रूपों को परखा, छाना और अलग किया। लोक में जितनी भी प्रकार की शब्दों के द्वारा अर्थविशेष प्रकट करने की वृत्तियाँ थीं उनकी सूची बनाकर अष्टाध्यायी में उन्हें स्थान दिया। इसके लिये प्रायः मनुष्य-जीवन के संपूर्ण व्यवहारों की जाँच-पड़ताल उन्हें करनी पड़ी होगी। व्याकरण के क्षेत्र में यही पाणिनि ने बड़ा साका किया। न उनसे पहिले और न उनसे पीछे, भाषा में इस प्रकार शब्दों और अर्थों के पार-स्परिक संबंधों की छानबीन की गई थी। उनकी पैनी आँख से जीवन का कोई भी क्षेत्र बचा न रहा। अष्टाध्यायी के चौथे और पाँचवें अध्यायों में तद्धित का जो महा-प्रकरण है वह अर्थविशेषों को कहनेवाली वृत्तियों का अखूट भंडार है। उदाहरण के लिये, पढ़ना-पढ़ाना, ग्रंथ लिखना, कंठ करना, दोहराना, पाठ सुनाने में एक-दो-चार भूलें करना, ग्रंथ घोखते समय कड़े चबूतरे पर सोना, चुप रहना, गुरुकुल-विशेष का विद्यार्थी होने के कारण हेंकड़ी मारना या दूसरों पर अधिकार जताना, विद्यालय में

भरती होना, समान आचार्य से पढ़ना, छोटे छात्रों का डंडा लेकर चलना, बड़े छात्रों का एक साथ मिलकर पारायण करना, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा आदि छः ऋतुओं के अनुसार पठन-पाठन की व्यवस्था करना, जिस ऋतु में जो विषय पढ़ा जाय उसके अनुसार उसका नाम पड़ना, 'चरण' नामक जो वैदिक शाखाओं के विद्यालय थे उनका सदस्य होना, उनमें रचे गई ग्रंथों का नाम रखना, श्लोक-गाथा-सूत्र-मंत्र-पद आदि भिन्न-भिन्न साहित्यिक शैलियों के अनुयायी साहित्यसेवियों के नाम रखना, मूल ग्रंथ और उनके व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि के रचनेवाले ग्रंथकर्ताओं अथवा उनके पढ़नेवाले छात्रों का नाम रखना, छुट्टियाँ मनाना, विद्यालय के नियमों का उल्लंघन करना, अवधि से पहिले संस्था से हट जाना, विशेष ग्रंथ या विषयों के अध्ययन के लिये एक पाख, महीना, छः मास, वर्ष, दो वर्ष या दस-बीस वर्ष के लिये ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर विद्यालय में भरती होना, विषय पढ़कर दूसरे विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करना, उसके सिद्धांतों की व्याख्या करना, दूसरे का मत काटकर अपना मत स्थापित करना—इस प्रकार केवल पठन-पाठन के क्षेत्र में ही भिन्न-भिन्न अर्थ थे, जिनपर पाणिनि का ध्यान गया (तत्संबंधित सूत्रों का विवेचन यथास्थान किया जायगा)। उन्होंने लोक-जीवन में भरी हुई इस सामग्री का उमँगकर स्वागत किया। फलस्वरूप आज अष्टाध्यायी के पृष्ठों में जीवन की ऐसी सरसता है जैसी संस्कृत भाषा के किसी अन्य ग्रंथ में नहीं पाई जाती। यहाँ पदे-पदे शब्द पुराकालीन संस्थाओं का रूप भरे बैठे हैं। पाणिनिशास्त्र निस्संदेह तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का विश्वकोष ही बन गया है। भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, विद्या-संबंधी जीवन, राजनैतिक जीवन, धार्मिक और दार्शनिक जीवन—सबके विषय में राई-राई करके पाणिनि ने सामग्री की महा-हिमवंत-शृंखला ही खड़ी कर दी है। उसी का नाम अष्टाध्यायी है।

व्यास नदी के उत्तरी किनारे पर बाँगर में जो कुएँ थे वे पक्के होते थे। उनके नामों में स्वर का उच्चारण एक विशेष ढंग का था। उसके बाएँ किनारे के खादर के कछार में पानी की बढ़िया के कारण पक्के कुएँ न बन सकते थे, इसलिये हरसाल कच्चे कुएँ खोदे जाते थे और इन कच्चे कुओं के नाम भी टिकाऊ न होते थे। यह विशेषता उन नामों के स्वर या बोली में अक्षरों पर गौरव देकर प्रकट की जाती थी। यह बारीक भेद भी आचार्य की दृष्टि से बचा न रहा और 'उदक्च विपाशः' (४।२।७४) सूत्र में उन्होंने इसे प्रकट किया। उनकी इस महीन छानबीन से प्रभावित होकर प्राचीन आचार्यों ने कहा—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। (का० ४।२।७४)

'सूत्रकार की निगाह बहुत ही पैनी थी।'

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने उनके जन्मस्थान शलातुर में जाकर उनका जो जीवनवृत्त संगृहीत किया उसमें कहा है कि ऋषि पाणिनि आरंभ से ही मनुष्य और जीवन की वस्तुओं के संबंध में विस्तृत जानकारी रखते थे। पाणिनि ने स्वसंचित सामग्री के आधार पर गोत्र, चरण, शाखा, जनपद, नगर, ग्राम आदि की बहुत अच्छी सूचियाँ अपने गणपाठ में दी हैं। गणपाठ की सूझ उनकी अपनी थी। व्हिटनी और बर्नेल, पाणिनि-शास्त्र के इन दोनों विद्वानों ने स्वीकार किया है कि पाणिनि से पूर्व गणपाठ की प्रथा न थी। पतंजलि ने स्पष्ट कहा है कि आचार्य ने पहिले गणपाठ बनाया, पीछे सूत्रपाठ, (सः पूर्वः पाठोऽयं पुनः पाठः, भा० १।१।३४)।

शास्त्रकार का नाम

अष्टाध्यायी के रचयिता का नाम पाणिनि है। कात्यायन और पतंजलि ने यही नाम प्रयुक्त किया है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवर कांड के अनुसार पाणिनि वत्स भृगुओं के अंतर्गत एक अवांतर गोत्र का नाम था जिसके पाँच प्रवर थे—भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य। पाणिनि ने स्वयं भी अष्टाध्यायी के एक सूत्र में (६।४।१६५) 'पणिन् के अपत्य' अर्थ में 'पाणिन' शब्द सिद्ध किया है। कैय्यट के मत से 'पाणिन' के युवा अपत्य की संज्ञा 'पाणिनि' होगी (प्रदीप, १।१।७३ वा० ६, पणिनोऽपत्यमिति अण् पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं युवेति इञ् पाणिनिः)।

त्रिकांडशेष और केशव कोषों के अनुसार आहिक, शालंकि, दाक्षीपुत्र और शालातुरीय नाम भी पाणिनि के लिये परंपरा से चले आते थे। आहिक और शालंकि नामों के समर्थन या व्याख्या में विशेष प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं है। महाभाष्य में शालंकी के युवा छात्रों का उल्लेख है, जो शालंक कहलाते थे। किंतु इतने से पाणिनि के साथ उनका संबंध ज्ञात नहीं होता।

वेबर की सम्मति में शालंकियों का संबंध वाहीक देश से था (संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१८)। वाहीक उदीच्य के क्षेत्र में गिना जाता था और पाणिनि भी उदीच्य देश के ही थे। श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि को निश्चित

रूप से गंधार देश का कहा है। पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर गंधार में ही थी, जिसके कारण पाणिनि शालातुरीय कहलाए।

पतंजलि ने एक कारिका में पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा है (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः, भा० १।१।२०, वा० ५)। दक्षों का संबंध निश्चित रूप से पश्चिमोत्तर भारत या उदीच्य देश से था। काशिका में प्राप्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि दक्ष लोगों का अपना एक संघ-राज्य था, जिसकी अपनी बस्ती और अपने ही अंक और लक्षण (राज्य-चिह्न) भी थे, जैसा कि उस समय के संघों की प्रथा थी (दाक्षः संघः, दाक्षः अंकः, दाक्षं लक्षणं, दाक्षो घोषः, ४।३।१२७)।[1] अन्यत्र दाक्षिकूल और दाक्षिकर्षू इन दो गाँवों के नाम काशिका में आए हैं (६।२।१२६)। दाक्षिकर्षू अवश्य ही प्राचीन नाम था, क्योंकि पतंजलि ने भी दाक्षिकर्षू नामक गाँव का उल्लेख किया है, जहाँ का रहनेवाला दाक्षिकर्षुक कहलाता था (भा० ४।२।१०४ वा० ७)। कर्षू श्रौतसूत्रों में गढैया के अर्थ में आया है। पाणिनि के एक सूत्र में उशीनर देश के गाँवों (कंथा) के नाम हैं (संज्ञायां कंथोशीनरेषु, २।४।२०)। 'दाक्षिकंथा' इसी सूत्र का प्रत्युदाहरण है। इससे ज्ञात हुआ कि यह स्थान उशीनर देश से बाहर था। उशीनर की सीमा में होता तो यह स्थान 'दाक्षिककंथं' कहलाता। स्वयं पाणिनि उशीनर को वाहीक देश का एक अंश कहते हैं (४।२।११७-११८)। दक्षों का संबंध प्राच्य देश से भी न था, ऐसा काशिका ने लिखा है (प्राच्यभरतेष्विति किं, दाक्षाः, ४।२।११३)। पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए देशों का क्रम इस प्रकार था—प्राच्य, भरत (कुरुक्षेत्र का प्रदेश, जिसे प्राच्य भरत भी कहते थे), उशीनर, मद्र, उदीच्य। (गोपथ-ब्राह्मण में मद्रों के बाद उदीच्यों का उल्लेख है, गोपथ, १।२।१०)। उशीनर और मद्र इन दोनों की संयुक्त संज्ञा वाहीक थी। निष्कर्ष यह कि दाक्षि लोग प्राच्य देश से, भरत जनपद से और उशीनर से बाहर और भी पश्चिम की ओर बसे थे। पंजाब में शेरकोट का इलाका प्राचीन उशीनर था। चनाब और जेहलम से उत्तर-पश्चिम गंधार कहलाता था। वहीं कहीं दाक्षियों का स्थान होना चाहिए।

१—इसके अतिरिक्त और भी दाक्षिग्रामः (६।२।८४, दाक्ष्यादयो वसन्ति यस्मिन्ग्रामे सः), दाक्षिकटः, दाक्षिपल्वलः, दाक्षिह्रदः, दाक्षि बदरी, दाक्षिपिंगलः, दाक्षिपिशंगः, दाक्षिशालः, दाक्षिरक्षः, दाक्षिशिल्पी, दाक्ष्यश्वत्थः, दाक्षिशाल्मलिः, दाक्षिपुंसा, दाक्षिकूटः (६।२।८५)।

शलातुर

शलातुर से जिसके पुरखों का निकास हो वह शालातुरीय कहलाता था। ये दोनों शब्द पाणिनि के सूत्र में आए हैं (४।३।९४)। अतएव इस स्थान की प्राचीनता निश्चित है। गणरत्न-महोदधि के लेखक वर्धमान और भामह पाणिनि को शालातुरीय लिखते हैं। वलभी के एक शिलालेख में पाणिनि-शास्त्र को शालातुरीय तंत्र कहा गया है (शीलादित्य सप्तम का लेख, फ्लीट, गुप्त शिलालेख, पृष्ठ १७५)।

चीनी यात्री य्वान् चुआङ् सप्तम शताब्दी के आरंभ में मध्य-एशिया के स्थल-मार्ग से भारत आते हुए शलातुर में ठहरा था। उसने लिखा है कि उद्भांड से लगभग बीस लि (लगभग ४ मील) पर शलातुर स्थान था। यह वही जगह है जहाँ ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ, जिन्होंने शब्दविद्या की रचना की थी (बील, सियुकि १।११४)। शलातुर की पहचान लहुर नामक गाँव[२] के साथ की गई है, जहाँ बहुत से पुराने टीले हैं। उनमें खुदाई भी की गई है और वहाँ से कुछ पुरानी मूर्तियाँ भी मिली हैं (कनिंघम, पुरातत्त्व रिपोर्ट, २।९५; प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ६६-६७)।

पाणिनि के जीवनवृत्त से संबंधित अनुश्रुति

सोमदेव के कथासरित्सागर (ग्यारहवीं शती) और क्षेमेंद्र की बृहत्कथा-मंजरी (ग्यारहवीं शती) में, जो गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आश्रित है, पाणिनि के संबंध में इतिवृत्त कहानी के रूप में मिलता है। इसके अनुसार पाणिनि आचार्य वर्ष के मंदबुद्धि शिष्य थे। फिसड्डीपन से दुःखित होकर पाणिनि तप करने

२—काबुल और सिंधु के संगम पर ओहिंद (प्राचीन उद्भांडपुर) है, वहाँ से ठीक ४ मील उत्तर-पश्चिम की ओर लहुर गाँव है। मरदान से ओहिंद जानेवाली बसें लहुर होकर जाती हैं। इस समय नार्थ-वेस्टर्न रेलवे जहाँ अटक के पुल से सिंधु पार जाती है वहाँ जहाँगीरा स्टेशन पर उतरने से १२ मील चलकर लहुर पहुँच सकते हैं। य्वान् चुआङ् ने लिखा है कि शलातुर के लोग, जो पाणिनि-शास्त्र के अध्येता हैं, उनके उदात्त गुणों की प्रशंसा करते हैं और एक मूर्ति जो उनकी स्मृति में बनाई गई थी, अभी तक विद्यमान है (सियुकि, १।११६)। शलातुर के पास सिंधु नदी के दाहिने किनारे पर नाव लगती थी। सिंधु के पूर्वी किनारे पर शकर-दर्रा (शकद्वार) नामक गाँव है, वहाँ से प्राप्त एक खरोष्ठी लेख में नावों के इस घाट को शलातुर के नाम पर शल-नो-क्रम (शलानौक्रम) कहा गया है।

हिमालय पर चले गए और वहाँ शिव को प्रसन्न करके नया व्याकरण प्राप्त किया (प्राप्तं व्याकरणं नवम्)। कात्यायन छात्रावस्था में और उसके बाद भी पाणिनि के प्रतिद्वंद्वी थे। पाणिनि के व्याकरण ने प्राचीन ऐंद्र व्याकरण की जगह ले ली। नंदवंश के सम्राट् से पाणिनि की मित्रता हो गई और सम्राट् ने उनके शास्त्र को सम्मानित किया।

मंजुश्री-मूलकल्प

अभी हाल में मिले बौद्ध संस्कृत साहित्य के इस संग्रह-ग्रंथ (लगभग आठवीं शती) में नंद और पाणिनि के विषय में लिखा है—

'पुष्पपुर में शूरसेन के अनंतर नंद राजा होगा। वहाँ मगध की राजधानी में अनेक विचारशील विद्वान् (तार्किक) राजा की सभा में होंगे। राजा उनका धन से सम्मान करेगा। बौद्ध ब्राह्मण वररुचि उसका मंत्री होगा। राजा का परम मित्र पाणिनि नामक एक ब्राह्मण होगा।'

राजशेखर ने काव्यमीमांसा (नवीं शती) में इस अनुश्रुति की अनुपरंपरा में ही यह उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र में शास्त्रकार-परीक्षा हुआ करती थी।[3] उस परीक्षा में वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल और व्याडि ने उत्तीर्ण होकर यश प्राप्त किया। ये सब आचार्य शास्त्रों के प्रणेता हुए हैं। राजशेखर ने संभवतः इन नामों का परिगणन तिथिक्रम के अनुसार किया है। उपवर्ष मीमांसा और वेदांत-सूत्रों के भाष्यकार थे (शांकर भाष्य ३।३।५३, जेकोबी, अमरीकी प्राच्य-परिषद् पत्रिका, १९१२, पृष्ठ १५)। शंकराचार्य ने शब्द के विषय में भगवान् उपवर्ष के मत का प्रमाण दिया है (शारीरक भाष्य ३।३।५३, १।३।२०)। उपवर्ष के भ्राता आचार्य वर्ष पाणिनि के गुरु कहे गए हैं। पाणिनि प्रसिद्ध शास्त्रकार हैं ही, उन्होंने अपना नया व्याकरण पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के सामने प्रस्तुत किया होगा। छन्दोविचिति (सूत्र ४।३।७३, गण पाठ) के कर्ता पिंगल को षड्गुरु-शिष्य ने वेदार्थ-दीपिका टीका में पाणिनि का अनुज कहा है। व्याडि भी पाणिनि के समकालीन दक्ष गोत्र में ही उत्पन्न उनके संबंधी कहे जाते हैं। व्याडि ने सूत्र-शैली में व्याकरणशास्त्र पर अपना संग्रह नामक ग्रंथ रचा था, जो पतंजलि के सामने था। पतंजलि ने इस ग्रंथ की शैली और मार्मिक विवेचन की

३—श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः; वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः ॥

प्रशंसा की है (शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः, भा० २।३।६६)। संग्रह-सूत्रों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी पतंजलि के समय 'सांग्रह सूत्रिक' कहलाते थे (भा० ४।२।६०)। उक्त सूची में कात्यायन और पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के समय में (दूसरी शताब्दी ई० पू०) हुए। इस प्रकार लगभग तीन शताब्दियों का शास्त्रकार परीक्षा संबंधी इतिहास राजशेखर में पाया जाता है।

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् का वर्णन

पाणिनि के जीवन के संबंध में सामग्री थोड़ी है, फिर भी चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् (६२६,६४५ ई०) ने शलातुर में स्वयं जाकर जो सूचनाएँ एकत्रित कीं उन्हें विश्वसनीय माना जा सकता है, विशेषतः जहाँ सोमदेव, राजशेखर, मंजुश्री-मूलकल्प और चीनी वर्णन एकमत हों। श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के व्यक्तित्व पर जो प्रकाश डाला है उसका समर्थन पतंजलि के महाभाष्य से भी होता है। शब्दविद्या के निर्माता पाणिनि का जन्म शलातुर में हुआ, यह बताते हुए श्यूआन् चुआङ् लिखता है—

अति प्राचीन समय में साहित्य का बहुत विस्तार था। कालक्रम से संसार का ह्रास हुआ और एक प्रकार से सब शून्य हो गया। तब देवों ने ज्ञान की रक्षा के लिये पृथ्वी पर अवतार लिया। इस प्रकार प्राचीन व्याकरण और साहित्य का जन्म हुआ। इसके बाद भाषा (व्याकरण) का विस्तार होने लगा और पहली सीमाओं से बहुत बढ़ गया। ब्रह्मदेव और देवेंद्र शक्र ने आवश्यकता के अनुसार शब्दों के रूप स्थिर किए (नियम बनाए)। ऋषियों ने अपने-अपने मत के अनुसार अलग-अलग व्याकरण लिखे। मनुष्य इनका अध्ययन करते रहे, किंतु जो मंदबुद्धि थे वे इनसे काम चलाने में असमर्थ थे। फिर मनुष्यों की आयु भी घटकर केवल सौ वर्ष रह गई थी। ऐसे समय में ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ। जन्म से ही सब विषयों में उनकी जानकारी बढ़ी चढ़ी थी। समय की मंदता और अव्यवस्था को देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमों में सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करें और अशुद्ध प्रयोगों को ठीक करें। उन्होंने शुद्ध सामग्री के संग्रह के लिये यात्रा की। उस समय ईश्वरदेव से उनकी भेंट हुई जिनसे उन्होंने अपनी योजना बताई। ईश्वरदेव ने कहा—यह अद्भुत है, मैं इसमें तुम्हारी सहायता करूँगा। ऋषि पाणिनि उनसे उपदेश प्राप्त करके एकांत स्थान में चले गए। वहाँ उन्होंने निरंतर परिश्रम किया और अपने मन की सारी शक्ति लगाई। इस प्रकार अनेक शब्दों का संग्रह करके उन्होंने व्याकरण का एक ग्रंथ बनाया जो एक

सहस्र श्लोक परिमाण का था। आरंभ से लेकर उस समय तक अक्षरों और शब्दों के विषय में जितना ज्ञान था उसमें से कुछ भी न छोड़ते हुए संपूर्ण सामग्री उस ग्रंथ में सन्निविष्ट कर दी गई। समाप्त करने के बाद उन्होंने इस ग्रंथ को राजा के पास भेजा जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्य भर में इसका प्रचार किया जाय और शिक्षा दी जाय। और यह भी कहा कि जो आदि से अंत तक इसे कंठ करेगा उसे एक सहस्र सुवर्णमुद्रा का पुरस्कार मिलेगा। तब से इस ग्रंथ को आचार्यों ने स्वीकार किया और अविकल रूप में सबके हित के लिये इसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखते रहे। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान् ब्राह्मण व्याकरण-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं और उनके पांडित्य की बड़ी प्रशंसा है। इन विषयों का उनका ज्ञान बढ़ा-चढ़ा है और उनकी प्रतिभा बहुत अच्छी है (सियुकि, पृष्ठ ११४-११५)।

हम देखेंगे कि किस प्रकार वैदिक साहित्य के विस्तार, व्याकरण के मूल आरंभ, ऐंद्र व्याकरण की उत्पत्ति, भिन्न-भिन्न व्याकरणों के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था, उस संकट-काल में पाणिनि के नए व्याकरण का प्रादुर्भाव, तथा पाणिनि की योग्यता एवं ग्रंथ-निर्माण-विधि के विषय में श्यूआन् चुआङ् ने आठ सौ वर्षों का अंतर होने पर भी लगभग उन्हीं बातों का उल्लेख किया है जिनका संकेत पतंजलि के महाभाष्य में पाया जाता है।

(१) प्राचीन शास्त्रों की उत्पत्ति—श्यूआन् चुआङ् के इस वर्णन में कुछ कल्पना का अंश मिला है। भारतीय परंपरा में प्रायः शास्त्रों की उत्पत्ति में दैवी प्रेरणा स्वीकार की गई है। पतंजलि ने भी लिखा है कि बृहस्पति ने दिव्य वर्ष-सहस्र काल तक अपने शिष्य इंद्र के लिये एक-एक शब्द का शुद्ध रूप बताते हुए शब्द-पारायण का व्याख्यान किया (बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, भा० पस्पशाह्निक)।

(२) साहित्य का विस्तार—इस विषय में श्यूआन् चुआङ् का कथन पतंजलि के इस वर्णन से मिलता है—'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्यु शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यक-मित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः (भाष्य, पस्पशाह्निक)। पृथ्वी के सात द्वीपों और तीन लोकों में शब्द का विस्तार है, चार वेद, उनके छः अंग और उप-निषद्, भिन्न-भिन्न शाखाएँ, १०० यजुर्वेद की शाखाएँ, १००० सामवेद की

शाखाएँ, २१ शाखाओंवाला ऋग्वेद, ६ शाखाओं वाला अथर्ववेद, वाकोवाक्य, (व्याकरण), इतिहास, पुराण, वैद्यक—इतना बड़ा शब्द का प्रयोग-क्षेत्र है। साहित्य-विस्तार का यह चित्र पाणिनि से पहिले ही अस्तित्व में आ चुका था। उस समय संस्कृत साहित्य का जितना अधिक विस्तार हो चुका था उसका परिचय अष्टाध्यायी से भी प्राप्त होता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

(३) ऐंद्र व्याकरण—श्यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि ब्रह्मदेव और देवेंद्र शक्र ने व्याकरण संबंधी नियम स्थिर किए थे। यह पाणिनिशास्त्र से पूर्व की बात है। संस्कृत साहित्य में भी ऐंद्र व्याकरण की अनुश्रुति पाई जाती है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार देवताओं ने इंद्र से प्रार्थना की 'वाचं व्याकुरु' (वाक् का व्याकरण करो)। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, पतंजलि ने भी बृहस्पति और इंद्र के गुरु-शिष्य रूप में एक-एक पद का उच्चारण करते हुए शब्दों के पारायण की अनुश्रुति का उल्लेख किया है।

सामवेद के ऋक्तंत्र नामक प्रातिशाख्य ग्रंथ में लिखा है कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इंद्र को, इंद्र ने भारद्वाज को व्याकरण की शिक्षा दी, और भारद्वाज से वह व्याकरण अन्य ऋषियों को प्राप्त हुआ।[४]

इस परंपरा में प्रजापति रूप में ब्रह्मा सर्व विद्याओं के आदिस्रोत हैं। इंद्र दैवी प्रतीक है। बृहस्पति का व्याकरण मानवरूप में भारद्वाज ऋषि के द्वारा प्रचारित हुआ। पाणिनि ने आचार्य भारद्वाज के मत का उल्लेख किया है (७।२।६३)। पतंजलि ने कई स्थलों पर भारद्वाजीय (भारद्वाज व्याकरण से संबंधित) वार्तिकों का उल्लेख किया है (भा० ३।१।३८; ३।१।८९)।

ऋक्प्रातिशाख्य में भी, जो पाणिनि से पूर्व काल का माना जाता है, भारद्वाज के मत का उल्लेख है, जिसका संबंध ऐंद्र व्याकरण से ही ज्ञात होता है। कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के अनुसार ऐंद्र व्याकरण के स्थान में पाणिनि-व्याकरण की जड़ जमी। ऐंद्र व्याकरण की अनेक पारिभाषिक संज्ञाएँ पाणिनि-

४—इदमक्षरं छंदसां वर्णशः समनुक्रांतम्। यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिंद्रायेंद्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। न भुक्त्वा, न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिरिति ब्रह्मराशिरिति च।

(ऋक्तंत्र १।४, डा० सूर्यकांत का संस्करण)

व्याकरण में और कात्यायन, पतंजलि आदि के ग्रंथों में अपना ली गईं, जैसा कि ऐंद्र व्याकरण के इतिहास में बर्नेल ने सिद्ध किया है।

(४) **पाणिनि के पूर्व के अन्य आचार्य**—श्यूआन् चुआङ् ने ठीक ही लिखा है कि पाणिनि से पहिले भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले ऋषियों ने व्याकरण बनाए। उपलब्ध प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी में लगभग ६५ आचार्यों के नाम आए हैं।[५] इनके द्वारा उस समय व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त—इन शास्त्रों का अत्यधिक विस्तार हुआ। पाणिनि के आविर्भाव पर विचार करते हुए यह पृष्ठभूमि ध्यान में रखनी चाहिए। पाणिनि का व्याकरण इन सब प्रयत्नों के ऊपर सिरमौर हुआ।

५—[संकेत—ऋ० = ऋक् प्रातिशाख्य। य० = यजुः प्रातिशाख्य। तै०=तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। च० = चतुरध्यायिका नामक अथर्व प्रातिशाख्य। नि० = निरुक्त। पा० = पाणिनि।]

आग्निवेश्य (तै०), आग्निवेश्यायन (तै०) आग्रायण (नि०), आत्रेय (तै०), आन्यतरेय (ऋ० च०), आपिशलि (पा०), आह्वरकाः (तै०), उख्य (तै०), उत्तमोत्तरीयाः (तै०), उदीच्याः (पा०), औदुम्बरायण (नि०), औदव्रजि (ऋक्तंत्र साम प्रातिशाख्य), औपमन्यव (नि०), औपशिवि (य०), और्णनाभ (नि०), कांडमायन (तै०), काण्व (य०), कात्थक्य (नि०), काश्यप (य०, पा०), कौण्डिन्य (तै०), कौत्स (नि०), कौहली पुत्र (तै०), क्रौष्टुकि (नि०), गार्ग्य (ऋ०, य०, नि०, पा०), गालव (नि०, पा०), गौतम (तै०), चर्मशिरस् (नि०), चाक्रवर्मण (पा०), जातुकर्ण्य (य०), तैटीकि (नि०), तैत्तिरीयकाः (तै०), दाल्भ्य (य०), नैगि (ऋक्तंत्र), पंचालाः (ऋ०), पौष्करसादि (पा०, तै०), प्राच्याः (ऋ०, पा०), प्लाक्षि (तै०), प्लाक्षायण (तै०), बाभ्रव्य (क्रमकृत्, ऋ०), भारद्वाज (तै०, पा०), मांडूकेय (ऋ०) माशंकीय (तै०), मीमांसकाः (तै०), यास्क (ऋ०), वाडभीकार (तै०), वात्स (तै०), वात्स्य (च०), वार्ष्यायणि (नि०), वाल्मीकि (तै०) वेदमित्र (ऋ०), व्याडि (ऋ०), शतबलाक्ष मौद्गल्य (नि०), शाकटायन (ऋ०, य०, च०, नि०, पा०), शाकपूणि (नि०), शाकलाः (ऋ०), शाकल्य (ऋ०, य०, पा०), शाकल्य पितृ (स्थविर) (ऋ०), शांखायन (तै०), शैत्यायन (तै०), शौनक (ऋ०, य०, पा०), सांकृत्य (तै०), सेनक (पा०), स्थौलष्ठीवि (नि०), स्फोटायन (पा०), हारीत (तै०),

(मैक्समूलर कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १४२)

(५) **शब्दविद्या की तत्कालीन व्यवस्था**—इस विषय में श्यूआन् चुआङ् ने जो लिखा है उसकी पुष्टि भाष्य से होती है। पूर्व समय में ऐसा था कि उपनयन संस्कार के बाद विद्यार्थी पहिले व्याकरण पढ़ते थे और फिर उन्हें वैदिक शब्दों का बोध कराया जाता था। पीछे ऐसा न रहा, झट विद्यार्थी वेद तक जाने लगे और इस प्रकार की धारणा चल गई कि सीधे वेद से वैदिक शब्द और लोक से बोल-चाल (लौकिक) के शब्द आ ही जाते हैं, इसलिये व्याकरण का पचड़ा व्यर्थ है (अनर्थकं व्याकरणम्)। इस प्रकार की डावाँडोल मति के लोगों के लिये आचार्य ने इस व्याकरणशास्त्र का उपदेश दिया (विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे, पस्पशाह्निक)। मनुष्यों का आयुष्य (अवकाश और शक्ति) कम होने के विषय में श्यूआन् चुआङ् ने पतंजलि के शब्दों का मानो अनुवाद ही किया है—'किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरंजीवति स वर्षशतं जीवति'। 'आज का क्या कहना, जो बहुत जीता है, सौ वर्ष जीता है।' यह बात कि पाणिनि का उद्देश्य व्याकरण के नियमों को निश्चित करना और अशुद्ध प्रयोगों को हटाना था, कात्यायन से समर्थित होती है। उन्होंने अष्टध्यायी को साध्वनुशासन-शास्त्र (वह शास्त्र जिसमें साधु शब्दों का उपदेश किया गया है, भा० १।१।४४ वा० १४) कहा है।

(६) **आचार्य की शैली**—श्यूआन् चुआङ् के अनुसार पाणिनि ने सामग्री के संचय के लिये विस्तृत यात्रा की और अनेक स्थानों में पूछताछ करके शब्दों का संग्रह किया। भाषा-विषयक यात्रा और पूछताछ की अमिट छाप अष्टाध्यायी में संकलित विस्तृत शब्द-समूह पर स्पष्ट पाई जाती है। बोलियों, जन-विश्वासों और स्थानीय प्रथाओं से भी शब्दों का चुनाव किया गया है। भारत के पूर्वी भाग में उद्दालक-पुष्पभंजिका, वीरण-पुष्प-प्रचायिका, शालभंजिका आदि जो उद्यान-क्रीडाएँ उस समय प्रचलित थीं, उनके नामकरण की प्रथा पर कई सूत्रों में प्रकाश डाला गया है (नित्यं क्रीडा जीविकयोः २।२।१७ ; संज्ञायाम्, ३।३।१०६ ; प्राचां क्रीडायाम्, ६।२।७४)। लोग जिस प्रकार से अपने बच्चों के नाम रखते थे और उन नामों को छोटा करके दुलार से पुकारते थे, उसकी भी पाणिनि ने छानबीन की। यहाँ तक कि कुछ यक्षों के नामों का भी उल्लेख किया है, जिनमें लोगों का विश्वास था और जिनकी कृपा से पुत्र-जन्म की मान्यता होने के कारण बच्चे का नाम उसके नाम के अनुसार रखते थे। इस प्रकार के यक्षों में विशाल भी एक यक्ष था (५।३।८४)। पीलु वृक्ष के पक्के फलों के लिये 'पीलुकुण' शब्द पाणिनि को ठेठ पंजाब की बोलियों से मिला होगा, जहाँ पीलु और शमी के घने जंगल थे और आज भी

पक्के पीलुफलों को 'पिलकना' कहते हैं। इसी प्रकार नापतोल, सिक्के, धान्य, भोजन आदि के संबंध में भी अनेक प्रकार की शब्द-सामग्री इस ग्रंथ में पाई जाती है। साल्व जनपद में जो लप्सी या राबड़ी बनती थी उसके नामकरण का भी सूत्र में उल्लेख है (साल्विका यवागूः, ४।२।१३६)। व्यास के दाहिने और बाएँ किनारों के कुओं के नामों की विशेषताओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस प्रकार की महती सूक्ष्मेक्षिका से सूत्रकार ने शास्त्र का निर्माण किया। विषय के साथ इस प्रकार का साक्षात् संबंध करना या उसे गुनना तक्षशिला विश्वविद्यालय की विशेष शैली थी।

शलातुर में जन्म पाकर पाणिनि भी अपने क्षेत्र के इस प्रसिद्ध शिक्षास्थान में शिक्षा के लिये गए हों और वहाँ के वातावरण में पले हों, यही संभव है। महावग्ग में लिखा है (८।१।६) कि पाटलिपुत्र के राजवैद्य जीवक तक्षशिला में आयुर्वेद का विशेष अध्ययन करने के लिये गए और अध्ययन समाप्त करके जब उन्होंने आचार्य से लौटने की अनुमति माँगी, तो आचार्य ने उन्हें परखना चाहा और कहा कि तक्षशिला के चारों ओर ढूँढ़कर कोई ऐसी वनस्पति लाओ जो औषधि के काम न आती हो। जीवक ने एक मास तक ढूँढ़ने पर निवेदन किया कि महाराज, मैंने बहुत यत्न किया किंतु ऐसा कोई तृण नहीं मिल सका जो किसी न किसी रोग की औषधि में काम न आता हो। यह उत्तर सुनकर आचार्य ने समझा कि अब शिष्य की पढ़ाई पक्की हुई और उसे जाने की अनुमति दे दी।

जातकों से यह भी पता चला है कि अध्ययन समाप्त कर लेने पर तक्षशिला के छात्र अनेक बातों की जानकारी के लिये देशभ्रमण (चारिका) के लिये निकलते थे और उस यात्रा में अनेक प्रकार के कौशल की बातों (शिल्प) और रीति-रिवाजों (समय) और रहन-सहन के रंग-ढंग (देश-चरित्र) का अध्ययन करते थे।[६] शब्द-विद्या संबंधी छानबीन के विशेष उद्देश्य को लेकर पाणिनि की यात्रा भी इसी प्रकार की रही होगी। यह आश्चर्य है कि पाणिनि के १२०० वर्ष बाद तक उनके विषय की यह जानकारी श्यूआन् चुआङ् को सच्ची अनुश्रुति के रूप में प्राप्त हो सकी।

(७)—**पाणिनि और महेश्वर**—'पाणिनि के पास अपने कार्य की एक सुनिश्चित योजना थी जिसे ईश्वरदेव ने बहुत पसंद किया।' श्यूआन् चुआङ् के इस

६—तक्कसिलं गन्त्वा उग्गहित सिप्पा ततो निक्खमित्वा सब्ब समय सिप्पञ् च देस चारित्तञ् च जानिस्सामा ति अनुपुब्बेन चारिकं चरंता (जातक, भा० ५ पृ० २४७)।

वर्णन से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायी के निर्माण में पाणिनि-के मौलिक चिंतन और अध्यवसाय को ही श्रेय मिलना चाहिए। 'ईश्वरदेव' की कथा, पाणिनि के कार्य में ईश्वर की सहायता अर्थात् देव-प्रसाद प्राप्त होने की सूचक है।

(८) **पाणिनि कृत यत्न**—'ऋषि पाणिनि उपदेश प्राप्त करके एकांत में चले गए और वहाँ निरंतर यत्न किया और अपने मन और बुद्धि की सारी शक्ति उस कार्य में लगाई।'—श्यूआन् चुआङ् का यह सत्य कथन पतंजलि के शब्दों का प्रायः अनुवाद ही है (प्रमाणभूताचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणिनाय।—भा० १।१।१, वा० ७)। कहाँ एक ओर पाणिनि का सूत्र-रचना में यह महान् यत्न और कहाँ वह गपोड़ा जिसमें पाणिनि को मंदबुद्धि बताया गया! पाणिनि ने अपना उत्साह, विशाल बुद्धि और दृढ़ संकल्प शब्दविद्या का अनुसंधान करने और उसे व्यवस्थित करने में लगाया। पतंजलि के अनुसार वे अनल्पमति आचार्य थे। उन्हें अत्यंत मेधावी होने के कारण कवि भी कहा गया है।

(९) **अष्टाध्यायी का ग्रंथ-परिमाण**—श्यूआन् चुआङ् ने बत्तीस अक्षरों वाले श्लोक की गिनती की नाप से अष्टाध्यायी को एक सहस्र श्लोकों के बराबर लिखा है। अष्टाध्यायी में ३९८१ सूत्र और १४ प्रत्याहार सूत्र हैं, इनकी गणना करने से अष्टाध्यायी आज भी एक सहस्र-श्लोकात्मक है।

(१०) **सर्ववेद पारिषद शास्त्र**—'आरंभ से लेकर अपने समय तक शब्दों और अक्षरों के बारे में जितना कुछ ज्ञात था उस सबको ही बिना कुछ छोड़े हुए पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्थान दिया।' यह मूल्यवान् सूचना अष्टाध्यायी का मनन करने से सत्य ज्ञात होती है। पतंजलि ने भी पाणिनि ग्रंथ को 'महत्शास्त्रौघ' बताया है (भा० १ । १ । १, वा० ७)। प्रातिशाख्य ग्रंथों का संबंध एक-एक वैदिक शाखा से था। अतएव उनमें शब्द संबंधी जो थोड़ी-बहुत सामग्री है वह भी उसी शाखा तक परिमित है। जैसे ऋक्-प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकल शाखा की वैदिक परिषद् में जो ऊहापोह या विचार हुए थे उनका परिचय देता है। वैदिक शाखाओं के अध्ययन के लिये स्थापित आचार्य-कुल 'चरण' कहलाते थे। प्रत्येक चरण में अपनी परिषद् होती थी। उस परिषद् में शिक्षा, व्याकरण, छंद, निरुक्त आदि शब्द-संबंधी विषयों का विचार किया जाता था। अष्टाध्यायी की स्थिति इससे कुछ और विकसित अवस्था को सूचित करती है। इस ग्रंथ का क्षेत्र किसी

विशेष वैदिक परिषद् तक सीमित न था। सभी चरण-परिषदों की जो उपादेय सामग्री थी उसे पाणिनि ने अपने शास्त्र में ग्रहण किया। पतंजलि ने अष्टाध्यायी की इस स्थिति का निरूपण करते हुए बड़े पते की बात कही है—सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम् (भा० २। १। ५८), अर्थात् पाणिनि का अष्टाध्यायी शास्त्र सभी वेद-परिषदों से संबंध रखता था। इसीलिये पाणिनि के सूत्रों में साहित्यिक शैली की विभिन्नता भी पाई जाती है। बहुलम् अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम्—ये सब शब्द सूत्रों में नियम का विकल्प बताने के लिये प्रयुक्त किए गए हैं। शब्दों की इस अनेकरूपता को उलझन कहकर पाणिनि की शैली पर एक आपत्ति उठाई गई तो पतंजलि ने समाधान किया कि अष्टाध्यायी का संबंध सब परिषदों से था, इसलिये यहाँ एक-सा रास्ता नियत करना संभव नहीं (तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्, २। १। ५८)। बर्नेल के मत से अष्टाध्यायी अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणों से अतिशायिनी थी। तभी उसे इतना प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ (ऐंद्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३८)। पाणिनि ने पूर्वाचार्यों से कितनी सामग्री ग्रहण की, यह प्रश्न अत्यंत रोचक होता, किंतु इसके समाधान का साधन अब उपलब्ध नहीं, क्योंकि पाणिनि से पूर्व-कालीन आपिशलि, भारद्वाज, गार्ग्य, शाकटायन आदि के व्याकरण-ग्रंथों में से एक भी सुरक्षित नहीं रहा। ऋक्तंत्र नामक साम-प्रातिशाख्य में सुट् और दीर्घ प्रकरण के अंतर्गत २७ सूत्र (१६५ से २१८ तक) पाणिनि के सूत्रों से बहुत ही मिलते हैं। उनसे यह आभास मिलता है कि अन्य व्याकरणों में सूत्रों का रूप किस प्रकार अष्टाध्यायी से कुछ कुछ भिन्न रहा होगा—

ऋक् तंत्र		पाणिनि	
१. मस्करो वेणुः	(४। ७। २६)।	मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः।	
२. प्रस्कण्व ऋषिः	(४। ६। ८)।	प्रस्कण्व हरिश्चन्द्रावृषि	(६। १। १५३)।
३. गोष्पदमुदक माने	(४। ६। ६)।	गोष्पदं सेवितासेवित प्रमाणेषु	(६। १। १४५)
अगोष्पदमनाचरिते	(४। ६। १०)।		
४. अपस्परं सातत्ये	(४। ६। ७)।	अपरस्पराः क्रिया सातत्ये	(६। १। १४४)।
५. अप रथे	(४। ६। १)।	अपस्करो रथांगम्	(६। १। १४६)।
६. पार पर्वते	(४। ५। १०)।	पारस्कर प्रभृतीनि च	(६। १। १४७)।
७. आस्पदं आस्थायाम्	(४। ६। ५)।	आस्पदं प्रतिष्ठायाम् संज्ञायाम्	(६। १। १४६)।
८. कुस्तुंबुरु जातिः	(४। ६। ५)।	कुस्तुम्बुरूणि जातिः	(६। १। १४३)।
९. आश्चर्यमनित्ये	(४। ७। १)।	आश्चर्यमनित्ये	(६। १। १४७)।

१०. कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (४ । ७ । ४)। कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (६ । १ । १६५)।
११. नदी रथस्या (४ । ७ । ५)। } रथस्याः नदीं एवं तद्बृहतोः करपत्योश्चोर-
१२. तस्करः स्तेनः (४ । ७ । ७)। } देवतयोः सुट् तलोपश्च, ये दो गणसूत्र पारस्कर प्रभृतीनि के अंतर्गत पढ़े गए हैं (६।१।१५७)।
१३. किरतावध्यात्मम् (४ । ६ । २)। अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने (६ । १ । १४२)।

इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती आचार्यों की अधिकांश सामग्री पाणिनि के महान् शास्त्र-समुद्र में भर गई थी। तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञात होता है कि पाणिनि ने अपने सूत्रों को अर्थ, भाषा, और विस्तार तीनों दृष्टियों से माँजा एवं पल्लवित किया।

ऋक्तंत्र का 'किरतावध्यात्मम्' (४ । ६ । २) सूत्र इस विषय का नौसिखिया या आरंभिक प्रयत्न जान पड़ता है। 'अध्यात्मम्' पद सजीव वस्तु के लिये आया है और अर्थ की दृष्टि से उलझा हुआ है। सूत्र का तात्पर्य यह था कि कोई सजीव प्राणी जब अपने पंजों से खुरचे तब 'अपस्किरते' (अप + स् + कृ धातु) रूप सिद्ध होता है। ऋक्-तंत्र के सूत्र से प्रयोग तो बन जाता है, परंतु अर्थ को साफ-साफ कहने की दृष्टि से सूत्र असमर्थ है। वस्तुतः बात इतनी थी कि जब कोई पशु या तो मस्ती में आकर, या चुग्गा ढूँढने के लिये, या रहने अथवा बैठने के स्थान के लिये धरती को खरोंचता है तब 'अपस्किरते' रूप बनता है, जैसे 'अपस्किरते' वृषभो हृष्टः' (बैल मस्ती में खरोंच रहा है)। इसके लिये पाणिनि ने अपना सूत्र अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से निश्चित और स्पष्ट कर दिया है। खुरचने के लिये 'आलेखन' पद 'अपस्किरते' का अर्थ बताता है। 'चतुष्पाद्' और 'शकुनि' पदों से यह निश्चित होता है कि अपस्किरते का प्रयोग केवल पशु-पक्षियों के लिये होता था। ये दोनों बातें 'किरतावध्यात्मम्' में अनुक्त और अस्फुट हैं।

पाणिनि ने किस शैली से और किन नियमों के अनुसार अपने शास्त्र में पूर्व सामग्री का संकलन किया है और क्या अब भी उसकी पहिचान की जा सकती है, यह प्रश्न श्री आई० एस० पवते महोदय ने 'अष्टाध्यायी की रचना' (स्ट्रक्चर आव् दि अष्टाध्यायी) नामक ग्रंथ में उठाकर उसका समाधान भी दिखाया है। किंतु रोचक होते हुए भी यह स्वतंत्र अनुसंधान का विषय है। ह्विटनी ने लिखा था कि क्या और कितना पाणिनि का अपना है और कितना पूर्वाचार्यों का, इसके स्पष्टीकरण में, यदि वह कभी संभव हो सका, तो बहुत समय की अपेक्षा होगी।

(११) पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा—'पाणिनि ने अपना ग्रंथ समाप्त करने के बाद उसे सम्राट् के पास भेजा जिसने उसको बहुत सम्मान दिया।' श्यूआन् चुआङ् की यह उक्ति मंजुश्री-मूलकल्प, राजशेखर, सोमदेव और तारानाथ के द्वारा दी हुई अनुश्रुति के अनुकूल है। पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के लिये पाणिनि संभवतः स्वयं अपना नया व्याकरण लेकर उपस्थित हुए और यहीं नंदराज से उनकी मित्रता हुई होगी। नंद और मौर्य-युग का पाटलिपुत्र देश का विद्याकेंद्र भी था। सिंहली महावंश की 'अत्थपकासनी' टीका में चाणक्य का आरंभिक जीवन बताते हुए लिखा है कि वे भी शास्त्र-परीक्षा के ही उद्देश्य से पाटलिपुत्र गए (वादं परियेसन्तो पुप्फपुरं गन्त्वा)।†

पाटलिपुत्र की यह संस्था मौर्यकाल में भी जीवित थी, ऐसा यवन राजदूत मेगस्थने एवं अन्य यवन इतिहास-लेखकों के वर्णन से ज्ञात होता है। 'संवत्सर के आरंभ में सम्राट् एक महती विद्वत्सभा करके सब विद्वानों और दार्शनिकों को बुलाते हैं। जिस विद्वान् ने किसी नए विषय पर शास्त्र-रचना की हो या कृषि और पशुओं के सुधार के लिये कोई नया उपाय ढूँढ़ निकाला हो, या जनता के हित की वृद्धि के लिये कोई नई खोज की हो, वह विद्वान् अपनी उस कृति या खोज को सबके सामने रखता है। देश के सम्राट् इस सभा के संरक्षक बनते हैं' (स्त्राबो १५।१; मैक् क्रिंडिल 'मेगस्थने', उद्धरण ३३; दियोदोर का उल्लेख)।

इस सभा का कार्य लगभग वही ज्ञात होता है, जिसे राजशेखर ने पाटलिपुत्र की शास्त्रकार-परीक्षा कहा है। देश की इसी सुप्रसिद्ध सभा में पाणिनि और चाणक्य उपस्थित हुए थे। पाटलिपुत्र की इस राजसभा से ही संबंधित दो उदाहरण पतंजलि के भाष्य में सुरक्षित रह गए हैं। पाणिनि ने भी 'सभा राजामनुष्यपूर्वा' (२।४।२३) इस सूत्र में 'राजसभा' का उल्लेख किया है और इसी का उदाहरण देने के लिये पतंजलि ने मौर्यकालीन 'चंद्रगुप्त-सभा' एवं शुंगकालीन 'पुष्यमित्र-सभा' का उल्लेख किया है (भा० १।१।६८ वा० ७)। यह मानना युक्तिसंगत होगा कि चंद्रगुप्त से पहिले इसी प्रकार की राजसभा नंदराज के समय में भी पाटलिपुत्र में थी। इन सभाओं का विशेष कार्य विद्या का समारोह और विद्वानों का एकत्र संमिलन और सम्मान करना था। नंदों से भी पूर्व मिथिला में जनक के यहाँ इस प्रकार की सभा थी, जिसमें कुरु-पंचाल के विद्वान् एक समय आमंत्रित किए गए थे।

† इस सूचना के लिये मैं अपने अध्यापक श्री चरणदासजी चैटर्जी का ऋणी हूँ।—ले०।

उसी प्राचीन परंपरा में यह उपयोगी संस्था कार्य करती रही, जिसका प्रभाव यूनानी राजदूत और यात्रियों के मन पर भी पड़ा । राजसभाओं की यह परंपरा बाद तक जारी रही, जैसा कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और राजा भोज की अत्यंत प्रसिद्ध सभाओं के वर्णन और कार्यों से ज्ञात होता है ।

विद्वानों का सम्मान

यह स्वाभाविक है कि जो विद्वान् अपनी विद्या और खोज के कारण इन सभाओं में यशस्वी होते थे वे सार्वजनिक रीति से सम्मानित किए जाते थे । दियोदोर ने लिखा है कि विद्वान् अपनी सेवाओं के लिये बहुमूल्य पुरस्कार और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं । मेगस्थने का उल्लेख और भी निश्चित है—'जो इन सभाओं में किसी ठोस सत्य का प्रतिपादन करता है उसे पुरस्कृत करने के लिये सब प्रकार के करों से मुक्त कर दिया जाता है ।'

इसी संबंध में पतंजलि के एक शब्द की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है । १।१।७३ सूत्र के भाष्य में उदाहरण आया है—'सभा सन्नयने भवः साभासन्नयनः' । पाणिनि के अनुसार सन्नयन का अर्थ है सम्मानन या सम्मान करना (सम्मानोत्संजनाचार्य करणज्ञानभृति विगणनव्ययेषु नियः, १।३।३६) । सभा में शास्त्र के सफल प्रतिपादन को 'सन्नयन' कहा जाता था और वही उस शास्त्र एवं शास्त्र का प्रतिपादन करनेवाले विद्वान् का सम्मानन भी था । इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि 'साभासन्नयन' शब्द पाणिनिकालीन था, जो राजसभा में प्राप्त सफलता से उत्पन्न सम्मानित पुरस्कार के लिये प्रयुक्त होता था।

इस सम्मान के आर्थिक स्वरूप का कुछ उल्लेख श्यूआन्-चुआङ् ने किया है। अष्टाध्यायी शास्त्र में सांगोपांग व्युत्पन्न होनेवाले विद्वानों को एक सहस्र सुवर्णमुद्रा दिए जाने की आज्ञा राजा की ओर से हुई थी। पाणिनि ने इस प्रकार के आचार-नियत द्रव्य के लिये 'धर्म्य' शब्द का प्रयोग किया है और जो इस प्रकार के आचार-नियत (धर्म्य) देय को स्वीकार करते थे वे 'हारी' (सम्मान या पुरस्कार द्रव्य ले जानेवाले) कहलाते थे (सप्तमी हारिणौ धर्म्येऽहरणे, ६।२।६५)[७] । इस सत्र के मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरणों में भाष्यकार ने एक स्थान पर

७—हारीति देयं यः स्वीकरोति सोऽभिधीयते । धर्म्यमित्याचारनियतं देयमुच्यते । धर्मो ह्यनुवृत्त आचारः, तस्मादनपेतं, तेन वा प्राप्यमिति (काशिका) ।

'वैयाकरण हस्ती' शब्द का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वैयाकरणों को इस प्रकार के रिवाज या आचार से नियत देय द्रव्य के रूप में हाथी मिलता था। भाषा में साभासन्नयन शब्द की चरितार्थता 'वयाकरण-हस्ती' जैसे प्रयोगों के लिये थी। व्याकरण के पांडित्य के लिये हाथी के पुरस्कार की कल्पना प्राच्य में ही संभव थी, जहाँ कौटिल्य के अनुसार सबसे अच्छे हाथी पाए जाते थे। कौटिल्य ने स्वयं भी विद्यावंतों के लिये एक सहस्र कार्षापण पूजा-वेतन का उल्लेख किया है (अर्थशास्त्र ५।३)।

ऊपर लिखे विवेचन से स्पष्ट है कि पाणिनि के जीवनचरित्र के विषय में उपलब्ध परंपरा बहुत कुछ सत्य पर आश्रित थी और यद्यपि यह सामग्री अति संक्षिप्त है, फिर भी इससे आचार्य के जीवन की मोटी रूपरेखा का परिज्ञान मिल जाता है।

कवि पाणिनि

भाष्य की एक कारिका में सूत्रकार के लिये 'कवि' विशेषण आया है (तदकीर्तितमाचरितं कविना, १।४।५०)। कैयट और नागेश ने कवि का अर्थ मेधावी किया है और वही ठीक जान पड़ता है। पाणिनि को 'जाम्बवती विजय' नामक काव्य का रचयिता मानना प्रमाणित नहीं है, क्योंकि न तो उस नाम का कोई काव्य ही उपलब्ध है और न पाणिनि के नाम से सूक्ति-संग्रहों में उद्धृत श्लोक ही उनके जान पड़ते हैं। एक संग्रह में जो श्लोक पाणिनि के नाम से उद्धृत हैं, अन्यत्र वे दूसरे के नाम से मिलते हैं। श्लोकों की शैली बहुत बाद की है। यह देखकर श्री भंडारकर ने पाणिनि के कवि होने की बात का खंडन किया। श्री क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय ने इस प्रश्न के विस्तार में जाकर अंत में यही मान्य निष्कर्ष निकाला है कि पाणिनि के कवि होने की बात कल्पनामात्र है। जांबवती-विजय या पाताल-विजय काव्य आठवीं-नवीं शती के किसी कवि की रचना रही होगी।

शास्त्र का नाम

अष्टाध्यायी के तीन नाम महाभाष्य में मिलते हैं—

(१) अष्टक (अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सत्रस्य,५।१।५८), (२) पाणिनीय (पाणिनिना प्रोक्तम्, ४।३।१०१), (३) वृत्तिसूत्र (न ब्रूमो वृत्तिसूत्रवचनप्रामाण्यादिति। किं तर्हि ? वार्तिकवचनप्रामाण्यादिति, भा० २।१।१, वा०२३)। कई सत्रों के

उदाहरणों में काशिका में पाणिनि-व्याकरण को 'अकालक व्याकरण' कहा गया है—पाणिन्युपज्ञं अकालकं व्याकरणम् (२।४।२१: ४।३।११५, ६।२।१४)।

इससे ज्ञात होता है कि पाणिनि ने जिस नए व्याकरण की रचना की उसमें काल-संबंधी विवेचन को जान-बूझकर स्थान नहीं दिया गया। पतंजलि ने इस बात का कुछ संकेत दिया है कि किस प्रकार काल-संबंधी परिभाषाओं के विषय में वैयाकरणों में मतभेद था। परोक्ष भूत क्या है? कोई कहते हैं सौ वर्ष पहिले का काल परोक्ष है; दूसरे कहते हैं कि जो परदे की ओट में या आँख से ओझल है वह परोक्ष है; कोई कहते हैं, दो दिन या तीन दिन पहिले जो हुआ हो वह परोक्ष है।[८] इसी प्रकार भूत, भविष्य, वर्तमान के ठीक ठीक काल-विभागों के बारे में भी वैयाकरणों का अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग था। महाभाष्य में बड़े रोचक ढंग से दो मतों का उल्लेख किया गया है, जिनमें एक आचार्य कहते थे 'नास्ति वर्तमानः कालः'; दूसरे कहते थे 'अस्ति वर्तमानः कालः' (भा०, वर्तमाने लट्, ३।२।१२३, वा० ५)।

अन्य वैयाकरण काल-संबंधी परिभाषाएँ स्थिर करने में रुचि रखते थे। अद्यतन काल या आज का समय कितना है, इस विषय में एक का मत था कि ठीक समय पर उठने से लेकर ठीक समय पर सोने तक 'आज' समझा जाय। दूसरे कहते थे—अर्धरात्रि से अर्धरात्रि तक अद्यतन काल होता है। पाणिनि ने मध्यम पथ का अनुयायी होने के कारण दूर की कौड़ी लानेवाले इस प्रकार के मतवादों को व्याकरण का बोझ समझकर छोड़ दिया और इस विषय में अपने स्पष्ट मत का उल्लेख भी किया—

कालोपसर्जने च तुल्यम्। (१।२।५७)

अर्थात् काल, उपसर्जन (मुख्य और गौण का भेद) और इसी तरह की अन्य बातों की व्याकरण में शिक्षा देना व्यर्थ है। क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान का स्रोत लोक है, लोगों के व्यवहार से उन्हें जानना चाहिए। सूत्रोपदिष्ट इस अभिमत के कारण पाणिनि-व्याकरण के लिये 'अकालक' विशेषण प्रयुक्त हुआ।

८—कथं जातीयकं पुनः परोक्षं नाम। के चित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्तं परोक्षमिति, अपर आहुः कटान्तरितं परोक्षमिति, अपर आहुर्द्व्यहवृत्तं त्र्यहवृत्तं चेति (भा० ३।२।११५)

मूलपाठ

गुरु-शिष्य परंपरा से अष्टाध्यायी के मूल पाठ को लोगों ने कंठस्थ रखा है। जैसा श्यूआन् चुआङ् ने भी लिखा है—'मूल को कंठस्थ करने की वह परंपरा पाणिनि के समय से आरंभ होकर बराबर चली आती रही।' आज भी वेदपाठी श्रोत्रिय लोग छः वेदांगों में अष्टाध्यायी कंठस्थ करते हैं। स्वर-सिद्धांत-चंद्रिका के अनुसार अष्टाध्यायी की सूत्र-संख्या ३९९५ है, जिसमें १४ प्रत्याहार सूत्र हैं।[९]

काशिका वृत्ति में लगभग बीस सूत्र अधिक हो गए हैं—कहीं तो योग-विभाग के द्वारा पाणिनि के एक सूत्र के दो टुकड़े करके और कहीं कुछ वार्तिकों को सूत्र मान लेने से। कई सूत्रों में वार्तिक के पद लेकर थोड़ा परिवर्तन पीछे हुआ है, किंतु ऐसे सब स्थल भाष्य और अन्य टीकाओं की सहायता से सहज ही पहिचाने जा सकते हैं।[१०]

पतंजलि से पहिले ही सूत्रों के पाठ पर ध्यान दिया जाने लगा था, जैसा कि उनके 'इह केचिद् आक्वेरिति सूत्रं पठन्ति, केचित्प्राक्क्वेरिति' (भा० ३। २। १३४), इस वाक्य से ज्ञात होता है। सूत्रों में पाठभेद के अन्य उदाहरण भी पाए जाते हैं।[११]

अष्टाध्यायी के मूलपाठ की तीन विशेषताएँ भी कही जाती हैं—

(१) उन स्वरों का अनुनासिक पाठ, जिनकी इत् संज्ञा करके लोप करना इष्ट था (उपदेशेऽजनुनासिक इत्, १। ३। २)।

९—चतुःसहस्री सूत्राणां पंचसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥ (स्व० सि० च०, श्लोक १५)

१०—अष्टाध्यायी के मूल पाठ की समस्या पर महाभाष्य के अपूर्व विद्वान् और संपादक श्री कीलहार्न ने अपने लेखों में पूरी छानबीन की है (इंडियन एंटीक्वेरी भाग १६, पृष्ठ १८४)।

११—काशिका ३।३।७८ (अंतर्घन अंतर्घण); ६।१।११७ (यजुष्युरः और यजुष्युरो); ६।१।१५६ (केचिदिमं सूत्रं नाधीयते, पारस्कर प्रभृतिष्वेव कारस्करो वृक्ष इति पठन्ति); ६।२।१३४ (चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठान्तरम्)। पदमंजरी, ४।३।११६ और ४।४।८८। सिद्धान्त कौमुदी, ५।२।६४, ५।२।६८।

(२) सूत्रों के जिन शब्दों का अधिकार बाद वाले सूत्रों में ले जाना इष्ट था, उनपर स्वरित चिह्न।

(३) संहितापाठ, अर्थात् पहिले सूत्र के अंतिम अक्षर और उसके बाद के अक्षर को मिलाकर संधि करके सूत्रों का पाठ (वृद्धिरादैजदेङ्गुण इको गुणवृद्धिः)।

कुछ ऐसा मानते हैं कि अन्य वैदिक ग्रंथों की भाँति अष्टाध्यायी का पाठ सस्वर था। इसे त्रैस्वर्य पाठ कहा जाता है। किंतु इस समय उपलब्ध सूत्र-पाठ में ऊपर लिखी विशेषताएँ नहीं पाई जातीं। इत् संज्ञा को बतानेवाले अनुनासिक और अधिकार को बतानेवाले स्वरित संकेत इतने अनिवार्य' हैं कि उनके विषय में आरंभ से ही स्पष्टीकरण कर लिया गया था, और वही बँधी हुई परंपरा आज तक चली आती है। इसे पाणिनि-शास्त्र के पढ़ाते समय यों कहा जाता है—प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः, प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः।

वस्तुस्थिति यह ज्ञात होती है कि सूत्रों का पाठ जैसा अब है वसा ही था। पाणिनि ने उपदेश के समय अर्थात् शिष्यों को सूत्रों का शिक्षण करते हुए यह बताया था कि इत् संज्ञावाला अनुनासिक स्वर कौन सा है और अधिकारवाला स्वरित कहाँ तक है। यही उपदेश गुरु-शिष्य-परंपरा से आज तक चला आ रहा है और एक बार उसका परिचय हो जाने पर अधिकार और इत्-संज्ञा का पहिचानना प्रायः सरल हो जाता है। सूत्रों में अन्य वैदिक ग्रंथों की भाँति उदात्त और अनुदात्त स्वरों के रहने का प्रमाण भी नहीं मिलता। कैयट का मत है कि आरंभ से ही मूल सूत्र-पाठ में एकश्रुति थी, अर्थात् स्वर नहीं लगे थे। संहिता-पाठ अर्थात् एक पाद में आए हुए सब सूत्रों को एक साथ मिलाकर पारायण करने की बात संभव जान पड़ती है। पतंजलि से पूर्व यह स्थिति अवश्य थी, ऐसा 'प्राग् रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६) सूत्र के श्लोक-वार्तिक[१२] के भाष्य से ज्ञात होता है। आज भी छहों वेदांगों में अष्टाध्यायी का पारायण करनेवाले वैदिक लोग संहितापाठ मानकर ही प्रत्येक पाद के सूत्रों का पारायण करते हैं।

१२—रीश्वराद् वीश्वरान्माभूत्, अर्थात् पाणिनि ने १।४।५६ सूत्र में रीश्वर इसलिये पढ़ा कि अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्र तक ही निपात का अधिकार चले, उससे आगे ३।४।१२ और ३।४।१३ सूत्रों के 'वीश्वर' शब्द तक नहीं। इन दो सूत्रों के संहितापाठ में ही 'वीश्वर' पद बन सकता है (णमुल् कमुलौ + ईश्वरे तो सुन् कसुनौ)।

गणपाठ

गणपाठ अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग है। गणपाठ की सामग्री पाणिनि की मौलिक देन है। बर्नेल के अनुसार ऐंद्र व्याकरण में गणों की शैली न थी। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि पाणिनि ने अपनी सामग्री को सुव्यवस्थित करते हुए पहले गणपाठ और पीछे सूत्र बनाए—

एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति सः पूर्वः पाठः, अयं पुनः पाठः।

(भा० १।१।३४)

श्यूआन् चुआङ् ने भी यही कहा है कि आचार्य ने पहिले अनेक शब्दों का संग्रह किया और उन्हें ग्रंथ रूप में सजाया।

गणपाठ का उद्देश्य है कि अनेक शब्दों को जो परस्पर भिन्न होते हुए भी किसी एक बात में मिलते हैं, व्याकरण के एक नियम के अंतर्गत लाया जाय। इस शैली के द्वारा शब्दों की बिखरी हुई सामग्री एक सरल व्यवस्था और नियम में बँध जाती है। एक एक शब्द को अलग अलग मानकर उसके लिये नियम बनाने की प्रतिपदोक्त शैली बहुत लंबी और दुरूह हो जाती है। अतएव गणपाठ बहुसंख्यक शब्दों को व्याकरण के संक्षिप्त नियमों के अंतर्गत लाकर परिचय कराने का रोचक एवं मौलिक ढंग है। यदि पाणिनि ने गणपाठ की युक्ति न अपनाई होती तो ग्राम, जनपद, संघ, गोत्र, चरण आदि से संबंधित भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सामग्री का जैसा उपयोग अष्टाध्यायी में उसके संक्षिप्त रूप की रक्षा करते हुए भी हो सका है, कदापि न हो पाता। व्याकरण-नियमों की रचना में सहायक गणपाठ की शैली पाणिनि के हाथों में सांस्कृतिक सामग्री का भंडार बन गई। कुछ गण तो ऐसे थे जिनका पाणिनि के द्वारा ही पूरा पाठ एक बार दे दिया गया था। गोत्र और स्थान-नामों की गणसूचियाँ इसी प्रकार की हैं। दूसरे गण आकृतिगण कहलाते हैं जिनमें जानबूझकर भाषा में उत्पन्न होनेवाले नए नए शब्दों की भरती के लिये द्वार खुला रखा गया। जैसे अर्धर्चादि (२।३।३१), गौरादि (४।१।४१), तारकादि (५।२।३६)। कृतादिगण पर लिखते हुए पंतजलि ने भी पठितगण और आकृतिगण, इन दो भेदों को स्वीकार किया है। आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति यह थी कि एक ही नियम के माननेवाले जो शब्द इस समय ज्ञात हैं वे तो गण में पढ़ दिए गए हैं, किंतु इसके बाद भी इनसे मिलते-जुलते जो शब्द मिलें वे भी गण-निर्दिष्ट कार्य के भागी हों।

इस विशेषता के कारण नए शब्द पाणिनिशास्त्र के अनुशासन में आते रहे और अष्टाध्यायी एक जीता-जागता शास्त्र बना रहा।

गणपाठ के संशोधित संस्करण की अत्यंत आवश्यकता है। काशिका वृत्ति में प्रत्येक गण के शब्दों की सूची मिलती है। उससे पूर्वकालीन चंद्र-व्याकरण की वृत्ति में भी लगभग इन्हीं गणों का पाठ और शब्दसूची है। तुलनात्मक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि काशिकाकार के सामने गणों की एक पूर्व से प्राप्त परंपरा थी। पंतजलि ने महाभाष्य में गणपाठ के संशोधन का अच्छा प्रयत्न किया था और उनसे भी पूर्व के कात्यायन के वार्तिकों में इस विषय का विवाद पाया जाता है कि शब्द-विशेष को पाणिनि के द्वारा गणपाठ में पढ़ा हुआ माना जाय या नहीं। उदाहरण के लिये शिवादि गण में 'तक्षन्' शब्द का पाठ है या नहीं, इस संबंध में कात्यायन के तीन वार्तिकों में विचार किया गया है (भा० ४।१।१४३)। पंतजलि ने खंडिकादि गण में 'उलूक' और 'क्षुद्रक-मालव' शब्दों के पाठ पर यह विचार किया है। इसी प्रकार 'नृनमन' शब्द का क्षुभ्नादि गण में (८।४।३९), 'शाकल्य' का लोहितादि में (४।१।१८), 'गर्ग भार्गविका' का गोपवनादि में (२।४।६७), और 'अथर्वन्' एवं 'आथर्वण' शब्दों का वसन्तादि गण में (भा० ४।३।१३१)। भाष्यकार ने इस विषय की कितनी गहरी छानबीन की थी, यह बात उनके यह लिखने से ज्ञात होती है कि 'अथर्वन्', 'आथर्वण' शब्दों का अष्टाध्यायी में चार बार पाठ किया गया है—

इदमाथर्वणार्थमाथर्वणिकार्थं च चतुर्ग्रहणं क्रियते।
(भा० ४।३।३१)

इससे विदित होता है कि पाणिनि-परंपरा में गणों का महत्त्व सूत्रों के तुल्य ही है। टीकाकारों की धारणा यही रही है कि गणपाठ का मूल भी प्रामाणिक है। डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का मत था कि गणपाठ के अधिकांश शब्द पाणिनि के समय के ही हैं, जिनमें बहुतों की चर्चा पतंजलि ने की है (इंडियन एंटीक्वेरी, १।२१)।[१३]

१३—उदाहरण के लिये काशिकाकार ने यस्कादिगण (२।४।६३) पर विचार करते हुए दिखाया है कि इस गण के छत्तीस शब्दों में से सोलह पाणिनि के दूसरे गणों में पढ़े गए हैं, जैसे यस्क, लभ्य, दुह्य, अयःस्थूण और तृणकर्ण ये पाँच शिवादिगण (४।१।११२) में; पुस्करसत् बाह्वादिगण (४।१।९६)में; खरप, नडादिगण (४।१।९९)में; भलंदन पुनः शिवा-

पाणिनि ने जो लंबी गोत्र-सूचियाँ दी हैं, इतिहास की दृष्टि से उनका महत्त्व है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवरकांड की गोत्रसूची से अधिकांश पाणिनीय गोत्र-नामों का समर्थन होता है। इसके अतिरिक्त जैमिनीय ब्राह्मणों में आए हुए नामों एवं शतपथ की वंश-सूचियों में बहुत से पाणिनीय गोत्र-नाम मिल जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार ने इन सूचियों का संकलन वास्तविक अनुश्रुति और जीवन के आधार पर किया था।

भौगोलिक नाम तो सर्वथा पाणिनि की ही देन है। अकेले 'वुञ्छण्कठजिल' आदि (४।२।८०) सूत्र में पढ़े हुए १७ गण लगभग तीन सौ स्थान-नामों का परिचय देते हैं। पाणिनि द्वारा संकलित सामग्री का इस सूत्र में अत्यंत मौलिक, अद्भुत और समृद्ध उदाहरण पाया जाता है। पाणिनीय भौगोलिक नामों का समर्थन किसी अंश में महाभारत एवं यूनानी इतिहास-लेखकों में आई हुई भौगोलिक सामग्री से होता है। दामन्यादि (५।३।११६।) गण में पठित सावित्री-पुत्रकों का नाम केवल महाभारत के कर्ण-पर्व (५।५६) में मिलता है।

क्रौड्यादि गण (४।१।८०) से संबंधित एक वार्तिक में रौढ्यादि गण का उल्लेख किया गया है। पतंजलि के अनुसार क्रौड्यादि रौढ्यादि एक ही गण के नाम हैं (के पुनः रौढ्यादयः, ये क्रौड्यादयः, भा० ४।१।७६)। ज्ञात होता है कि किसी दूसरे व्याकरण में क्रौड्यादि को रौढ्यादि के रूप में पढ़ा गया था। महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि ने लिखा है कि सर्वादि गण के शब्दों का क्रम आपिशलि के व्याकरण में इससे भिन्न था। गणपाठ का सब प्रकार से विशेष महत्त्व होते हुए भी उसके शब्दों की प्रामाणिकता सूत्रगत शब्दों और नामों की अपेक्षा दूसरी कोटि में मानी जायगी।

दिगण (४।१।११२)में; भडिल, भंडिल, भडित, अश्वादिगण (५।१।११०)में। कहीं कहीं सूत्रों में अंतःसाक्षी भी शब्दविशेष के गण में पढ़े जाने का समर्थन करती है। जैसे 'प्रवाहणस्य ढे' (७।३।२८) सूत्र बताता है कि प्रवाहण शब्द शुभ्रादिगण (४।१।१२३) में अवश्य पढ़ा गया था। सर्वादिगण के शब्दों की पुष्टि पाणिनि के चार सूत्रों से होती है, यथा पूर्वादि (७।१।१६), द्वयादि (५।३।२), डतरादि (७।१।२५), और त्यदादि (७।१।१०२)। लोहितादि कतंत गण (४।१।१८) के बीस शब्द गर्गादि गण (४।१।१०५)में पढ़े हैं और वहीं से जाने जाते हैं। बिदादिगण (४।१।१०४) में भी गोपवनादि (२।४।६७) और हरितादि (४।१।१००-१००) गणों के शब्दों का अंतर्भाव है। गर्गादि और बिदादि दोनों ही गणों का पाठ शुद्ध है।

काशिका में पाणिनि-परंपरा की रक्षा

पाणिनि-सूत्रों पर इस समय काशिका ही एकमात्र प्राचीन वृत्ति उपलब्ध है। काशिका पर जिनेंद्रबुद्धि कृत न्यास और हरदत्त कृत पदमंजरी बाद की टीकाएँ हैं, जिनमें सूत्रों के अर्थ को पल्लवित किया गया है। हरदत्त के अनुसार काशी में निर्मित (काशिषु भवा) होने के कारण इसका नाम काशिका पड़ा। काशिका अत्यंत प्रामाणिक वृत्ति है, इसमें परंपरा से प्राप्त पाणिनि-सामग्री की खूब रक्षा की गई है।

काशिकाकार ने आरंभ में ही लिखा है कि वृत्ति, भाष्य, धातुपाठ और नामपारायण (नामिक) आदि में जो व्याकरण की सामग्री फैली हुई थी उसके सार का संग्रह काशिका में किया गया है। काशिकाकार ने न केवल सूत्रों के गूढ़ अर्थों पर प्रकाश डाला, अपितु गण-पाठ को भी शुद्ध किया और प्राचीन श्लोकात्मक इष्टियों का भी संग्रह किया।[१४] काशिका के बिना पाणिनि-सूत्रों के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणों का जानना असंभव हो जाता। पाणिनिशास्त्र की परंपरा में काशिका अत्यंत भरा-पूरा भंडार है, जिसमें पुष्कल प्राचीन सामग्री सुरक्षित रह गई है। सच तो यह है कि काशिका पाणिनि के दुग्धामृत की प्राप्ति के हेतु कामधेनु है। काशिका में पाणिनि के विराट् भवन की महिमा अक्षुण्ण दिखाई पड़ती है। सूत्रकार ने जिस प्रकार अपने शास्त्र का ठाठ बाँधा था, जिन प्रकरणों में बाँटकर प्रत्यय और प्रकृति संबंधी विविध कार्यों को सजाया था, उनके प्रासाद का वह सूत्र-मापन काशिका की कृपा से ज्यों का त्यों हमारे पास तक पहुँचा है। पाणिनिशास्त्र का अपना स्वरूप कितना आकर्षक और सुबोध था, यह काशिका वृत्ति से जाना जाता है।

काशिका से पूर्व भी सूत्रों पर अनेक वृत्तियाँ बनी होंगी। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर रचित अपनी त्रिपादी टीका में वृत्तिकार कुणि का उल्लेख किया है, एवं कैयट ने कहा है कि पतंजलि ने कुणि के ग्रंथ को प्रमाण माना था (भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्)। इससे ज्ञात होता है कि वृत्तिकार कुणि पतंजलि से भी पहले हुए थे। पतंजलि ने भाष्य में 'माथुरी वृत्ति' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति से ज्ञात होता है कि माथुरीवृत्ति अष्टा-

१४—इष्ट्युपसंख्यानवतीशुद्धगणा विवृतगूढ़ सूत्रार्था
व्युत्पन्नरूप सिद्धि र्वृत्तिरियं काशिका नाम ॥

ध्यायी की टीका थी। इस प्रकार पाणिनि-सूत्रों पर कुणिवृत्ति, माथुरीवृत्ति, महाभाष्य, भर्तृहरिकृत त्रिपादी, भागवृत्ति, काशिका, न्यास और पदमंजरी इन टीकाओं की परंपरा रही है। जो सामग्री उपलब्ध है उसका तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि के सूत्र, अर्थ, उदाहरण, और प्रत्युदाहरणों की सामग्री किस प्रकार एक टीका से दूसरी टीका में सुरक्षित होती रही। महाभाष्य में जो उदाहरण-संबंधी सामग्री है वह अधिकांश काशिका में सुरक्षित है। क्रतूक्थादि सूत्रांताट्ठक् (४।२।६०) सूत्र पर भाष्य में दिए हुए अनेक प्राचीन ग्रंथों के नाम काशिका में और पल्लवित होकर आए हैं। आवश्यकतानुसार काशिकाकार ने नए उदाहरणों का भी स्वागत किया; जैसे प्राच्य भरत (२।४।६६) की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने अपने से पूर्वकालीन औद्दालकि और औद्दालकायन नाम दिए हैं, किंतु काशिकाकार ने उसके स्थान पर अपने समकालीन आर्जुनि और आर्जुनायन उदाहरण रखे। आर्जुनायन का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में आया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि काशिका के कुछ उदाहरणों में पतंजलि, कात्यायन और संभवतः पाणिनि से भी पूर्वकालीन सामग्री का आभास मिलता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण 'हीने' (१।४।८६) सूत्र पर 'अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' और 'उपोऽधिके च' सूत्र पर 'उपशाकटायनं वैयाकरणाः' हैं। पाणिनि से भी पहिले जब शाकटायन-व्याकरण का बोलबाला था, उस समय और सब वैयाकरण शाकटायन से घटे हुए माने जाते थे। उसी स्थिति का इस उदाहरण में संकेत है। ये उदाहरण शाकटायन-व्याकरण से छटककर पाणिनि-व्याकरण के पढ़नेवालों में घुलमिल गए। पीछे कुछ चेत होनेपर पाणिनीयों ने 'अनुपाणिनि वैयाकरणाः', 'उपपाणिनि वैयाकरणाः' उदाहरण बनाए। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्रपर 'ब्रह्मदत्ते पंचालाः' था, जब पंचाल देश की काम्पिल्य राजधानी में ब्रह्मदत्त नामक राजा राज्य करते थे, और उनका नाम लेकर कहानियाँ शुरू की जाती थीं, जैसा वासवदत्ता नाटक के पाँचवें अंक में बच्चे को कहानी सुनाते समय उसके प्रारंभिक बोल में आया है।

मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरण

पंतजलि ने लिखा है कि सूत्रों के साथ कुछ ऐसे उदाहरण थे जो एक प्रकार से उनके अनिवार्य अंग थे। ऐसे उदाहरण मूर्द्धाभिषिक्त कहलाते थे (भा०१।१।५७)।

कैयट के अनुसार सभी वृत्तिकार इस प्रकार के उदाहरणों को स्वीकार करते थे (सर्ववृत्त्युदाहृतत्त्वात्)। संभवतः दूसरे व्याकरणों में भी उन उदाहरणों को प्रमाण मानकर सूत्ररचना की जाती थी। कभी कभी वे उदाहरण इतने महत्त्वपूर्ण होते थे कि उनपर सूत्रों और वार्तिकों की रचना और विचार किया जाता था। 'उपमानानि वचनैः' (२।१।५५) सूत्र पर पतंजलि पूछते हैं 'किं पुनरिहोदाहरणम्। शस्त्री श्यामा।', और इसी 'शस्त्री श्यामा' को आधार मानकर कात्यायन ने सूत्र पर दो वार्तिक रचे थे। ज्ञात होता है कि उदाहरणों को ध्यान में रखकर वैयाकरण विचार में प्रवृत्त होते थे। वस्तुतः लक्ष्य-लक्षण का ही नाम व्याकरण था, अर्थात् शब्दों के विद्यमान होने पर उनके नियम या सूत्र (लक्षण) बनाए जाते थे। व्याकरण का मूल आरंभ तो शब्द, लक्ष्य या उदाहरणों से ही हुआ होगा।

सूत्रों के शिक्षक पाणिनि

पतंजलि ने अष्टाध्यायी को 'वृत्तिसूत्र' (भा० २।१।१) कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रों पर बहुत पूर्व में ही वृत्ति की रचना हो चुकी थी। संस्कृत के सभी विद्वानों की भाँति पाणिनि भी शिष्यों को पढ़ाते रहे होंगे, उनके पढ़ाने से जो व्याख्या बनी वही सूत्रों की पहिली वृत्ति हुई। पतंजलि ने स्वयं लिखा है कि कौत्स पाणिनि के शिष्य थे—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् (भा० ३।२।१०८)।

काशिकाकार ने इतना और कहा है कि कौत्स पाणिनि के अंतेवासी रूप में उनसे अध्ययन भी करते थे—

अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्
उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम् (का० ३।२।१०८)

पतंजलि ने निश्चित रूप से लिखा है कि पाणिनि ने अपने शिष्यों को सूत्रों का अर्थ पढ़ाया था। 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) सूत्र पर विचार करते हुए भाष्य में कहा गया है कि 'प्राक्कडारादेका संज्ञा' भी इसका पाठ था। दोनों पाठ पाणिनि के ही बनाए हुए थे—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः।

कात्यायन ने भी इस सूत्र पर अपने वार्तिकों में दोनों पाठों को स्वीकार किया है, (भा० १।४।१, वा० १ तथा ६), जिसका आधार पाणिनि की अपनी

व्याख्या ही हो सकती है। काशिकाकार ने किसी अन्य टीका (अपरा वृत्ति) के आधार पर 'तद्वरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः' (५ । १ । ५०) सूत्र के दो अर्थ दिए हैं और उस प्रसंग में कहा है कि दोनों अर्थ स्वयं पाणिनि ने शिष्यों को पढ़ाए थे (सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः)। इसी प्रकार 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' (५ । १ । ९४) सूत्र पर उसी टीका का प्रमाण देते हुए काशिकाकार ने दो अर्थ करते हुए लिखा है—

उभयं प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्।

अर्थात् दोनों ही अर्थ मान्य हैं, क्योंकि दोनों को दृष्टि में रखकर ही सूत्र रचा गया। तत्प्रकृतवचने मयट् (५ । ४ । २१) की टीका में भी काशिका ने ठीक यही बात कही है। इन उदाहरणों से यही ज्ञात होता है कि पाणिनि ने स्वयं सूत्रों की व्याख्या की थी जो पाणिनीय शास्त्र के अध्येता गुरु-शिष्यों की परंपरा से बराबर चली आई। तदधीते तद्वेद (४ । २ । ५९) के अनुसार पाणिनि-व्याकरण के पढ़नेवाले और जाननेवाले आचार्य इस देश में बराबर चले आते रहे हैं और आज भी हैं, कोई समय ऐसा नहीं हुआ जब यह परंपरा टूटी हो। इसी के आधार पर अनुनासिक स्वर (उपदेशजनुनासिक इत्, १।३।२) और अधिकार-वाची स्वरित (स्वरितेनाधिकारः, १ । ३ । ११) के विषय में पाणिनीयों की मौखिक प्रतिज्ञा ही आज तक प्रमाण मानी जाती है। वार्तिककार, पतंजलि और कैयट सभी पाणिनिशास्त्र की मौखिक परंपरा के समर्थक हैं। भाष्य में सूत्र १ । ४ । ४ पर श्लोक-वार्तिक का एक अंश इस प्रकार है—

तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत

अर्थात् मेधावी आचार्य पाणिनि के उस बचन का स्मरण करो। कैयट ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि 'स्मरत' पद पाणिनीय शास्त्र के अविच्छिन्न रहने की सूचना देता है (आगमस्याविच्छेदम्)। प्रदीप की भूमिका में अपने ग्रंथ को भी पाणिनि-आगम के अनुकूल रचा हुआ कहा है (यथागमं विधास्येऽहम्)।

सूत्रों की आरंभिक वृत्ति का रूप

कात्यायन और पतंजलि दोनों ही सूत्रार्थ के लिये व्याख्यान की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। पतंजलि के अनुसार सूत्रों पर आरंभिक व्याख्याओं का स्वरूप इस प्रकार था—

(१) चर्चा—सूत्र के एक-एक पद को अलग करना। जैसे वृद्धिः + आत् + ऐच्=वृद्धिरादैच्।

(२) वाक्याध्याहार—सूत्र के अर्थों को पूरा करने के लिये पिछले सूत्र या सूत्रों से शब्दों की अनुवृत्ति।

(३) उदाहरण।

(४) प्रत्युदाहरण।

सूत्रकार के समय से लेकर वृत्तियों का ढाँचा इसी प्रकार का रहा होगा। काशिकावृत्ति का ठाठ भी यही है और लगभग आज भी सूत्रों को समझाने का यही ढंग चालू है। आरंभ से ही हरएक सूत्र के साथ उसके उदाहरण अवश्य पढ़ाए जाते रहे। अनुशाकटायनं वैयाकरणाः (१।४।८६), शाकटायनपुत्रः (६।२।१३३), नंदपुत्रः (६।२।१३३), नंदोपक्रमाणि मानानि (२।४। २१), अधिब्रह्मदत्ते पंचालाः (१।४।९७), शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् (१।४।८४), अनडुद्यज्ञमन्वसिंचत् (१।४।८४), अगस्त्यमन्वसिंचन् प्रजाः (१।४।८४), इत्यादि उदाहरण व्याख्याओं के आरंभिक स्तर को सूचित करते हैं।

पाणिनीय परंपरा की रक्षा में प्रत्येक उपलब्ध टीका का अपना मूल्य है। वह व्याकरण की लंबी शृंखला में एक कड़ी है। इस दृष्टि से वार्तिक, महाभाष्य, काशिका, त्रिपादी, न्यास, पदमंजरी आदि टीकाओं ने व्याकरण की प्राचीन सामग्री की रक्षा में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। कात्यायन के वार्तिक बताते हैं कि उनसे पहिले भी अन्य आचार्यों ने सूत्रों के शब्दों और अर्थों पर बारीकी से छानबीन की थी। कात्यायन और पतंजलि के बीच में भी कितने ही विद्वान् वैयाकरण हुए जिन्होंने श्लोक-वार्तिकों में अथवा वार्तिक-सूत्रों में पाणिनि और कात्यायन दोनों के ही ग्रंथों पर विचार किया। भारद्वाजीय, सौनाग, क्रोष्ट्रीय और कुणरवाड़व, इन वार्तिककारों का उल्लेख पतंजलि ने किया है। कहीं बिना नाम के ही 'एके', 'केचित्', 'अपरे', इन संकेतों से अन्य आचार्यों के मत दिए गए हैं। सूत्रों पर विचार करते हुए कात्यायन और पतंजलि अपने इन पूर्ववर्ती आचार्यों के ऋणी थे और पाणिनि की ही भाँति उन्होंने भी अपने ग्रंथों में अपने से पूर्वकालीन लेखकों की सामग्री की रक्षा की।

इस प्रकार यह पाणिनीय शास्त्र उत्तरोत्तर पुष्पित, फलित और प्रतिमंडित होता हुआ लोक में भरा हुआ है। भारतवर्ष की यह ब्रह्मराशि है। जो इसे यथावत् जानता है वह शब्दविद्या में पारगामी बन जाता है।

पुराणों की इक्ष्वाकु-वंशावली

[ले० श्री राय कृष्णदास]

राजवंशावलियाँ पुराणों की एक प्रधान अंग एवं सर्वथा प्रामाणिक तथा बिश्वसनीय सामग्री हैं। पार्जिटर ने जिस प्रकार इनकी प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया है वह बहुत पांडित्य पूर्ण, प्रबल एवं जँचनेवाला है। प्रस्तुत लेख में पुराणों में वर्णित इक्ष्वाकु-वंशावली पर अधिकतर पार्जिटर के सहारे तथा कुछ अपनी ओर से प्रकाश डाला जायगा।

पुराण हमें ऐसे व्यक्तियों की परंपरा से प्राप्त ऐतिहासिक अनुश्रुति देते हैं जिनका कार्य पूर्व-काल का वृत्तांत रक्षित करना था। फिर भी आजकल प्राचीन भारत के इतिहास के लिये इन पुराणों को छोड़कर वैदिक साहित्य की छानबीन की परिपाटी चल रही है। यह उलटा, अतएव निस्सार प्रयत्न है, क्योंकि वैदिक साहित्य कोई ऐतिहासिक वाङ्मय नहीं है; तथापि यदि वर्तमान पद्धति के अनुसार पहले वैदिक साहित्य को ही टटोला जाय तो पता चलेगा कि वेद में जहाँ कहीं भी पुराणों के सम-सामयिक उल्लेख हैं वहाँ उनसे पौराणिक उल्लेखों का समर्थन ही होता है यथा उत्तर-पांचाल-वंशावली के एक टुकड़े का।

ऐसा सोचना कि इस प्रकार के वैदिक उल्लेखों पर से पुराण-वंशावलियाँ गढ़ने की माथापच्ची की गई, द्रविड़ प्राणायाम होगा। यदि ऐसा होता तो वैदिक साहित्य में आनेवाले प्रत्येक प्रमुख राजा वा राजकुल की वंशावली तैयार की गई होती, परंतु ऐसा हम नहीं पाते। और यदि इन वंशावलियों का उद्देश्य वैदिक नामों को महत्त्व देना होता तो उत्तर-पांचाल-वंशावली को पुराणों में सर्वप्रथम स्थान मिला होता, क्योंकि ऋग्वेद में जितनी आशंसा इस वंश की है उतनी और किसी की नहीं। ऋग्वेद का अधिकांश कुरु तथा पांचालों के उत्कर्ष-युग की, एवं उन्हीं की छत्रछाया में हुई, उन्हीं के प्रांतों की रचना है। इस कारण यही एक वंशावली है जिसका प्रतिपादन ऋग्वेद के हवालों से, जो उस वंश के समकालीन हैं, हो जाता है। यदि सभी पौराणिक वंशावलियों के संबंध में वैदिक प्रमाण उपलब्ध नहीं

हैं तो इसका दायित्व वेदों पर ही है, इसके कारण पौराणिक वंशावलियों की सत्यता में कोई बाधा नहीं आती।

यदि ये वंशावलियाँ गढ़ी गई होतीं तो इनमें से कई-एक अधूरी एवं बीच-बीच में से खंडित न मिलतीं, कई के एकाधिक रूप न मिलते और कम से कम पुराण में आनेवाले सभी प्रमुख वंशों की, जैसे मत्स्य, विराट, शाल्व, भौम, निषध आदि की, तो अवश्य तैयार की गई होतीं। इन वंशावलियों में जैसी वास्तविकता, जैसा निजस्व एवं जिस प्रकार ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं उनसे भी यही विदित होता है कि ये गढ़ी नहीं गई हैं, प्रत्युत इनका अस्तित्व था और ये उन वंशों की सम-सामयिक हैं।

ब्राह्मणों की प्राचीन काल में जो पद-मर्यादा थी उसके होते हुए भी उनका कोई ठीक-ठीक वंशानुक्रम नहीं मिलता। उन्होंने अपनी वंशावली तो तैयार न की और राजवंशावलियाँ गढ़ डालीं—ऐसी कल्पना असंगत है। अतएव इन राजवंशावलियों के संबंध में यही निष्कर्ष युक्तिसंगत है कि ये वास्तविक ऐतिहासिक सामग्री हैं जो पुराणों में संहित कर दी गई हैं।

इन वंशावलियों में बार-बार राजवंशों से ब्राह्मण-वंशों और गोत्रों की उत्पत्ति मिलती है। इस प्रकार के उल्लेख ब्राह्मण-आत्मगौरव के सर्वथा प्रतिकूल हैं और यदि ये वंशावलियाँ वास्तविक न होतीं तो उनमें ऐसे उल्लेख कदापि न आने पाते।

इन वंशावलियों के अनुगामी वृत्तांतों के संकलन से भारतवर्ष में आर्यों के फैलने का जो विवरण प्रस्तुत होता है उससे आधुनिक मानवशास्त्र एवं भाषाशास्त्र के अनुसार भारतवर्ष का वर्गीकरण सर्वथा अनुमोदित एवं प्रमाणित हो जाता है। कल्पना से इस प्रकार का मसाला तैयार करना सर्वथा असंभव है। यह युक्ति पौराणिक वंशावली की सत्यता के पक्ष में सबसे प्रबल पड़ती है।

आजकल अधिकतर ऐतिहासिक पंडित पुराणों का जो काल मानते हैं (ई० पू० दसवीं शती से गुप्तकाल तक), यद्यपि वह हमें स्वीकार नहीं है फिर भी यह बात लक्ष्य करने की है कि उक्त समय के कहीं पहले पौराणिक वंशावलियों का अंत हो चुका था और पृथ्वी उनके हाथों में नहीं रह गई थी। ऐसी दशा में यदि ये वंशावलियाँ वस्तुतः अप्रामाणिक होतीं तो पुराणकार क्यों इन्हें पुराणों में स्थान देते?

पुराणों में राज-परंपराओं का वृत्त इन वंशावलियों का अनुसरण करता है। इतिहास कहने की परिपाटी उस समय आजकल के ऐसी न थी कि सारे देश का इतिहास कालानुक्रम से कहा जाय। उस समय प्रत्येक राजवंश के अलग-अलग सूत होते थे जो अपने-अपने राजवंश का वंशानुचरित अलग-अलग संदर्भित करते और उनका संरक्षण करते थे तथा राज-परंपरा कहने में जिस राजा के संबंध में जो महत्त्वपूर्ण विषय आता था उसकी यथेष्ट चर्चा यथास्थान कर देते थे। इसी से ऐसी चर्चाओं को पुराण के लक्षण में 'वंशानुचरित' कहा है।

इस प्रकार की ऐतिहासिक ब्योरेवार वंशावलियों को प्रायः 'वंश' ही कहा करते थे, कभी 'वंश-पुराण' भी कहते थे। इन 'वंशों' के विशेषज्ञ होते थे जो इनपर विचार और इनकी जाँच-पड़ताल किया करते थे।[1] वर्तमान पुराणों में जो वंशावलियाँ दी हैं वे उन्हीं प्राचीन वंशों पर अवलंबित हैं। वे वंश अब सर्वथा लुप्त हो गए हैं। किंतु वर्तमान वंशावलियों पर विचार करने से यह बात निर्विवाद रूप से प्रमाणित होती है कि वंशों की कई वाचनाएँ थीं।

वेदव्यास ने जो पुराण संहित किया था उसकी उनके प्रशिष्यों के हाथ चार वाचनाएँ हो गई थीं। इन वाचना-भेदों का कारण पौराणिक अनुश्रुतियों का रूपभेद था, सो पुराणों के वर्तमान रचयिताओं ने उन्हीं भिन्न वाचनाओं के आधार पर सांप्रत पुराणों में वंशावलियाँ दी हैं। इसी से भिन्न-भिन्न पुराणों में एक ही कुल के अनुक्रम में कुछ अंतर और भेद मिलते हैं।

पुराणों में सम्मिलित की जाने पर भी वंशावलियों में लेख-प्रमादवश, प्रतियों के खंडित हो जाने से एवं इनके संकलयिताओं का उद्देश्य प्रधानतः अनैतिहासिक होने के कारण कुछ अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ आ गई हैं।[2] उदाहरणार्थ—

(१) विष्णुपुराण में इक्ष्वाकुवंशीय विष्णुवृद्ध राजा के विषय में जो प्रशस्ति गाथा है वह स्थानांतरित हो गई है।

(२) ब्रह्मांड में कई स्थानों पर नाम छूट गए हैं, जैसे प्रसेनजित् का।

(३) अनेक स्थलों पर आवश्यक चूर्णिकाएँ छूट गई हैं जिनके कारण विशेष गड़बड़ी हुई है; यथा भविष्य (महाभारत के बाद की) वंशावलियों में अवंती के

१—राजपूताने के चारणों में यह परिपाटी अब तक चली आती है

२—केवल हरिवंशकार में कुछ ऐतिहासिक भावना मिलती है।

प्रद्योत-वंश के संबंध में कोई चूर्णिका न रहने के कारण विद्वानों को उसके विषय में बड़े बड़े धोखे हुए। इसी प्रकार भविष्य इक्ष्वाकु-वंशावली में शाक्य शाखा की वंशावली मिल गई है और चूर्णिका के अभाव में विद्वानों को उसने चक्कर में डाला है।

(४) नामों के रूप कुछ से कुछ हो गए हैं।

पौराणिक वंशावलियों में ऐक्ष्वाक वंशावली ही अन्य सभी वंशावलियों से परिपूर्ण हैं। वह संभवतः अविच्छिन्न है। अन्य वंशावलियों में कई स्थानों पर लंबी लंबी टूटें हैं। कितने ही अप्रधान नाम तो जान-बूझकर छोड़ दिए गए हैं और उनकी प्रकृति भी भिन्न है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

ऐक्ष्वाक वंशावली पर विचार करने के लिये उसे तीन भागों में बाँटना पड़ता है—(१) आरंभ अर्थात् वैवस्वत मनु से अहीनगु तक, (२) अहीनगु के उत्तराधिकारी से महाभारत-काल किंवा द्वापर के अंत तक, (३) महाभारत के बाद कलियुग में होनेवाले ऐक्ष्वाकों की, जिनके साथ इस परंपरा का अंत हो जाता है। किंतु यह तीसरा भाग वर्तमान निबंध का विचार्य विषय नहीं है। यहाँ केवल उस वंशावली के पहले दो भागों का ही विवेचन किया जायगा।

वायु, ब्रह्मांड, विष्णु, भागवत, गरुड़, विष्णुधर्मोत्तर तथा देवी-भागवत; ब्रह्म, हरिवंश एवं शिव; कूर्म तथा लिंग; मत्स्य, पद्म तथा अग्नि—इन पंद्रह ग्रंथों में ऐक्ष्वाक सूचियाँ दी हैं। 'भारत' में प्रारंभ से धुंधुमार तक की सूची है। इनमें से वायु निर्विवाद रूप से सबसे प्राचीन है। ब्रह्मांड प्रायः अक्षरशः उसका अनुसरण करता है। वर्तमान वायु और ब्रह्मांड एक ही मूल वायुपुराण की दो शाखाएँ जान पड़ते हैं। इसी कारण ब्रह्मांड भी अपने को वायुप्रोक्त कहता है। विष्णु और भागवत भी इसी संप्रदाय के हैं। किंतु प्रधानतः धार्मिक एवं पिछली कृतियाँ होने के कारण इन्होंने आवश्यक ऐतिहासिक चूर्णिकाओं और टिप्पणियों का विशेष ध्यान नहीं रक्खा है, वा उनका रूप धार्मिक कर दिया है। विष्णु की वंशावली गद्य में है, भागवत की श्लोकात्मक। ये श्लोक वायु से भिन्न हैं, भागवतकार की अपनी रचना हैं। गरुड़ की वंशावली भी इसी मत की है एवं श्लोकबद्ध है। उसके श्लोक भी निजी हैं। विष्णुधर्मोत्तर तथा देवी-भागवत की ऐक्ष्वाक वंशावली अधूरी है। वे भी वायु-मत की हैं, किंतु उनके श्लोक अपने हैं।

यद्यपि शेषोक्त पाँच पुराण (विष्णु, भागवत, गरुड़, विष्णुधर्मोत्तर एवं देवी-भागवत) बहुत इधर के हैं तो भी इनमें से या इसी श्रेणी के पिछले अन्य

पुराणों से अनेक पते की और काम की बातें प्राप्त होती हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि इनके गुंफन होने के समय तक भी 'वंश'-संबंधी बहुत कुछ उपादेय और महत्त्वपूर्ण सामग्री संभवतः उपलब्ध थी।

भारत की धुंधुमार तक की वंशावली भी इसी वायुमत की है और उसके श्लोक वायु से मिलते-जुलते हैं। निदान ऐक्ष्वाक वंशावली के संबंध में उक्त आठ ग्रंथों का एक संदर्भ मानना चाहिए। अर्थात् जिस प्राचीन 'वंश' पर इनकी वंशावलियाँ अवलंबित हैं वह अन्य पुराणों के मूलभूत 'वंशों' से भिन्न था। इस संदर्भ को हम 'वायु-संदर्भ' कहेंगे। इस संदर्भ की विशेषता यह है कि इसमें प्रायः समस्त ऐक्ष्वाक शासकों के नाम आए हैं और यथास्थान ऐतिहासिक चूर्णिकाएँ भी हैं।

दूसरा संदर्भ ब्रह्मपुराण, हरिवंश और शिवपुराण से बनता है। इसे हम 'ब्रह्म-संदर्भ' कहेंगे। ब्रह्म और हरिवंश के पाठ प्रायः शब्दशः एक हैं। शिव ने भी उसी पाठ को घटा-बढ़ाकर रक्खा है। यह संदर्भ हर बात में वायु से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है, किंतु द्वितीय दिलीप और कल्माषपाद के बीच छः-सात नामों का अंतर है और जैसा हम आगे देखेंगे, इस अंतर का विशेष महत्त्व है (पृ० २३४)। अतएव 'यह वंश' की किसी अन्य शाखा पर अवलंबित है।

तीसरा संदर्भ कूर्मपुराण और लिंगपुराण का है। इसे हम 'कूर्म-संदर्भ' कहेंगे। इसमें की आरंभ से अहीनगु तक की वंशावली तो व्यापक रूप से वायु-संदर्भ के समान है, किंतु उसके बाद से द्वापर के अंत की वंशावली एकदम भिन्न है।

चौथा 'मत्स्य-संदर्भ' है। यह मत्स्यपुराण (जो वर्तमान पुराणों में काफी प्राचीन है, संभवतः वायु का समकालीन ही है), पद्मपुराण और अग्निपुराण से बनता है। इनमें मत्स्य और पद्म तो शब्दशः एक ही हैं। अग्नि अपने श्लोकों में केवल राजाओं के नाम देता है। वंश की जिस वाचना पर यह संदर्भ अवलंबित है उसकी विशेषताएँ ये हैं कि (क) अप्रधान राजाओं के नाम छोड़ दिए गए हैं तथा (ख) आरंभ से अहीनगु तक यह ब्रह्म-संदर्भ के अनुकूल है और वहाँ से द्वापर के अंत तक कूर्म-संदर्भ के अनुकूल। इन विशेषताओं के कारण यह संदर्भ अपना एक स्थान और महत्त्व रखता है और निश्चित रूप से वंश की एक अन्य शाखा पर अवलंबित है।

इक्ष्वाकु-वंश के उक्त चार संदर्भों में जो विशेषताएँ हैं, जिनका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है, उनके अनुसार ये दो मुख्य भागों में विभक्त होते हैं। अर्थात् वायु और ब्रह्म-संदर्भ में बहुत-कुछ साम्य है तथा कूर्म और मत्स्य में बहुत-कुछ ऐक्य है। उक्त संदर्भण तत्-तत् पुराणों में आई हुई मनु से बृहद्बल तक की ऐक्ष्वाक वंशावली को लक्ष्य करके किया गया है। संभव है अन्य वंशावलियों के संबंध में इनका संदर्भण भिन्न प्रकार से हो। यहाँ उक्त संदर्भों के विवेचन से ऐक्ष्वाक वंशावली का एक असंदिग्ध रूप स्थिर करने का प्रयत्न किया जायगा। किंतु ऐसा करने के पहले यह देख लेना उचित है कि यह वंशावली वास्तव में है क्या चीज।

हमारे प्राचीन साहित्य में 'वंश' शब्द का प्रयोग इन राजवंशों के सिवा तीन स्थलों पर और हुआ है—(१) वैदिक वाङ्मय में 'वंशब्राह्मण', (२) पुराणों में ऋषिवंश' तथा (३) बौद्ध साहित्य में 'बुद्धवंश'। इन तीनों स्थलों में कहीं भी वंश कुल-परंपरा का वाचक नहीं है। वंशब्राह्मण में वह गुरु-शिष्य-परंपरा है, जिस अनुक्रम से वेद की शाखाएँ एक दूसरे को प्राप्त हुईं। 'ऋषिवंश' में एक मूल ऋषि के कुल में समय-समय पर जो विशिष्ट व्यक्ति (प्रवर) पैदा हुए वा मिल गए और उनसे जो शाखाएँ फूटीं उनका ब्योरा है। बुद्धवंश में सिद्धार्थ की पैत्रिक परंपरा नहीं है, अपितु उन पचीस महामानवों की परंपरा है जिन्होंने समय-समय पर, किंतु अनुक्रम में, बुद्धत्व प्राप्त किया था और जिनमें सिद्धार्थ अंतिम हैं।

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि 'वंश' कुल-परंपरा के ही लिये नहीं, अन्य परंपराओं के लिये भी प्रयुक्त होता था। इक्ष्वाकु-वंश इसी दूसरे प्रकार का है। वह कुल-परंपरा न होकर शासक-परंपरा है; शासकों की अनुक्रमिक सूची है। मनुष्य के सभी वंशों की भाँति इक्ष्वाकु-वंश की भी अनेक शाखाएं रही होंगी। ऐसी कितनी ही शाखाओं का इंगित पुराणों में मिलता भी है।[3] किंतु उनकी कोई वंशावली नहीं दी है।

३—यथा (क) चौदहवें ऐक्ष्वाक राजा दृढाश्व तीन भाई थे, इन तीनों से अलग-अलग परंपाएँ चलीं—तेषां परंपरा राजन्...।

(ख) रेणुक नामक ऐक्ष्वाक राजा, जिसकी कन्या रेणुका परशुराम की माता थी, किसी अन्य ऐक्ष्वाक शाखा का था।

ऐक्ष्वाक वंश की (तथा अन्य क्षत्रिय-वंशों की) प्रकृति तीन प्रकार की है—(१) राजा (२) श्रेणि के मुखिया तथा (३) अन्य क्षत्रिय। इनमें से पुराणों ने श्रेणियों के मुखियों तथा साधारण क्षत्रियों के वंशानुक्रम नहीं दिए हैं; केवल राज-परंपरा दी है। इन सूचियों के उपसंहार में जो श्लोक आए हैं उनमें यही बात स्पष्ट कर दी गई है, अर्थात् (१) ये नाम इक्ष्वाकु-दायादों के, इक्ष्वाकु-भूपालों के हैं, एवं (२) जिन्हें प्रधानता (मुखियापन) प्राप्त थी उन्हीं की उस प्राधान्य (शासनाधिकार) के कारण इन सूचियों में परिगणना की गई है; दूसरे शब्दों में इनमें राजा ही गिनाए गए हैं।

इन वंशों में जो नाम आते हैं उनका पूर्वापर चार प्रकार से व्यक्त किया गया है—

(१) क का पुत्र ख हुआ वा ख का पिता क था।

(२) क का ख हुआ; (कोई नाता नहीं इंगित किया गया)।

(३) ख क से हुआ वा क के उपरांत हुआ; (कोई नाता नहीं इंगित किया गया)।

(४) क का दायाद ख हुआ वा ख क का दायाद था।

इनमें से (२) और (३) में यह आवश्यक नहीं कि क ख पिता-पुत्र ही हों। (४) में तो निश्चित रूप से ख क का उत्तराधिकारी मात्र है। किंतु सबसे मार्के की बात तो यह है कि (१) की अवस्था में भी, अर्थात् जहाँ अमुक का पुत्र अमुक कहा गया है वहाँ भी, वैसा होना आवश्यक नहीं।[४] अतएव इन वंशों पर विचार

४—इक्ष्वाकु-वंश के दो राजा दल तथा बल सहोदर थे किंतु वंशावली में बल दल का पुत्र है। इसके दो कारण हैं; एक तो—

"वंशज या अनुयायी के अर्थ में 'पुत्र' शब्द का प्रयोग समूचे भारतीय वाङ्मय में पाया जाता है।...नमूने के लिये सुत्तनिपात की ९९१ वीं गाथा में यह बात बिल्कुल स्पष्ट होती है—

पुरा कपिलवत्थुम्हा निक्खन्तो लोकनायको।
अपच्चो ओक्काकराजस्स सक्युपुत्तो पभंकरो।"

—रूपरेखा, १।१२७

राजस्थान में आज भी 'पुत्र' शब्द वंशज के अर्थ में आता है, यथा—राजपूत एवं रावत (=राजपुत्र), गुहिलोत (= गुहिलपुत्र), चूँडावत (= चूँडापुत्र) इत्यादि।

करते समय जहाँ पहले प्रकार के स्थल आते हैं वहाँ यह न मान बैठना चाहिए कि क-ख पिता-पुत्र ही थे, बल्कि यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे अनेक स्थलों पर 'पिता' से पूर्ववर्ती राजा और 'पुत्र' से उसका दायाद (अर्थात् राजनैतिक पिता-पुत्र, पूर्वधिकारी-उत्तराधिकारी) ही अभिप्रेत है। ऐक्ष्वाक राजपद्धति पर ध्यान देने से यह बात ठीक ठीक समझ में आ जाती है। इस पद्धति पर विस्तारपूर्वक विचार तो अन्यत्र किया जायगा, उसके मूल सिद्धांत यहाँ दिए जाते हैं—

(१) इक्ष्वाकु-राज्य में राजा का वरण होता था, अर्थात् शासक चुनाव द्वारा नियुक्त होते थे जिसमें प्रजा का बहुत कुछ हाथ होता था—

(२) ऐसे शासकों का ऐक्ष्वाक होना तो आवश्यक था, किंतु यह आवश्यक न था कि वे एक ही शाखा के पूर्ववर्ती राजा के ज्येष्ठ पुत्र ही हों। उनके लिये गुण-ज्येष्ठ होना आवश्यक था।

(३) प्रजा का प्रतिनिधित्व राजपुरोहित में केंद्रित रहता था, अतएव वही प्रधान मंत्री एवं राजकर्ता (राजा का नियोजक) होता था। शाक्यों के समय तक भी (जो ऐक्ष्वाकों की एक पिछली शाखा थी) यह पुरानी प्रथा प्रचलित थी।

ऐसी अवस्था में ऐक्ष्वाक वंशावली कुल-परंपरा कैसे हो सकती है? तनिक और ब्योरे में जाने से यह बात बिल्कुल निर्विवाद हो जाती है—

(१) शतपथ ब्राह्मण में हरिश्चंद्र को वैधस अर्थात् वेधा की संतान कहा है। इन वेधा का नाम किसी भी ऐक्ष्वाक वंशावली में नहीं मिलता। ऐसा अकारण नहीं है। हरिश्चंद्र के चौथे पूर्ववर्ती राजा त्रसदस्यु अपने पूर्ववर्ती राजा पुरुकुत्स के दायाद हैं। ये त्रसदस्यु इक्ष्वाकुवंश की जिस शाखा में उत्पन्न हुए थे उसमें वेधा नामक कोई पूर्वज रहे होंगे, अतएव उन त्रसदस्यु की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न हरिश्चंद्र भी अपने प्रवर वेधा के नाम पर वैधस कहे गए। फलतः प्रमाणित होता है कि हरिश्चंद्र एक दूसरी शाखा के ऐक्ष्वाक थे और शासक होने के नाते इस परंपरा में सम्मिलित किए गए हैं। इसी भाँति—

दूसरे, ये वंशावलियाँ पुराने वंशों पर अवलंबित हैं जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से रक्षित की गई थीं। वंशावलियों को वर्तमान रूप देते समय वह दृष्टिकोण बिल्कुल गौण हो गया था, अतएव इनमें ऐसी बारीकियों की उपेक्षा की गई है। तो भी इनमें 'तस्य दायादः' के अतिरिक्त 'ततः परं' 'ततः स्मृतः' आदि पद राजनैतिक उत्तराधिकारी के ही द्योतक हैं, वंशानुक्रम के नहीं।

(२) ऋतुपर्ण को पंचविंश-ब्राह्मण तथा 'भारत' में शृंगाश्व का अपत्य लिखा है। इन शृंगाश्व का भी वर्तमान ऐक्ष्वाक परंपरा में कोई उल्लेख नहीं है। अतएव ये ऋतुपर्ण ऐक्ष्वाक वंश की किसी दूसरी शाखा में उत्पन्न हुए थे और ऐक्ष्वाक राज्य के उत्तराधिकारी होने मात्र से वे इस अवली में पिरोए गए हैं। इसी कारण वे अपने पूर्ववर्ती राजा अयुतायु के दायाद हैं। यह बात उनके पौत्र नाम शार्गांश्व से भी प्रमाणित होती है। शृंगाश्व उनकी शाखा के पूर्वज का नाम है।

(३) कल्माषपाद के बाद और द्वितीय दिलीप के पूर्व वायु एवं कूर्म संदर्भ सात नाम देते हैं तथा मत्स्य एवं ब्रह्म संदर्भ पाँच या छः नाम देते हैं, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यथा—

कल्माषपाद और द्वितीय दिलीप की मध्यवर्ती उक्त दोनों परंपराओं में इतनी विभिन्नता है कि संभवतः इनका समीकरण (विश्वसह-दुलिदुह को छोड़कर) किसी प्रकार नहीं हो सकता; न यही कहा जा सकता है कि इनमें से एक मान्य है दूसरी नहीं, क्योंकि इनकी पूर्ववर्ती परंपरा में सभी पुराणों में व्यापक ऐक्य है और इस विभेद के बाद द्वितीय दिलीप से अहीनगु तक पुनः व्यापक ऐक्य है। अतः इस विभेद का यही अर्थ हो सकता है कि कल्माषपाद से द्वितीय दिलीप तक ऐक्ष्वाक राज्यलक्ष्मी चंचला हो उठी थी। प्रजा के एक समुदाय ने एक परंपरा के व्यक्तियों को राजा माना था और दूसरे दल ने दूसरी परंपरा के पुरुषों को।

वस्तुतः बात भी यही है। कल्माषपाद को एक धार्मिक झगड़े के कारण राज्यच्युत होना पड़ा था। उस समय वैदिक धर्म के मुख्य दो संप्रदाय प्रचलित थे—एक तो वरुण-संप्रदाय और दूसरा इंद्र-संप्रदाय। पहला संप्रदाय पुराना था, दूसरा अपेक्षाकृत नवीन। इस दूसरे संप्रदाय का सूर्य उत्कर्ष पर था। पुराना संप्रदाय धीरे धीरे इसी में विलीन हो रहा था, तो भी उसके कितने ही कट्टर अनुयायी थे। इक्ष्वाकु-कुल के पारंपरीण मंत्रि-पुरोहित का वशिष्ठ-वंश पुराने वरुण-संप्रदाय का अनुयायी था, इसी कारण वह 'आपव' एवं 'मैत्रावरुणि' कहा जाता था। उधर विश्वामित्र की परंपरा इंद्र-संप्रदाय की प्रचारक थी। यहाँ तक कि प्रथम विश्वामित्र के कौशिकवंशी होने के कारण इंद्र का एक नाम कौशिक पड़ गया। इसी धार्मिक झगड़े में विश्वामित्र के अनुयायी होने के कारण, फलतः वशिष्ठ-कुल के साथ अत्याचार करने के कारण कल्माषपाद बड़ी विपत्ति में पड़ गया था।

बृहद्देवता, भारत, वाल्मीकि और पुराणों में कल्माषपाद की उक्त विपत्ति की अनेक कथाएँ हैं। इन कथाओं का वास्तविक रूप क्या रहा होगा इसपर फिर विचार किया जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि कल्माषपाद को अपने कृत्यों के कारण ग्यारह बरस तक राज्यच्युत रहना पड़ा था। वशिष्ठ ने उसकी रानी मदयंती से नियोग द्वारा अश्मक को उत्पन्न किया था और विश्वामित्र तथा वशिष्ठ-कुलों में उसके कारण भारी विग्रह खड़ा हो गया था, जिसमें विश्वामित्र-वंश के नातेदार और धार्मिक अनुयायी जामदग्न्यों ने विश्वामित्र का साथ दिया था। यह विग्रह कल्माषपाद के बाद भी बना रहा। ऐसा जान पड़ता है कि उक्त दो शाखाओं में से एक वशिष्ठ-अनुमोदित थी, दूसरी विश्वामित्र-अनुमोदित। किंतु प्रत्येक शाखा के एक-आध राजा अपदस्थ होने के भय से एक पक्ष से दूसरे पक्ष पर ढुलते रहे। इसी से जामदग्न्यों के आक्रोश और आक्रमण का उल्लेख प्रथम शाखा के सर्वकर्मा पर और दूसरी शाखा के मूलक पर जो प्रायः तुल्यकालीन थे, पाया जाता है। इसी प्रकार—

(४) मत्स्य तथा कूर्म संदर्भों में द्वितीय दिलीप से अहीनगु तक की ऐक्ष्वाक वंशावली का वायु तथा ब्रह्म संदर्भों से मेल है। किंतु उसके बाद शेषोक्त संदर्भों की वंशावली में इकतीस नाम आते हैं जिनमें से अंतिम बृहद्बल महाभारत युद्ध में खेत रहा था। परंतु मत्स्य तथा कूर्म संदर्भों में इन इकतीस के बदले केवल छः ही नाम आते हैं जो इनसे सर्वथा भिन्न हैं।

रामचंद्र ने अपने सामने ही अपने भाई-भतीजों के राज्य अलग-अलग कर दिए थे और अपने दोनों पुत्रों में भी राज्य बाँट दिया था। इस प्रकार उन्होंने ऐक्ष्वाक चक्र को कई छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया था। जान पड़ता है कि अहीनगु के बाद इन्हीं में से किसी की राजपरंपरा को मत्स्य और कूर्म संदर्भों में किसी विशेष कारण से मान्यता दी गई है।

(५) वाल्मीकि में मनु से रामचंद्र तक की एक ऐक्ष्वाक वंशावली आती है। इस वंशावली का पौराणिक वंशावली से आकाश पाताल का अंतर है। यह अंतर मुख्यतः दो प्रकार का है—

(क) पीढ़ियों की संख्या का। पुराणों की वंशावली में इक्ष्वाकु से रामचंद्र तक तिरसठ नाम मिलते हैं। उधर रामायण की पीढ़ियों की संख्या केवल छत्तीस है। अर्थात् दोनों में प्रायः दूने का अंतर है। इसी प्रकार—

(ख) नामों का। दोनों वंशावलियों के नामों में भी महत् अंतर है। रामायण के छत्तीस नामों में से केवल अठारह ऐसे हैं जो रामचंद्र तक दोनों सूचियों में सामान्य हैं (द्रष्ट० सारणी)।

इस ऐक्ष्वाक वंशावली के सिवा रामायण में तीन वंशावलियाँ और आती हैं—(१) कुशिक-वंश की (२) वैशाली-वंश की एवं (३) जनक-वंश की। और इन तीनों वंशावलियों की पौराणिक वंशावलियों से व्यापक समानता है। ऐसी अवस्था में पुराणों से रामायण वाली ऐक्ष्वाक वंशावली के इतने विभेद का कोई प्रबल कारण होना चाहिए, विशेषतः जब कि रामायण इक्ष्वाकुओं का महदाख्यान हो। यह असंभव है कि ऐसे ग्रंथ में किसी भूले-भटके वंश को स्थान मिला हो। फलतः इतने विभेद का कारण स्पष्टतः यही है कि यह रामायण-गत ऐक्ष्वाक वंशावली ऐक्ष्वाक वंश वाली उस शाखा की कुल-परंपरा है जिसमें रामचंद्र उत्पन्न हुए थे और जो ऐक्ष्वाक वंश की मुख्य शाखा थी। अतएव इस 'वंश' में के केवल उन व्यक्तियों के नाम तो पौराणिक वंशावली में मिलते हैं जो इस शाखा से शासक होने के लिये वरण किए गए थे, शेष नाम दोनों में विभिन्न हैं। यह उपपत्ति इस बात से प्रमाणित हो जाती है कि जो अठारह नाम दोनों वंशावलियों में सामान्य हैं वे ५, २, २, ४ और ३ के थोकों में उसी पौर्वापर्य में पाए जाते हैं जिनमें वे पौराणिक वंशावली में आए हैं (द्रष्ट० सारणी)।

इस उपपत्ति के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि उक्त अठारह नामों में से जो तीन नाम बचते हैं वे उसी अनुक्रम में नहीं आते जिसमें उन्हें

आना चाहिए। अतः यह वंशावली प्रमाण योग्य नहीं है। किंतु इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यह है कि ये नाम या तो पौराणिक सूची के किन्हीं व्यक्तियों के अपर नाम हैं—यथा रामायण-सूची का असित पौराणिक सूची के बाहु का ही अपर नाम है, क्योंकि बाहु सगर का पूर्ववर्ती राजा ही नहीं, पिता भी था जैसा कि उस (बाहु) के वृत्तांत से अवगत होता है; संभवतः इसी प्रकार अन्य दो नाम भी पौराणिक सूची के किन्हीं और राजाओं के अपर नाम थे—अथवा दोनों सूचियों में एकनाम-धारी दो भिन्न व्यक्तियों के नाम हैं। फलतः उक्त तर्क हमारी उपपत्ति में किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकता।[५]

अब रही पीढ़ियों के अंतरवाली बाधा; उसका भी पूर्ण-संतोषजनक सामंजस्य हो जाता है। अर्थात् शासन-पीढ़ियों का औसत पंद्रह वर्ष और जीवन-पीढ़ियों का औसत पचीस वर्ष होता है। इस हिसाब से इक्ष्वाकु से राम तक शासन-पीढ़ियाँ नौ सौ पैंतालीस (६३×१५) वर्ष छेंकती हैं और छत्तीस जीवन-पीढ़ियाँ भी प्रायः उतना ही समय (अर्थात् ३६×२५=६०० वर्ष) लेती हैं। अतः यह रामायण की वंशावली इस बात का निश्चित प्रमाण है कि पुराण की ऐक्ष्वाक वंशावली राजपरंपरा है, अर्थात् उनके नाम और अनुक्रम राज्यधरों के अनुसार हैं, जो इक्ष्वाकु-वंश की एकाधिक शाखाओं के व्यक्तियों से निर्मित हैं।

५—इस वंशावली को अप्रामाणिक ठहराने के लिये पार्जिटर ने दो और प्रमाण दिए हैं—एक तो यह कि इसमें नहुष और ययाति के नाम अनुक्रम में आए हैं जो आनुक्रमिक ऐल राजा थे; दूसरे यह कि इसमें अनुक्रम से छः नाम ऐसे आए हैं जो पौराणिक वंशावलियों में उसी अनुक्रम में राम के बाद आते हैं। पहली उपपत्ति का उत्तर यह है कि नहुष और ययाति नाम कुछ चंद्रवंश के स्वायत्त न थे, दूसरे कुलवाले भी उन नामों को रख सकते थे। और यह मनुष्य-स्वभाव है कि यदि किसी व्यक्ति का नाम किसी पुराने व्यक्ति के नाम पर पड़ता है तो यह पिछला व्यक्ति प्रायः अपने लड़के का नाम उस पूर्ववर्ती व्यक्ति के लड़के के नाम पर रखता है। यही प्रवृत्ति यहाँ भी संभावित है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद के मंत्रकारों में हमें एक नाम नहुष-मानव मिलता है जो निश्चय ही रामायण-वंश का नहुष है, क्योंकि ऐक्ष्वाकों के लिये अभिजन-नाम 'मानव' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है। साथ ही इस प्रमाण से रामायण की वंशावली की सत्यता प्रतिपादित होती है।

दूसरी आपत्ति के विषय में भी यही प्रवृत्ति लागू होती है, अर्थात् राम के परवर्तियों के नाम इन पूर्वजों पर पड़े। राजकुलों में तो यह रीति बहुत चलती है और ऐसे बहुतेरे उदाहरण विद्यमान हैं।

(६) पुराणों में कई कुल-वंशावलियाँ भी आई हैं।[६] उनकी प्रकृति ऐक्ष्वाक वंशावली से इतनी भिन्न है, उन कुलों की शाखा-प्रशाखा, भाई-बंद के इतने ब्योरे हैं कि उनकी तुलना में यह वंशावली राज-परंपरा के सिवा और कुछ नहीं हो सकती।

इस संबंध में अब और प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि पौराणिक ऐक्ष्वाक वंशावली की प्रकृति पर यथेष्ट विचार कर हम संभवतः यह प्रतिपादित करने में समर्थ हुए हैं कि वह राजाओं की आनुक्रमिक सूची है, वंशानुक्रमण (आनुवंशिक) नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन वंशावलियों के मूलभूत 'वंशों' का दृष्टि-कोण राजनैतिक था। इनके सांप्रत रूप में भी यह विशेषता बच रही है, यथा—

(क) इन वंशावलियों में कहीं-कहीं सहोदर भाइयों के नाम भी आए हैं; एकाध जगह कन्याओं के नाम भी आए हैं। किंतु ऐसा तभी हुआ है जब इन व्यक्तियों का कोई राजनैतिक महत्त्व रहा हो। अर्थात् सहोदर भाई या तो एक के बाद दूसरे राज्याधिकारी हुए हों, या उनसे नए वंश चले हों अथवा वे कहीं काम आए हों। इसी प्रकार लड़की का नाम भी तभी आया है जब उसका पुत्र राजा

।

(ख) जिन व्यक्तियों ने शासन नहीं किया उनके नाम केवल उस अवस्था में दिए गए हैं जब उनका संबंध किसी राजनैतिक घटना से रहा हो।

इस उपोद्घात के अनंतर अब उक्त चारों संदर्भों की सहायता से ऐक्ष्वाक राजावली का एक असंदिग्ध रूप निर्धारित करना रह जाता है जिसकी चेष्टा आगे की जाती है।

मनु वैवस्वत
|
१ क्षुप[७] = क्षुव
|
२ इक्ष्वाकु

६—यादव-सात्वत-वृष्णि-वंशावलियाँ इसके बड़े अच्छे उदाहरण हैं।

७—मनु की संतति का पुराणों में यह क्रम मिलता है।

मनु वैवस्वत

|
३ विकुक्षि = देवराट् = शशाद, तथा ९९ अन्य पुत्र
|
४ पुरंजय = ककुत्स्थ = इंद्रवाह तथा १४ ,, ,,
|
५ अनंत = सुयोधन (अयोधन)

किंतु मनु और इक्ष्वाकु के बीच क्षुप वा क्षुव का नाम प्रामाणिक अनुश्रुतियों में मिलता है। ऐक्ष्वाक वंशावली के आरंभ ही में आया है—मनोश्चक्षुवत......इत्यादि। अर्थात् मनु के क्षुव से इक्ष्वाकु नामक पुत्र (= अपत्य) हुआ। टीकाकारों ने यहाँ 'क्षुवतः' को भूत-कृदंत मानकर अर्थ किया है—'मनु को ,छींक आने से इक्ष्वाकु उत्पन्न हुए।' परंतु यह अर्थ गलत, अतः अग्राह्य है। भारत (१४।४) में विशाला-राजवंश के वर्णन में, जो एक प्राचीन और प्रामाणिक वर्णन जँचता है, उसकी राजवंशावली भी आती है जिसमें यह क्रम मिलता है—

[इसमें मनु के बाद प्रजाति नाम को छोड़ देना पड़ेगा, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी उसका कोई इंगित नहीं मिलता; दूसरे, हो सकता है प्रजाति शब्द प्रसूति के अर्थ में आया हो ।]

इसी प्रकार भारत में एक सूची दी है कि शासन-खड्ग किस शासक के हाथ से किस शासक के हाथ में गया। इसका भी आरंभिक क्रम इस प्रकार है—

फलतः मनु और इक्ष्वाकु के बीच क्षुव वा क्षुप को स्थान देना और उन्हीं को इक्ष्वाकु-वंश का पहला ऐतिहासिक शासक मानना पड़ता है। इस संबंधमें इस शंका का कि इस जत्थे का नाम क्षुप वा क्षुव न होकर इक्ष्वाकु क्यों हुआ, समाधान इस प्रश्न में है कि इक्ष्वाकुओं का नाम ककुत्स्थ, निमि वा रघु क्यों हुआ अथवा ऐलों का पुरु, भरत वा कुरु क्यों पड़ा (मिलाओ ककुत्स्थेक्ष्वाकुसगररघु यदी इक्ष्वाकु की प्रखरता जान पड़ता है।
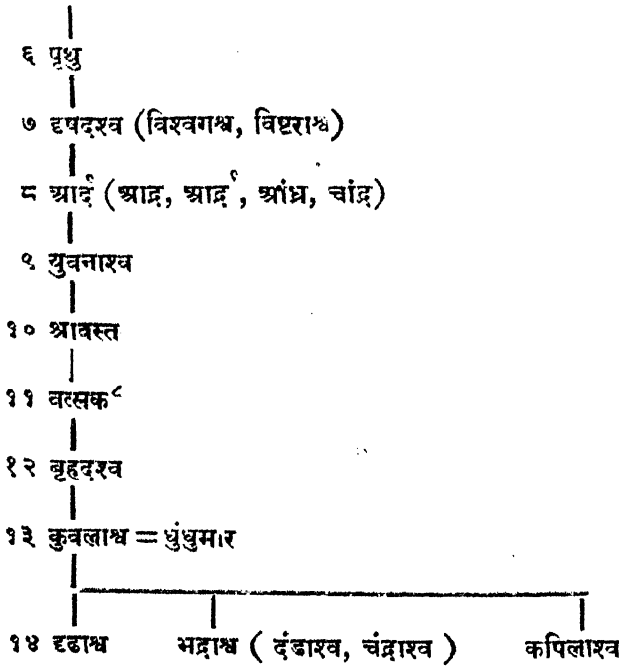
इन वंशावलियों में शासक के सहोदरों के नाम दो ही अवस्थाओं में आए हैं; अर्थात् (१) या तो वे वंशधर (नए वंश के संस्थापक) रहे हों वा (२) राज्यधर हों (उन्होंने राज्य किया हो)। वर्तमान प्रसंग में दृढ़ाश्व के उक्त दोनों भाई वंशधर थे।
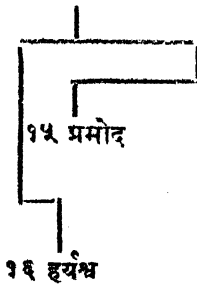
८—मत्स्य-संदर्भ के मत्स्य एवं पद्म तथा कूर्म-संदर्भ के लिंग के अनुसार श्रावस्त का पुत्र वत्सक था। उनके श्लोकों का संकलित पाठ इस प्रकार है—

श्रावस्तश्च महातेजो वत्सकस्तत्सुतोऽभवत् ।
वंशाच्च बृहदश्वोऽभूत् कुवलाश्वस्ततोऽभवत् ॥

(द्रष्ट० डास पुराण, पृ० ३४५)

[वत्सक का वंशक और वत्सुक भी पाठांतर मिलता है।]

कुछ ऐसा आभास मिलता है कि यह नाम वायु-ब्रह्मांड में भी रहा होगा (द्रष्ट० सूची में सत्ताईसवें नाम हर्यश्व के बाद का नोट)। इन कारणों से यह नाम यहाँ होना चाहिए।

अग्निपुराण के इस प्रतीक से—

दृढाश्वस्तु हर्यश्वश्च प्रमोदकः।

यह प्रमाणित होता है कि हर्यश्व और प्रमोद सहोदर थे जिनमें प्रमोद कनिष्ठ था। किंतु मत्स्य एवं कूर्म संदर्भों में दृढ़ाश्व, प्रमोद और हर्यश्व के नाम अनुक्रम से आते हैं; अर्थात् इस क्रम से वे राज्यासीन हुए। अन्य संदर्भों में प्रमोद का नाम नहीं आता।
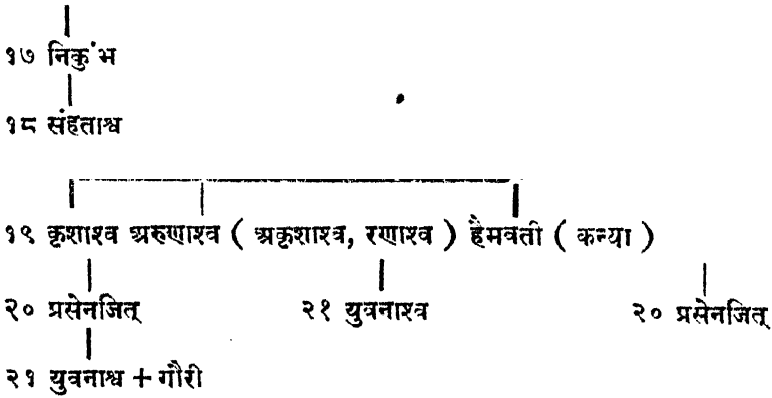
कृशाश्व के बाद वायु और ब्रह्म संदर्भों में प्रसेनजित् का नाम आता है। वायु-ब्रह्मांड से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे किसके पुत्र थे। मत्स्य और कूर्म संदर्भों में कृशाश्व के बाद युवनाश्व का नाम है और इनमें उन्हें अरुणाश्व का पुत्र लिखा है। हरिवंश (ब्रह्म-संदर्भ) ने अधिक ब्योरे में जाकर इस विषय पर प्रकाश डाला है; अर्थात् संहताश्व के दो पुत्रों के सिवा हैमवती नाम की कन्या भी थी। प्रसेनजित् इन्हीं के पुत्र थे। इस चूर्णिका से वायु-ब्रह्मांड वाली अस्पष्टता दूर हो जाती है। जिस अनुक्रम में ये नाम आए हैं उससे पता चलता है कि कृशाश्व के बाद प्रसेनजित् सिंहासनस्थ हुए और उनके बाद युवनाश्व। तदनुसार उक्त क्रम स्थिर किया गया है। मत्स्य ने अप्रधान राजाओं के नाम छोड़ दिए हैं, इसी कारण उसमें प्रसेनजित् का नाम नहीं है।
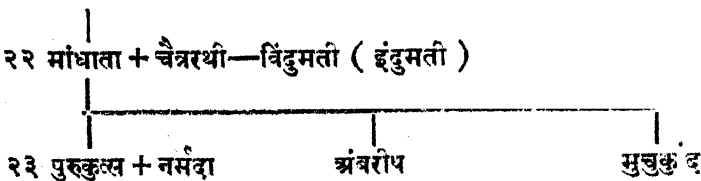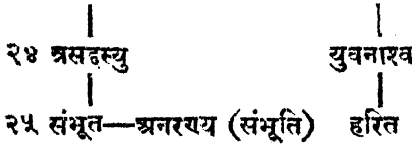
वायु-ब्रह्मांड ने तथा कूर्म-संदर्भ ने संभूत तथा अनरण्य को दो राजा मानकर उनके नाम अनुक्रम में दिए हैं। किंतु यह भूल जान पड़ती है, क्योंकि विष्णु ने स्पष्ट कहा है—'त्रसदस्युनः सम्भूतोऽनरण्यः'। यदि संभूत को यहाँ भूत-कृदंत मानें तो भी बात वही रहती है, अर्थात् त्रसदस्यु के बाद अनरण्य ही आते हैं। किंतु उसे भूत-कृदंत मानना ठीक नहीं, क्योंकि वह सभी पुराणों में संज्ञा-रूप में आया है। विष्णुधर्मोत्तर में भी लिखा है—

पुरुकुत्सः सुतस्तस्य त्रसद्दस्युस्तदात्मजः।
शम्भुस्तस्यात्मजः श्रीमाननरण्येति विश्रुतः॥ (१।१७।३)

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त श्लोक का 'शंभु' संभूत का ही अपरूप है। भागवत तथा गरुड़ ने भी त्रसदस्यु के बाद ही अनरण्य दिया है। अर्थात् संभूत उनके मत से दूसरे राजा न थे। यदि होते तो उनका नाम उन्होंने यथास्थान त्रसदस्यु और अनरण्य के बीच में दिया होता। संभूत को वे अनरण्य का ही अपर नाम मानकर छोड़ गए हैं। हरिवंश (ब्रह्म-संदर्भ) में संभूत के बाद एकदम से अट्ठाईसवें राजा वसुमना तथा मत्स्य-संदर्भ में उनतीसवें राजा त्रिधन्वा आते हैं। अप्रधानता के कारण बीच के नाम उनमें छोड़ दिए गए हैं। अतएव यह अभावात्मक प्रमाण हाँ वा नहीं किसी भी पक्ष का समर्थक नहीं हो सकता। इस भाँति कुल मिलाकर अनरण्य को संभूत से भिन्न न मानने का पलड़ा भारी है। ऐसा जान पड़ता है कि इन वंशावलियों में जो नाम दो टुकड़ों के हैं वे बहुधा किसी वाचना में समग्र रूप में आए हैं, किसी में उनका एक खंड, किसी में दूसरा। फिर प्रमादवश वे दोनों टुकड़े दो स्वतंत्र नाम बन गए हैं। उक्त संभूत-अनरण्य, दिलीप-खट्वांग एवं रघु-दीर्घ-बाहु इत्यादि इसके उदाहरण हैं।
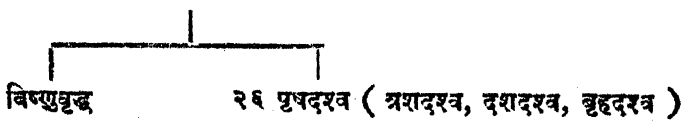
कूर्म-संदर्भ संभूति के दो पुत्र लिखता है—ज्येष्ठ विष्णुवृद्ध, कनिष्ठ अनरण्य। इनमें से विष्णुवृद्ध के वंशज क्षत्र-ब्राह्मण हो गए। अनरण्य राजपरंपरा में रहे।

संभूति का अनरण्य से एकत्व हो जाता है, अतएव विष्णुवृद्ध पृषदश्व के अग्रज ठहरते हैं।

२७ हर्यश्व + दृषद्वती

इनके बाद केवल विष्णु में हस्त नामक राजा आते हैं; किंतु अन्यत्र न मिलने के कारण तथा विष्णु में भी इनके संबंध में कोई विशेष प्रमाण न होने से इस सूची में इनका नाम सम्मिलित नहीं किया गया। हो सकता है ये हस्त इस सूची के ग्यारहवें राजा वत्सक हों, जो विष्णु में भ्रमवश स्थानांतरित होकर यहाँ पहुँच गए हों। इन दोनों नामों में किंचित् साम्य इस उपपत्ति का पोषक है। यदि ऐसा हो तो वत्सक नाम वायु-ब्रह्मांड में भी रहा होगा, क्योंकि विष्णु की वंशावली का आश्रय वहीं है।

|
२८ वसुमना (वसुमान् , सुमन, अरुण, सुमति, सुधन्वा)
|
२९ त्रिधन्वा
|
३० त्र्य्यारुण
|
३१ सत्यव्रत—त्रिशंकु + सत्यरथा (सत्यरता, सत्यव्रता, सत्यधना)

मत्स्य-संदर्भ सत्यव्रत के बाद सत्यरथ नामक एक राजा का नाम देता है। किंतु वास्तव में यह सत्यरथा की, जो सत्यव्रत की केकय-देशजा राजमहिषी का नाम था, दुर्गति है। ब्रह्म-संदर्भ ने इस भ्रम का स्पष्ट निराकरण किया है।

भागवत ने सुदेव का नाम विजय के ऊपर दिया है, अर्थात् उसका क्रम यों है—चंप, सुदेव, विजय। इन दोनों भाइयों के नाम आने का यह कारण भी हो सकता है कि दोनों ही ने राज्य किया हो। किंतु एक मात्र भागवत के आधार पर सुदेव को राजधरों में गिनना समुचित नहीं, उन्हें वंशधर मानना ही ठीक होगा।

|
३७ रुरुक (भीरुक, कारुक, अलर्क)
|
३८ वृक

मत्स्य-संदर्भ में रोहित के बाद एकबारगी वृक का नाम आता है, इससे जान पड़ता है कि बीच के राजा (३३ से ३६ तक) अल्पकालीन एवं अल्प-पराक्रम थे।

पुराणों में सगर की रानियों के नामों तथा उनके पुत्रों के संबंध में मतभेद है। इसका पूरा विमर्श आगे सगर के प्रसंग में किया गया है। आततायीपन के कारण असमंज राज्याधिकार से च्युत कर दिए गए थे। इसी राजनैतिक घटना के कारण उनका नाम वंशावलियों में दिया गया जान पड़ता है।

|
४२ अंशुमान्
|
४३ दिलीप

ब्रह्म-संदर्भ ने इन्हीं की संज्ञा खट्वांग लिखी है, किंतु यह किसी प्रकार स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि एक इस संदर्भ को छोड़कर 'खट्वांग' सर्वत्र द्वितीय दिलीप की संज्ञा है। दूसरे, भारत के षोडशराजिक में दिलीप-खट्वांग का पैत्र नाम ऐडविडि लिखा है। यह द्वितीय दिलीप पर ही घटित होता है, क्योंकि इडविड दिलीप के तीन शासक-पीढ़ी ऊपर पड़ते हैं।

|
४४ भगीरथ
|
४५ श्रुत (विश्रुत, श्रुतवान्)

मत्स्य-संदर्भ में यह नाम नहीं है।

कल्माषपाद के बाद छः-सात राजाओं तक वायु और कूर्म संदर्भ की सूची ब्रह्म और मत्स्य-संदर्भ की सूची से सर्वथा भिन्न है। इस भिन्नता का कारण है, जिसका कुछ वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ वे दोनों अनुक्रम दिए जा रहे हैं—

ब्रह्म-मत्स्य संदर्भ

५४ सर्वकर्मा
|
५५ अनरण्य
|
५६ निघ्न
|
५७ अनमित्र — ५८ रघु

ब्रह्म तथा मत्स्य दोनों ही संदर्भों के अनुसार अनमित्र एवं रघु निघ्न के पुत्र थे। ये एक के बाद एक राजा हुए। ब्रह्म-संदर्भ से यह ध्वनित भी होता है कि इन्होंने अनुक्रम से राज्य किया

|
५९ दुलिदुह

वायु-कूर्म संदर्भ

अश्मक
|
उरकाम

उरकाम के संबंध में पुराणों में जो प्रतीक है उसका पाठ गड़बड़ है। यथा—

(१) अश्मकस्योरकामस्तु मूलकस्तत्सुतोऽभवत्।

—वायु।

(२) अश्मकस्यौरसो यस्तु मूलकस्तत्सुतो भवत्

—ब्रह्मांड।

(३) अश्मकस्योत्कलायां तु मूलकस्तु सुतोऽभवत्।

—कूर्म।

ब्रह्म-संदर्भ के अनुसार रघु के उपरांत अनमित्र के पुत्र दुलिदुह राजा हुए। मत्स्य-संदर्भ यह नाम नहीं देता। किंतु उक्त रघु के बाद से ही इस संदर्भ की सूची गड़बड़ है, जिसका ब्योरा आगे मिलेगा। अतः दुलिदुह का नाम यहाँ रखना उचित जान पड़ता है।

संभवतः दुलिदुह वायु-कूर्म-संदर्भ के विश्वसह का ही अपरूप है, क्योंकि प्रमादवश पुराणों में कितने ही नामों के इस प्रकार अपरूप हो गए हैं। पुराणों का रूप धार्मिक हो जाने पर उसके मूल ऐतिहासिक रूप की जो उपेक्षा और फलतः क्षति एवं दुर्दशा हुई उसमें नामों का ऐसा अपरूप हो जाना एक स्वाभाविक साधारण घटना है। इसी सूची में त्रसद्दस्यु का दुस्सल और इंद्रसख का हंसमुख रूप मिलता है। इसी प्रकार इक्कीसवें राजा युवनाश्व की भार्या गौरी का विशेषण वायु और ब्रह्मांड 'अत्यन्त धार्मिका' देते हैं, जो वस्तुतः 'अतीनारात्मजा' का भ्रष्ट रूप है। वायु की दो प्रतियों में यह शुद्ध रूप मिला है तथा अन्य प्रमाणों से भी इसकी सिद्धि है। जब इस प्रकार की भूलें हो सकती हैं तो विश्वसह का दुलिदुह वा मुंडिद्रुह हो जाना नितांत संभव है इस संभावना की पुष्टि इस साम्य से और भी होती है कि ब्रह्म-संदर्भ के

(४) अश्मकस्योत्तरायां तु मूलकस्तु सुतोऽभवत्।

-लिंग

तनिक ध्यान देने से प्रकट हो जायगा कि इनमें से वायु का पाठ मान्य है, क्योंकि ब्रह्मांड के प्रतीक का अर्थ होता है—"अश्मक का जो औरस (पुत्र) था, उसका लड़का मूलक हुआ"। वह औरस (पुत्र) कौन था? उसका नाम तो होना चाहिए। जान पड़ता है यह पंक्ति लिखते समय किसी लिपिकार का ध्यान ऊपर की उस पंक्ति की ओर चला गया जिसमें अश्मक के कल्माषपाद का क्षेत्रज होने की चर्चा है। फलतः उससे यहाँ औरस लिख गया। अतः यह पंक्ति स्पष्टतः वायुवाली पंक्ति का ही अपपाठ है।

इसी भाँति लिंग-कूर्म के पाठ में दो बार 'तु' 'तु' आ जाने से वह भी टकसाली पाठ नहीं ठहरता। श्री सीतानाथ प्रधान के शब्दों में ब्रह्मांडवाली पंक्ति वायु वाली मूल पंक्ति की प्रथम दुरवस्था है और कूर्म-लिंग वाली उसकी द्वितीय दुरवस्था। अतएव उरकाम का नाम यहाँ रखना समुचित जान पड़ता है।

मूलक

शतरथ (दसरथ)

अनुसार दिलीप दुलिदुह के पुत्र थे और । वायु-कूर्म के अनुसार विश्वसह के। वायु में विश्वसह को पुनीक का पुत्र लिखा है जो अनमित्र का विरूप हो सकता है।

इडविड
|
वृद्धशर्मा + पितृकन्या

इन दोनों शाखाओं में प्रधान सर्वकर्मा वाली ही है; क्योंकि वे कल्माषपाद के ज्येष्ठ एवं औरस पुत्र थे। उधर अश्मक उनके कनिष्ठ अथच क्षेत्रज पुत्र थे। किंतु इस प्रधान शाखा का स्थान दुलिदुह के बाद, जिनका समीकरण हम विश्वसह के साथ करते हैं, संभवतः अश्मक वाली शाखा ने ले लिया, क्योंकि दुलिदुह के उत्तराधिकारी दिलीप खट्वांग को महाभारत इडविड का (जो अश्मक शाखा के थे) अपत्य लिखता है।

|
५९ विश्वसह (विश्व महत्) + यशोदा
|
६० दिलीप खट्वांग + सुदक्षिणा मागधी
|
६१ रघु-दीर्घबाहु

वायु और कूर्म-संदर्भ ने दिलीप-खट्वांग और रघु के बीच में दीर्घबाहु नामक एक राजा माना है। किंतु यह दीर्घबाहु रघु की ही संज्ञा है, क्योंकि ब्रह्म-संदर्भ का स्पष्ट लेख है कि (१) दिलीप दशरथ के प्रपितामह थे एवं (२) रघु का ही नाम दीर्घबाहु भी था। 'रघुवंश' ने भी दिलीप के बाद ही रघु को रखा है और उसका प्रमाण हम पुराणों से बढ़कर मानते हैं, क्योंकि कालिदास ने जो कुछ लिखा है, बहुत प्रमाण और गवेषणापूर्वक। दूसरे, उनके समय में इस संबंध की बहुत अधिक सामग्री उपलब्ध रही होगी। संभव है मूल 'वंश' भी उन्हें प्राप्त रहे हों।

|
६२ अज + इंदुमती वैदर्भी

मत्स्य-संदर्भ में दिलीप से अज तक के नाम इस प्रकार हैं—दिलीप, अज (अजक), दीर्घबाहु, आजपाल (प्रजापाल, अजापाल)। किंतु किसी और संदर्भ से एवं 'रघुवंश' से इस अनुक्रम की पुष्टि न होने के कारण यह मान्य नहीं।
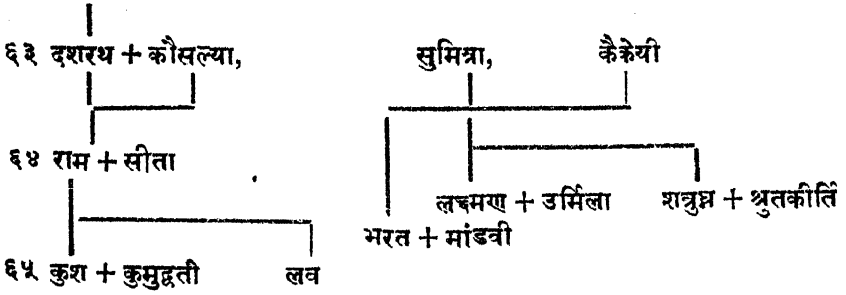
ऊपर कहा जा चुका है कि कुश की आठवीं पीढ़ी बाद के अहीनगु के उपरांत महाभारत-काल तक की ऐक्ष्वाक वंशावली के दो रूप मिलते हैं। इनमें से वायु तथा ब्रह्म-संदर्भों की वंशावली ही कुशवाली परंपरा की है। इसी से कालिदास ने भी उसी क्रम को रघुवंश में रखा है। अभी ऊपर कालिदास की प्रामाणिकता की चर्चा हो चुकी है, अतः यहाँ भी वही अनुक्रम दिया जाता है। कालिदास ने कुश से अग्निवर्ण (आगे सं० ६५) तक के ही नाम दिए हैं। इन नामों में वायु-एवं ब्रह्म-संदर्भों के नामों से उच्चारण-भेदों को छोड़कर केवल तीन में अंतर है जो हमारे निर्णय-सहित इस प्रकार हैं—

(१) वायु-संदर्भ के विष्णुपुराण में अहीनगु के उपरांत रुरु का नाम आता है। ब्रह्म-संदर्भ में उसी स्थान पर सुधन्वा का नाम है। यह रुरु वा सुधन्वा रघुवंश में नहीं हैं। किंतु यतः यह दोनों संदर्भों में प्राप्त हैं, अतएव उन्हें इस सूची में स्थान दिया गया है। विष्णु से ब्रह्म-संदर्भ अपेक्षाकृत प्रामाणिक है, सो उक्त राजा का उसी संदर्भवाला नाम, अर्थात् सुधन्वा, ग्रहण किया गया है। जान पड़ता है ये एक अप्रधान राजा थे, इसी से वायु-ब्रह्मांड एवं कालिदास इन्हें छोड़ गए हैं।

(२) संभवतः अप्रधानता के कारण ही कालिदास शिल (='भारत' के शल, वायु-ब्रह्मांड के दल; ब्रह्म-संदर्भ में यह नाम नहीं है) के बाद दल का नाम भी छोड़ गए हैं। किंतु यह नाम वायु तथा ब्रह्म संदर्भों में (वायु-ब्रह्मांड में बल, विष्णु में वत्सल, भागवत में बलस्थल एवं ब्रह्म-संदर्भ में अनल) है। साथ ही 'भारत' में भी इनका उपाख्यान है जिससे पता चलता है कि दल, शल के अनुज थे और उनके बाद राजा नियुक्त हुए थे। अतएव शिल के बाद दल का नाम नहीं छोड़ा जा सकता।

(३) पौराणिक सूची में हिरण्यनाभ-कौसल्य-वशिष्ठ वा वरिष्ठ एक नाम जान पड़ता है। किंतु कालिदास में हिरण्यनाभ, कौसल्य तथा ब्रह्मिष्ठ अनुक्रम में

तीन राजा हैं। यहाँ कालिदास का ही पक्ष ठीक है; पुराणों में भूल है, क्योंकि शतपथ (१३।५।४।४) तथा शांखायण श्रौतसूत्र (१६।६।११,१३) में हिरण्यनाभ कौसल्य नहीं, हैरण्यनाभ कौसल्य का उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि हिरण्यनाभ तथा कौसल्य एक व्यक्ति न थे, बल्कि कौसल्य हिरण्यनाभ के अपत्य थे। इसी से उपलक्षित है कि ब्रह्मिष्ठ भी एक तीसरे व्यक्ति थे। अग्निवर्ण तक के जो नाम रघुवंश में हैं उनका उसी में का रूप इस सूची में माना गया है। उनके मुख्य पौराणिक रूपांतर कोष्ठक में दिए गए हैं।

मत्स्य तक में भविष्य-वंशावली बृहद्बल से चलती है, इससे भी इस शाखा की प्रधानता प्रतिपादित होती है।

इनके बाद मत्स्य-कूर्म संदर्भों की सूची अलग होती है जिसका सर्वोत्तम रूप मत्स्य में इस प्रकार है—

|
७९ चंद्रगिरि
|
८० भानुचंद्र
|
८१ श्रुतायु

इन नामों में दोनों ही संदर्भों की किसी सूची में अंतर नहीं है। केवल लिंग में श्रुतायु का बृहद्बल से समीकरण है। यथा—

श्रुतायुरभवत् तस्मात् बृहद्बल इति श्रुतः ।
..................भारते यो निपातितः ॥

|
८२ शिल (शल, दल, देवल)
|
८३ दल (बल, वज्ञल, बलस्थल, अनल)
|
८४ उन्नाभ (औंक, उलूक, उत्क, उक्थ)
|
८५ वज्रणाभ (व्रजनाभ)
|
८६ शंखन
|
८७ व्युषिताश्व (ध्युषिताश्व, युषिताश्व)
|
८८ विश्वसह (विधृति)
|
८९ हिरण्यनाभ
|
९० कौसल्य
|
९१ ब्रह्मिष्ठ (वशिष्ठ, वरिष्ठ)
|
९२ पुष्य (पुष्प)
|
९३ ध्रुवसंधि (अर्थ सिद्धि)
|
९४ सुदर्शन
|
९५ अग्निवर्ण
|
९६ शीघ्र (शीघ्रग)

९७ मरु (मनु)

९८ प्रसुश्रुत

९९ सुसंधि

सुसंधि के बाद केवल विष्णु तथा भागवत में अमर्ष वा अमर्षण का नाम है, किंतु और समर्थन न मिलने के कारण वह यहाँ नहीं रखा गया।

१०० सहस्वान् (महस्वान्)

१०१ विश्रुतवान् (विश्वभव, विश्वसाह्व)

भागवत में यहाँ अनुक्रम से प्रसेनजित् तथा तक्षक के नाम आए हैं, किंतु वे अन्यत्र से प्रमाणित नहीं होते, अतः छोड़ दिए गए हैं।

१०२ बृहद्बल

ये बृहद्बल भारत-युद्ध में काम आए। इनके बाद भविष्य ऐक्ष्वाक वंशावली आरंभ होती है, जिसपर फिर कभी विचार किया जायगा।

गाथा-सप्तशती

उसका रचनाकाल और रचयिता

[ले० श्री मि० ला० माथुर]

गाथा-सप्तशती और हाल (शालिवाहन)

गाथा-सप्तशती महाराष्ट्रीय प्राकृत का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, सात सौ मुक्तक पद्य हैं जो प्रसिद्ध 'आर्या' या 'गाथा' छंद में होने के कारण गाथा कहे जाते हैं। सप्तशती का मुख्य विषय शृंगार है और वह सात शतकों में विभाजित है। प्रत्येक शतक के उपरांत निम्नलिखित गाथा प्रायः सब प्रतियों में मिलती है—

रसिअजणहिअ अदइस कइवच्छलपमुह सुकइणिम्मविए।
सत्तसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअम् ॥

(इस प्रकार रसिक जनों के हृदयों को प्रिय कविवत्सल जिनका प्रमुख है उन कवियों द्वारा संकलित सप्तशतक के (अमुक) शतक का अंत होता है।)

स्पष्ट है कि सप्तशती एक संग्रह है जिसका संकलन कुछ सुकवियों ने किया जिनका प्रमुख 'कविवत्सल' विरुद वाला कोई राजा है।

प्रथम शतक की तीसरी गाथा से प्रकट होता है कि सप्तशती की ये गाथाएँ 'कोटि' (गाथाओं) में से (चयन करके) कविवत्सल हाल के द्वारा संकलित हुई। गाथा यह है—

सत्तसताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झ आरम्मि।
हालेण विरइआइं सालंकाराणं गाहाणम् ॥ ३ ॥

इस गाथा से स्पष्ट है कि 'कविवत्सल' हाल नामक राजा का विरुद है और इसी लिये यह संग्रह हाल द्वारा विरचित भी कहा जाता है

वेबर के अनुसार सप्तशती की अब तक सात प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी हैं और लगभग तेरह टीकाएँ की जा चुकी हैं।[1] टीकाकारों ने[2] उक्त उद्धृत गाथा में आए हुए 'हालेण' (हाल के द्वारा) पद का रूपांतर 'शालिवाहनेन', 'शालेण' और कहीं कहीं 'शालवाहनेन' भी दिया है। यह उस परंपरा की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार विद्वज्जन और टीकाकार उपलब्ध 'गाथासप्तशती' के 'संकलन-कर्ता' हाल को 'शालिवाहन' या शालवाहन नाम से भी जानते आए हैं। इसका कारण वस्तुतः यह है कि 'हाल' शब्द 'शालिवाहन' अथवा 'शालवाहन' नामों का प्राकृत रूपांतर है। इसी लिये वास्तविक नाम शालवाहन 'सालाहण' और 'हालाहण' या 'हाल' में परिवर्तित हो गया।

'गाथा-सप्तशती' की एक पुरानी प्रति में, जो रावसाहब विश्वनाथ नारायण मंडलीक महोदय द्वारा सन् १८७३ ई०[3] में प्रकाश में लाई गई थी, इस ग्रंथ का नाम 'शालिवाहन सप्तशती' ही मिला है। यह नाम इसके रचयिता की ओर संकेत करता है। इसकी पुष्टि सप्तशती की कतिपय प्रतियों में उपलब्ध इस अंतिम गाथा से भी होती है—

ऐसो कइणामंकिश्र गाहापडिबद्ध वड्डिश्रा मोश्रो।
सत्त सश्राश्रो समत्तो सालाहण विरइश्रो कोसो ॥[4]

१—वेबर : Das Saptasatakam des Hala, XXVIII; Indische studien XVI, p. 9.

२—दुर्गाप्रसाद शास्त्री (जयपुर) द्वारा संकलित 'गाथासप्तशती' (निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित) में इस गाथा पर टिप्पणी—पृ० २-३.

३—जर्नल ऑव् रा० ए० सो०, बाम्बे ब्रांच, जि० १०, सं० २६, पृ० १२७-१३८.

४—वेबर : Das Saptasatakam, verse 409. यह गाथा निर्णय-सागर द्वारा मुद्रित सप्तशती में पृ० २०७ की टिप्पणी में भी उद्धृत है। इसका संस्कृत रूपांतर इस प्रकार है—

एषः कविनामांकित-गाथा-प्रतिबद्धवर्धितामोद ।
सप्तशतकः समाप्तः शालिवाहनेन विरचितः कोशः ॥

भ्रम से यहाँ संस्कृत रूपांतर करते हुए टीकाकारों ने 'सातवाहनेन' पद रख दिया है। मूल गाथा में 'सालाहण' है, जिसका शुद्ध 'शालवाहन' ही है। बाद के तथा आधुनिक टीकाकारों में वास्तविक नाम 'सालाहण' (शालवाहन) और 'शाल' को बदलकर 'सातवाहन' और 'हाल' लिखने की प्रवृत्ति रही। यह ज्ञातव्य है कि 'सातवाहन', 'हाल' और 'शालवाहन'

'शालिवाहन सप्तशती' नाम वाली प्रति से ही यह भी विदित होता है कि उक्त ग्रंथ के संकलन में हाल के छः सहयोगी कवि थे—(१) बोदित (बोदिस), (२) चुल्लुहः (३) अमरराज (४) कुमारिल (५) मकरंदसेन (६) श्रीराज। यह माना जा सकता है कि ये कवि ही वे 'सुकवि' होंगे जिनमें प्रमुख 'कविवत्सल' शालिवाहन था। 'गाथा-सप्तशती' की प्रायः सभी प्रतियों में प्रारंभ की सात गाथाएँ तो इन्हीं कवियों द्वारा रचित मिलती भी हैं। बहुत संभव है कि शालिवाहन और उसके छः सहयोगी उपर्युक्त कवियों ने सप्तशती के एक-एक शतक का संकलन किया हो।

किसी भ्रांति से यह 'गाथा-सप्तशती' शालिवाहन की होते हुए भी उस 'हाल' उपनाम वाले सातवाहन (शालिवाहन) की मानी जाने लगी जिसके नाम के साथ एक विशाल 'गाथाकोष' की प्रसिद्धि जुड़ी हुई है और जो ई० प्रथम शताब्दी में 'आंध्रभृत्य' या 'सातवाहन' वंश का प्रसिद्ध राजा था।[५]

हाल (सातवाहन, शालवाहन) और गाथाकोष

संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र प्राकृत सुभाषितों के किसी संग्रह 'गाथाकोष' का उल्लेख है। 'गाथा-सप्तशती' तो केवल सात सौ गाथाओं का संकलन है, परंतु गाथाकोष वस्तुतः एक अत्यंत बृहद् ग्रंथ रहा होगा। आगे हम उन प्रमाणों का अनुशीलन करेंगे जो गाथाकोष के संबंध में उपलब्ध हुए हैं तथा जिनसे यह निष्कर्ष निकालने का पुष्ट आधार मिलता है कि 'गाथा-सप्तशती' और 'गाथाकोष' दो भिन्न कृतियाँ हैं।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य में 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) नामक महान् कवि और उसके गाथाकोष के संबंध में अत्यंत स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। बाण-भट्ट, उद्योतनसूरि, अभिनंद, राजशेखर जैसे प्रसिद्ध कवियों और लेखकों ने जिन

या 'सालाहण' दक्षिण के सातवाहन या आंध्रभृत्य वंश के एक प्रसिद्ध कवि, प्राकृत-प्रेमी और शक-संवत्सर-प्रवर्तक राजा के नाम या उपनाम हुए हैं, जिसका समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी में ७८ ई० के आसपास माना जाता है। हम आगे इसका उल्लेख करेंगे।

५—अधिकांश टीकाकार एवं आधुनिक विद्वान्—जैसे श्री मिराशी, गौ० ही० ओझा, श्री जगनलाल गुप्त, डा० आर० जी० भंडारकर आदि—इसे ही सातवाहन 'हाल' द्वारा विरचित 'गाथाकोष' मानते हैं तथा इसका रचनाकाल ई० प्रथम या द्वितीय शताब्दी में निर्धारित करते हैं।

शब्दों में उक्त गाथाकोष की ओर संकेत किया है उनसे वह एक विशालकाय ग्रंथ ही होना चाहिए। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—

(१) रामचरित[६] के रचयिता अभिनंद (आठवीं-नवीं शताब्दी) ने लिखा है—

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम्।
स्वकोषः कविकोषाणामाविर्भावाय सम्भृतः॥ (रामचरित ६।६३)
हालेनोत्तम पूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः।
ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं।
सद्यः सत्क्रिययाऽभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत्॥ (वही २२।१००)

कवि की पंक्तियाँ स्पष्ट संकेत करती हैं कि हाल केवल कवि ही नहीं, एक महान् राजा और कवियों का आश्रयदाता था, जिसकी राजसभा में श्रीपालित नामक राजकवि था।

(२) उद्योतनसूरि (७७८ ई० के लगभग) ने अपनी 'कुवलयमाला' में लिखा है[७]—

पालित्तय सालाहणछप्पएणय सीहनायसद्देण।
संखुद्धमुद्धसारङ्गउ व्व कहता पयंदेमि॥
निम्मल गुणेण गुण गुरुयएण परमत्थरयण सारेण।
पालित्तेयण हालो हारेण व सहइ गोट्ठीसु॥
चक्काय जुवल सुहया रंमत्तण रायहंसकयहसिसा।
जस्स कुल पव्वयस्य व वियरइ गङ्गा तरङ्गमई॥
भणिय विलास वइत्तण चोक्किले जो करेइ हलिए वि।
कव्वेण किं पडत्थे हाले हाला वियारे व्व॥
पणइहिं कइयणेण य भमरेहिं वजस्य जायएणएहिं।
कमलायरो व्व कोसो विलुप्पमाणो वि हु न क्षीणो॥

संक्षेप में, हाल तीन पालियों (मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री) का प्रेमी और प्राकृत-कवियों का आश्रयदाता था एवं कवि-गोष्ठियों को सुशोभित करता था।

६, ७—ये श्लोक एवं गाथाएँ श्री दलाल महोदय ने स्वसंपादित राजशेखर कृत 'काव्य-मीमांसा' में भी उद्धृत की हैं। द्रष्टव्य संपादकीय टि०, पृ० १२।

उसने अपनी राजसभा के कवियों द्वारा एक ऐसा विशाल गाथाकोष निर्मित करवाया जो इतना अक्षय्य था कि कवियों द्वारा निरंतर उसका उपयोग करने पर भी वह विलुप्यमान नहीं हुआ।

(३) प्रसिद्ध कवि राजशेखर (८६०-९२० ई०) ने अपने प्राकृत नाटक 'कर्पूरमंजरी' में विदूषक द्वारा हाल को हरिचंद्र, नंदिचंद्र, कोटीश आदि प्रसिद्ध प्राकृत सुकवियों के साथ स्मरण कराया है—

उज्जुअं एव्व ता किं ण भणइ, अम्हाणं चेडिआ हरिअन्दणन्दिअन्द।
कोहिस हालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइत्ति।

इससे स्पष्ट है कि हाल प्राकृत भाषा का उच्च कोटि का कवि था।

इसी राजशेखर कवि ने अपने संस्कृत ग्रंथ सूक्तिमुक्तावलि[८] में एक सालवाहन राजा के द्वारा ग्रथित गाथाकोष के विस्तार का संकेत करते हुए लिखा है—

जगत्यां ग्रथिता गाथाः सातवाहन भूभुजा।
व्यधुः धृतेस्तु विस्तारमहो चित्रपरम्परा॥

अर्थात् जगत में राजा सातवाहन द्वारा संकलित गाथाएँ (संकलनकर्ता के) धैर्य का विस्तार बतला रही हैं। इसके विस्तार की विचित्रता पर आश्चर्य होता है। दूसरे चरण के शब्दों में स्पष्ट संकेत है कि राजा सातवाहन का गाथा-संग्रह इतना विशाल था कि उसके संग्रहकर्ता का धैर्य उस ग्रंथ के विस्तार के कारण ही प्रशंसनीय है जिसको देखकर अत्यंत आश्चर्य होता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्राचीन कोषकारों[९] ने 'हाल', 'शाल', 'शालवाहन' और सालवाहन को पर्याय के रूप में माना है। इसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उद्योतन सरि ने 'हाल' के जिस गाथाकोष

८—द्रष्टव्य—श्री सी० डी० दलाल द्वारा संपादित 'काव्यमीमांसा', संपादकीय टिप्पणियाँ, पृ० १२; श्री भगवद्दत्त, भारतवर्ष का इतिहास, आंध्रभृत्य-वंश-विवरण। यह श्लोक प्रसिद्ध है तथा निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित 'गाथासप्तशती' की भूमिका में भी उद्धृत है।

९—हेमचंद्र, अभिधान-रत्नमाला; देसीनाममाला, वर्ग ८, गाथा ६१—'हालो-सातवाहनः' वा 'सालाहणम्मि हालो'; अमरकोष (क्षीर-कृत)—'हालः सातवाहनः शालवाहनोऽपि'।

का वर्णन किया है वह, और राजशेखर द्वारा उल्लिखित सातवाहन द्वारा प्रथित गाथा-संग्रह, वस्तुतः एक ही होंगे।

इसी राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यमीमांसा[10] में भी राजचर्या-प्रसंग में राजा सालवाहन और उसकी कविगोष्ठियों तथा उसके कवियों और विद्वानों को पुरस्कृत करने का उल्लेख किया है। उद्योतन सूरि ने ठीक यही वर्णन हाल (शालिवाहन) का भी दिया है, जिससे सिद्ध होता है कि 'हाल' शालिवाहन और 'सातवाहन' एक ही राजा के नामांतर हैं।

(४) संस्कृत के प्रख्यात लेखक बाणभट्ट (सातवीं शताब्दी) ने अपने 'हर्षचरित' के प्रारंभिक अंश में इसी सातवाहन राजा द्वारा विरचित सुभाषितरत्नों के एक कोष की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषरत्नैरिव सुभाषितैः॥

सातवाहन ने विशुद्ध जाति के रत्नों के सहस्र सुभाषितों से अविनाशी और अग्राम्य कोष बनाया।

सातवाहन राजा ने उक्त विशालकाय ग्रंथ द्वारा इतनी कीर्ति अर्जित की थी कि उसकी उक्त कवियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। यहाँ तक कि परवर्ती कविगण विशाल कृतियों और उनके रचयिताओं की उपमा 'शालवाहन' (सातवाहन) और उसके उक्त गाथाकोष से देने लगे। उदाहरणार्थ, एक प्राचीन गाथा में रविषेण नामक कवि को 'पद्मचरित' नामक बृहद् काव्य की रचना करने के कारण ही सालाहण (शालवाहन) कहा गया है। गाथा इस प्रकार है[11]—

जेहि कए रमणिज्जे वरंग पउमाण चरियवित्थारे।
कह व न साला हणिज्जे ते कइणो जडिय रविसेणो॥

हेमचंद्र (१०८८–११७२) मेरुतुंग, जिनप्रभसूरि आदि परवर्ती काल के जैन लेखकों ने अपने ग्रंथों में सालवाहन और उसके गाथाकोष के संबंध में अत्यंत स्पष्ट और विशद सूचनाएँ दी हैं—

१०—तत्र यथासुखमासीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत् भावयेत्परीक्षेत् च। वासुदेव-सातवाहन-शूद्रक-साहसाङ्कादीन्सकलसभापतीन्दानमानाभ्यां कुर्यात्।

—काव्यमीमांसा, पृ० ५५

११—वही; सं० टि०, पृ० १३

(१) प्रसिद्ध कोषकार हेमचंद्र चार विद्वान् राजाओं—विक्रमादित्य, शालिवाहन, मुंज और भोज—के नाम गिनाते हुए शालिवाहन को 'हाल' या 'सातवाहन' भी लिखता है।[११]

(२) जिनप्रभसूरि (चौदहवीं शताब्दी) ने अपने 'कल्पप्रदीप' में जैनों के तीर्थों का वर्णन करते हुए प्रतिष्ठान (या पैठन) नामक नगर का वर्णन किया है जहाँ के राजा सातवाहन के अनुरोध पर कपिल, आत्रेय, बृहस्पति और पांचाल ने चतुर्लक्ष श्लोकों के ग्रंथ का सार एक श्लोक[१२] में इस प्रकार दिया—

जीर्णे भोजनमात्रेयः कपिलः प्राणिनो दया।
बृहस्पतिरविश्वासः पांचालः स्त्रीषु मार्दवं ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कपिल आदि ये चार नाम प्रतीक रूप हैं, क्योंकि ये लेखक क्रमशः दर्शन, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र और कामसूत्र के प्रसिद्ध रचयिता हो चुके हैं और ये ही, संभवतः, गाथाकोष के एक-एक लाख गाथाओंवाले चार भागों के विषय भी थे। यह चार लाख श्लोकों का ग्रंथ 'गाथाकोष' ही हो सकता है।

(३) मेरुतुंग ने 'प्रबंधचिंतामणि'[१३] में सातवाहन और गाथाकोष के विषय में लिखा है—

स श्रीसातवाहनस्तं पूर्वभववृत्तान्तं जातिस्मृत्या साक्षात्कृत्य ततः प्रभृति दानधर्ममाराधयन् सर्वेषां महाकवीनां विदुषां च संग्रहपरः चतसृभिः स्वर्णकोटिभिः गाथाचतुष्टयं क्रीत्वा सप्तशतीगाथाप्रमाणं सातवाहनाभिधानं संग्रहगाथाकोषं शास्त्रं निर्माप्य नानावदातनिधिः सुचिरं राज्यं चकार।

११—ज० बां० ब्रां० रा० ए० सो०, जि० १०, पृ० १३१, 'शालिवाहन और शालिवाहन सप्तशती' लेख।

१२—सिंघी-जैन-ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित 'विविध-तीर्थ-कल्प' प्रतिष्ठान-पत्तन-कल्पः, पृ० ४७। श्लोक इस प्रकार हैं—

कपिलात्रेय-बृहस्पति-पंचाला इह महीभृदुपरोधात्।
न्यस्तस्वचतुर्लक्षग्रंथार्थश्लोकमेकमप्रथयन् ॥ ७ ॥
स चायं श्लोकः।
जीर्णे भोजनमात्रेयः·············स्त्रीषु मार्दवं ॥ ८ ॥

१३—सिंघी-जैन-ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित प्रबंधचिंतामणि, पृ० १०—११.

इससे विदित होता है कि सातवाहन ने चार लाख स्वर्णमुद्राओं से 'गाथा-चतुष्टय' क्रय करके 'सप्तशती-गाथा-प्रमाण' सातवाहन नाम से संग्रह-गाथाकोष शास्त्र निर्माण करवाया और चिरकाल तक राज्य किया।

मेरुतुंग के इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि गाथाकोष में चार लाख गाथाओं का संकलन होने की बात शताब्दियों तक परंपरागत रूप से विदित थी और उसके निर्माण में राजा सातवाहन को कवियों को विपुल धन देना पड़ा। जिन-प्रभ सूरि का यह कथन कि गाथाकोष चार भागों में विभक्त था और उसमें चार लाख गाथाएँ थीं, मेरुतुंग के उक्त उद्धरण से भी पुष्ट होता है। जान पड़ता है चार संग्रहों में संकलित होने के कारण ही गाथाओं के इन संग्रहों को मेरुतुंग ने 'गाथा-चतुष्टय' कहा। इसका अर्थ केवल 'चार गाथा' लगाना तो हास्यास्पद होगा, क्योंकि केवल चार गाथाओं के लिये तो इतना प्रचुर धन नहीं व्यय किया जाता। मेरुतुंग ने स्वयं यह बताते हुए कि वे गाथाएँ किस कोटि की थीं, उस गाथाचतुष्टय की आठ गाथाएँ[१४] उद्धृत की हैं और दो अन्य गाथाओं[१५] द्वारा यह संकेत किया है कि इन आठ गाथाओं में से प्रथम चार गाथाओं जैसी दस कोटि और दूसरी चार जैसी नव कोटि गाथाएँ शालिवाहन ने ग्रथित कीं। दस कोटि और

१४—ये गाथाएँ मुद्रित प्रबंधचिंतामणि के पृ० ११ पर दी हुई हैं। इन आठ में से केवल दो गाथाएँ (७।६१ और ७।६९) ही मुद्रित गाथासप्तशती में मिलती हैं। शेष का संकलन संभवतः सप्तशती में नहीं किया गया।

१५—हारो वेणीदण्डो खडुग्गलियाइं तह य तालुत्ति।
एयाइं नवरि सालाहणेण दह कोडिगहियाइं ॥ १ ॥

तथा—
कयलितरु विज्झगिरी नेहाहारो य चन्दणदुमोय।
एयाओ नवरि सालाहणेण नव कोडि गहियाओ ॥ १० ॥

यह ज्ञातव्य है कि प्रथम चार गाथाओं में प्रत्येक में क्रमशः 'हार' 'वेणीदण्डो', 'खडुग्गलियाइं' और 'तालु' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार दूसरी चार गाथाओं में 'कदलितरु', 'विन्ध्यगिरि', 'नेहाहारो' और 'चन्दनद्रुम' शब्द भी क्रमशः प्रत्येक में मिलते हैं तथा साहित्यिक उक्ति के वे विषय भी हैं। इस प्रकार श्लोक या गाथा के एक मुख्य शब्द को उपर्युक्त गाथाओं में प्रतिनिधि रूप से उस 'गाथा' को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया है।

नव कोटि संख्याएँ अत्युक्ति हों तो भी यह अनुमान किया जा सकता है कि गाथा-कोष में करोड़ों नहीं, तो लाखों गाथाएँ अवश्य रही होंगी।

(४) राजशेखर सूरि[१६] (१३४८ ई०) नामक जैन लेखक ने अपने 'चतुर्विंशति प्रबंध' में स्पष्ट लिखा है कि शालिवाहन या सातवाहन ने कवियों और पंडितों की सहायता से चार लाख प्राकृत गाथाएँ विरचित करवाकर उसे 'कोष' का नाम दिया। इससे भी गाथाकोष की विशालता ही प्रमाणित होती है, जिसके आधार पर बाण, राजशेखर, उद्योतन सूरि जैसे प्रख्यात लेखकों को भी उसके संबंध में अत्यंत प्रशंसात्मक उक्तियाँ कहनी पड़ीं।

शालिवाहन की ७०० गाथाओंवाली 'गाथा-सप्तशती' और सातवाहन (शालवाहन या हाल) द्वारा विपुल द्रव्य व्यय करके विरचित चार लाख गाथाओं के विशाल गाथाकोष के संबंध में जो सूचनाएँ ऊपर दी गई हैं उनके समुचित अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये दोनों ग्रंथ और इनके संकलनकर्ता या रचयिता एक-दूसरे से बहुत भिन्न और पृथक् हैं। परंतु दोनों के नाम-साम्य से बड़ी भ्रांति हो सकती है और इसके संबंध में यही हुआ भी है।

चार लाख गाथाओं के जिस कोष का उल्लेख भिन्न-भिन्न शताब्दियों के कवि और लेखक अपने ग्रंथों में करते आए हैं, दुर्भाग्य से उसकी कोई प्रति अब तक उपलब्ध नहीं है। उसके अभाव में उपर्युक्त 'गाथा-सप्तशती' नाम से प्रसिद्ध अपेक्षाकृत अत्यंत लघु गाथा-संग्रह को ही उसके टीकाकार और प्राचीन लेखक तक सातवाहन का विशाल गाथाकोष मानते रहे, फिर साधारण लिपिकारों की तो बात ही क्या ? कृति के स्वरूप और कर्ता के नाम इत्यादि में विचित्र साम्य होने के कारण, अनजान में या असावधानी से, यह भूल शताब्दियों तक चलती रहने के कारण परंपरागत-सी हो गई। यहाँ तक कि आधुनिक काल में भी 'गाथा-सप्तशती' के टीकाकारों तथा अन्य प्राचीन इतिहास के विद्वानों को भी यही भ्रांति रही है।

'गाथा-सप्तशती' को सातवाहन का गाथाकोष मान लेने से कई प्रकार की ऐतिहासिक उलझनें उत्पन्न हो गई हैं; जैसे—

(१) गाथा-सप्तशती को परवर्ती युग की रचना न मानकर सातवाहन के आनुमानिक समय, ई० प्रथम शताब्दी, की रचना मान लिया गया और तदनुसार—

१६—ज० बां ब्रां० रा० ए० सो०, जि० १०, पृ० १३५

(२) गाथा-सप्तशती में वर्णित या उल्लिखित कई देवी-देवताओं, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्तियों, रीति-रिवाजों और रहन-सहन के ढंग या घटनाओं को भी ई० सन् के प्रारंभिक वर्षों का बताया जाने लगा, जिससे कई असत्य और असंभव कल्पनाएँ तक करनी पड़ीं।

'गाथा-सप्तशती' की उपलब्ध प्रतियों के अंतःपरीक्षण के आधार पर कई विद्वानों ने उसके प्रथम शताब्दी की रचना माने जाने में संदेह तो अवश्य किया है, परंतु प्रायः विद्वानों की धारणा अब भी यही है कि 'गाथा-सप्तशती' ही 'गाथाकोष' है तथा इसका रचयिता शालिवाहन प्रथम शताब्दी का प्रसिद्ध राजा हाल-सातवाहन ही है। 'गाथा-सप्तशती' के विषय में निम्नलिखित विद्वानों ने शंकाएँ प्रस्तुत की हैं—

(अ) डाक्टर कीथ सप्तशती की गाथाओं में व्यंजनों की कोमलता के आधार पर उसका समय ई० २०० और ४५० के बीच में निर्धारित करते हैं।[१७]

(आ) वेबर भी कई कारणों से सप्तशती का समय तीसरी और सातवीं शताब्दी के बीच बताते हैं।[१८]

(इ) डा० डी० आर० भंडारकर सप्तशती के अंतःसाक्ष्य (यथा राधाकृष्ण, मंगलवार, विक्रमादित्य आदि के उल्लेख) के आधार पर उसे प्रथम शताब्दी की रचना न मानकर छठी शताब्दी के प्रारंभ की बताते हैं।[१९]

(ई) इनके विपरीत श्री वी० वी० मिराशी गाथा-सप्तशती और गाथाकोष को एक ही मानते हुए कहते हैं कि मूलतः उसका संकलन प्रथम शताब्दी में हाल सातवाहन के द्वारा हुआ था, परंतु मुक्तक गाथाओं का संग्रह होने के कारण उसमें आठवीं शताब्दी तक प्रक्षिप्त गाथाएँ भी जुड़ती रहीं और मूल गाथाएँ बदलती और हटाई जाती रहीं।[२०] परंतु श्री मिराशी ने इस बात का कोई विशेष कारण नहीं बताया कि 'गाथासप्तशती' को ही क्यों गाथाकोष मानना चाहिए। केवल परवर्ती

१७—डा० कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २२४

१८—वेबर, Das Saptasatakam des Hala (1881), Introduction, p. XXII.

१९—आर० जी० भंडारकर स्मारक ग्रंथ, डा० डी० आर० भंडारकर का विक्रम संवत् पर लेख, पृ० १८६

२०—इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, दिसंबर १९४७, जि० २३, पृ० ३००-१०

टीकाकारों द्वारा इसके लिये 'कोष' शब्द का प्रयोग कर देना अथवा इसमें 'हाल' या 'पालित' की भी गाथाओं का समावेश होना ही इन दो कृतियों का एक होना सिद्ध नहीं कर सकते।

कुछ भी हो, विद्वानों में 'गाथा-सप्तशती' के रचनाकाल के संबंध में तीव्र मतभेद अवश्य है। इस संबंध में प्रस्तुत लेखक ने कई प्राचीन कृतियों में अंतर्निहित प्रकरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि न केवल गाथा-सप्तशती का रचनाकाल प्रथम शताब्दी है, अपितु उसका कर्ता भी वह हाल सातवाहन नहीं हो सकता जो प्रथम शताब्दी में दक्षिणापथ के प्रतिष्ठानपुर में प्रतिष्ठित सातवाहन या आंध्रभृत्य वंश का एक प्रसिद्ध राजा हुआ है और जिसकी प्रसिद्धि 'गाथाकोष' के कर्ता के रूप में है। खेद का विषय है कि जो विद्वान् उपलब्ध 'गाथा-सप्तशती' को ही 'गाथाकोष' मानते हैं उन्होंने इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार ही नहीं किया कि उस गाथाकोष के संबंध में जितने भी प्राचीन कवियों और लेखकों ने उल्लेख किया है वे सब उसे कोटि या लाख गाथाओं का संग्रह कहते हैं अथवा उसका ऐसे शब्दों में वर्णन करते हैं जिससे उसके एक अत्यंत विशालकाय महाग्रंथ होने की कल्पना होती है। 'गाथा-सप्तशती' को ही गाथाकोष मानते समय इस संख्या या परिमाण की बात को वे बिलकुल भूल जाते हैं।

परंतु केवल परिमाण के आधार पर ही हम यह कहने का साहस नहीं कर रहे हैं कि 'गाथाकोष' और 'गाथा-सप्तशती' एक नहीं हो सकते; हम यह भी बताने का प्रयत्न करेंगे कि सप्तशती का रचयिता वह सातवाहन नहीं हो सकता जो 'गाथाकोष' का रचयिता माना जाता है।

भिन्न-भिन्न प्राचीन लेखकों की कृतियों में गाथाकोषकार सातवाहन के जो वर्णन उपलब्ध हैं उनसे उसके प्रतापी व्यक्तित्व, दानशीलता, धार्मिक आचरण तथा काव्य और साहित्य के संरक्षक होने की जो धारणा और कल्पना बनती है वह उससे नितांत भिन्न और कुछ अंशों में विपरीत भी है जो हमें 'गाथा-सप्तशती वाले 'हाल' के विषय में स्वयं उस ग्रंथ से होती है। हम नीचे विस्तार से दोनों का तुलनात्मक विवरण देते हुए अपने इस कथन की पुष्टि करेंगे।

(१) 'गाथा-सप्तशती' का हाल (शालवाहन) शैव है, किंतु 'गाथा-कोष' का 'हाल' (सातवाहन) जैन-धर्मावलंबी कहा गया है।

'गाथा-सप्तशती' की मंगलाचरण वाली गाथा में रचयिता ने पशुपति शिव और गौरी की वंदना की है जिससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'गाथा-सप्तशती' का रचयिता शैव है। वह गाथा इस प्रकार है--

पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंतगोरिमुहअन्दम् ।
गहिअग्घपङ्कअं विअ संझासलिलञ्जलिं णमह ॥ १ ॥
[पशुपते रोषारुणप्रतिमासंक्रांत गौरीमुखचंद्रं ।
गृहीतार्घपङ्कजमिव संध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥]

इसके विपरीत गाथाकोषकार 'हाल' (शालवाहन या सातवाहन) एक जैन राजा ज्ञात होता है, क्योंकि प्रायः सभी प्रसिद्ध जैन लेखकों ने इसके नाम से प्रबंध लिखे हैं और उसे जैन मत का संरक्षक और अनुयायी बताया है। शत्रुंजय आदि अनेक जैन तीर्थों के पुनर्निर्माता होने के नाते भी सातवाहन का नाम उनके ग्रंथों में उल्लिखित पाया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कि 'गाथा-सप्तशती' का 'हाल' (शालिवाहन) और 'गाथाकोष' का संग्रहकर्ता 'हाल' एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते।

(२) 'गाथा-सप्तशती' का हाल एक विलासी रुचि का व्यक्ति है, किंतु गाथाकोष का 'हाल' (सातवाहन) धार्मिक और लोक-हितकारी वृत्ति वाला राजा है।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य में आए हुए प्रकरणों से स्पष्ट होता है कि 'गाथाकोष' का संकलनकर्ता 'हाल' सातवाहन एक पराक्रमी, विद्याप्रेमी, दानी और धर्मात्मा राजा था। उसकी तुलना कोषकारों एवं प्राचीन कवियों ने प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् विक्रमादित्य, भोज और मुंज आदि से की है, क्योंकि वह भी इन्हीं की भाँति दानशील, काव्य और कवियों का संरक्षक तथा विजेता था। इसी सातवाहन की प्रशंसा में बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में उसे 'त्रिसमुद्राधिपति' के नाम से स्मरण किया है और यह भी सूचित किया है कि यह दक्षिणापथ का सम्राट् सातवाहन नागार्जुन का समकालीन था। निस्संदेह यह सातवाहन जिसका वर्णन जैन-ग्रंथों में मिलता है, गाथाकोषकार सातवाहन ही है, क्योंकि हेमचंद्र अपने प्रबंधकोष तथा मेरुतुंग अपने 'प्रबंध-चिंतामणि' ग्रंथ में कोषकार सातवाहन को नागार्जुन का शिष्य लिखते हैं।

यद्यपि 'गाथा-सप्तशती' का रचयिता 'हाल' (शालिवाहन) भी प्राकृत कविता का प्रेमी एवं कवियों का आश्रयदाता है, परंतु वह विषयी और विलासी राजा विदित होता है और मुख्यतः शृंगारिक (सो भी चरम विलासिता के भावों से पूर्ण) कविता का प्रेमी है। उसकी रुचि के अनुसार बनी 'गाथा-सप्तसती' इसी प्रकार की गाथाओं से भरी पड़ी है। यह स्मरणीय है कि विद्वानों ने बिहारी के कई दोहों को गाथा-सप्तशती की गाथाओं की छाया बताया है। इस प्रकार दोनों 'हाल' उनके चारित्रिक स्वरूप और उनकी धार्मिक मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होने के कारण एक ही व्यक्ति कदापि नहीं हो सकते।

'गाथा-सप्तशती' का रचना-काल

अब तक सभी विद्वानों का यह मत है कि 'हाल' सातवाहन ई० प्रथम शताब्दी का राजा है, अतः उसके 'गाथाकोष' का रचना-काल भी प्रथम शताब्दी ही होना चाहिए। जैसा कि प्रारंभ में उल्लेख किया जा चुका है, भ्रांति से प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने 'गाथा-सप्तशती' को ही 'गाथाकोष' का पर्याय मान लिया है; परंतु 'गाथा-सप्तशती' को अंतःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दोनों के आधार पर प्रथम शताब्दी की रचना मानना भूल है। पहले हम बहिःसाक्ष्य का अनुशीलन करेंगे।

(१) बाणभट्ट, उद्योतनसूरि, अभिनंद, राजशेखर तथा परवर्ती जैन लेखकों ने जहाँ-जहाँ सातवाहन (हाल, शालवाहन) के गाथाकोष का उल्लेख या संकेत किया है, वहाँ उन्होंने 'गाथा-सप्तशती' नाम का उल्लेख नहीं किया। यह तो पहले हम बतला चुके हैं कि उन सबने उक्त गाथाकोष को लाखों और करोड़ों गाथाओं का बृहद् संग्रह बताया है, जिसका उपयोग शताब्दियों से कविगण करते रहे हैं, परंतु सात सौ गाथाओं या सात शतकों की बात किसी ने नहीं कही। इससे यह सिद्ध होता है कि ७०० गाथाओं का 'गाथा-सप्तशती' नाम का संग्रह उनके समय में विद्यमान ही नहीं था। वह एक परवर्ती ग्रंथ ही विदित होता है।

उपर्युक्त लेखकों में से बाण सातवीं, उद्योतनसूरि आठवीं, अभिनंद नवीं तथा राजशेखर दसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए हैं। इनके द्वारा 'गाथा-सप्तशती' का उल्लेख न होना इस बात का सूचक है कि 'हाल' या 'सातवाहन' विरचित 'गाथा-सप्तशती' के नाम से ये एकदम अपरिचित थे। कम से कम दसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक इसका अस्तित्व विदित नहीं होता।

अन्य जिन परवर्ती लेखकों ने सातवाहन और उसके गाथाकोष का उल्लेख किया है वे हेमचंद्र, जिनप्रभसूरि, मेरुतुंग और राजशेखर सूरि हैं। इनमें भी हेमचंद्र (ग्यारहवीं), जिनप्रभसूरि (चौदहवीं) और राजशेखर सूरि (पंद्रहवीं) आदि भिन्न-भिन्न शताब्दियों के लेखकों ने अपने अपने ग्रंथों में गाथाकोष का ही उल्लेख किया है, 'गाथासप्तशती' के विषय में वे सर्वथा मौन हैं। केवल मेरुतुंग ही, जो चौदहवीं शताब्दी का लेखक है, 'गाथा-सप्तशती' का पहली बार उल्लेख करता है और वह भ्रांतिवश इसे ही चार गाथा-ग्रंथों में (गाथा-चतुष्टय) से विरचित सातवाहन-संग्रह या कोष भी मान लेता है। इससे यह स्पष्ट है कि मेरुतुंग के समय तक 'गाथा-सप्तशती' रची जाकर प्रसिद्ध भी हो चुकी थी। संभवतः सातवाहन के बृहद् गाथाकोष का उस समय तक लोप होने के कारण मेरुतुंग ने इसे ही गाथा-कोष मान लेने की भूल कर डाली और यही भूल आगे चलती रही। इस प्रकार वह निराधार परंपरा चल पड़ी जिससे गाथाकोषकार 'हाल' को ही 'गाथा-सप्तशती' का भी रचयिता मान लिया गया तथा उसी के शासन-काल में अर्थात् प्रथम शताब्दी में सप्तशती का रचना-काल भी माना जाने लगा। मेरुतुंग तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का लेखक है, अतः उसके पूर्वकालीन अन्य जैन तथा जैनेतर लेखकों के कथन की उपेक्षा करते हुए उसका यह कथन सत्य मानना कि 'गाथा-सप्तशती' ही सातवाहन राजा का संगृहीत गाथाकोष है, ऐतिहासिक अनुसंधान-तत्त्वों के सर्वथा विपरीत पड़ता है। मेरुतुंग के उपर्युक्त उदाहरण से स्वयं 'गाथा-चतुष्टय' और 'गाथासप्तशती' की भिन्नता स्पष्ट विदित होती है। मेरुतुंग के द्वारा ही 'गाथासप्तशती' का उल्लेख तो सिद्ध करता है कि यह ग्रंथ उसके समय से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ही बना होगा तथा शनैः-शनैः उसके समय तक अर्थात् चौदहवीं शती तक विख्यात होकर सर्वसाधारण में बड़े चाव से पढ़ा जाने लगा होगा।

(२) हमारा यह मत कि 'गाथासप्तशती' की रचना परवर्ती काल की ही हो सकती है, इस बात से भी पुष्ट होता है कि मुक्तक पद्यों का सात शतकों में संग्रह कर सप्तशती बनाने की रीति की परंपरा भी संस्कृत और प्राकृत साहित्य में अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होती। यदि गाथासप्तशती ही सातवाहन का गाथाकोष हो—और गाथाकोष की ख्याति कवियों और विद्वानों में इतनी अधिक थी—तो गाथाकोष के रचनाकाल (अर्थात् प्रथम या दूसरी शताब्दी) के अनंतर ऐसे ग्रंथ के अनुकरण पर इतनी शताब्दियों में अवश्य ही अन्य कवियों द्वारा भी सप्तशतियाँ

लिखी जानी चाहिए थीं—विशेषतया जब कि इस काल में हिंदू या भारतीय प्रतिभा अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर थी तथा साहित्य में अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। अभी तक जो खोज हुई है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी तक 'गाथासप्तशती' के अतिरिक्त अन्य कोई सप्तशती संस्कृत और प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं है और न ऐसी दूसरी सप्तशती का कहीं उल्लेख ही हुआ है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि सप्तशती लिखने की शैली या प्रणाली ही इतनी अतीत-कालीन नहीं है। हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि 'गाथा-सप्तशती' की ही शैली पर बनी जो दूसरी सप्तशती उपलब्ध होती है वह राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि गोवर्धन द्वारा रचित 'आर्या-सप्तशती' है। इसका विषय भी शालिवाहन-सप्तशती की भाँति केवल शृंगार ही है। गोवर्धनाचार्य का समय निश्चित रूप से ई० सन् की बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इन धारणाओं के आधार पर 'गाथा-सप्तशती' का रचना-काल प्रथम शताब्दी में न होकर दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच निर्धारित होता है। 'आर्या-सप्तशती' में 'गाथासप्तशती' की अनेक गाथाओं का स्पष्ट अनुकरण किया जान पड़ता है।[२१]

(३) 'गाथा-सप्तशती' प्रथम शताब्दी की रचना नहीं हो सकती, इसका एक और स्पष्ट प्रमाण हमें अंतःसाक्ष्य से भी मिलता है। प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था। उत्तरापथ ही नहीं, दक्षिणापथ और देशदेशांतर तक सम्राट् अशोक के राज्यकाल से ही बौद्ध धर्म का प्रसार हो चुका था। उस समय जनता में बौद्ध धर्म के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था, अनादर और घृणा का नहीं। देश की अधिकांश जनता बौद्ध धर्म अंगीकार भी कर चुकी थी। ऐसी स्थिति में यह सहज कल्पना की जा सकती है कि ऐसे किसी संग्रह-ग्रंथ में जो बौद्ध धर्म के चरम-उत्कर्ष-काल में विरचित हुआ हो, यदि बौद्धों का कोई उल्लेख हो तो वह सम्मान का सूचक होगा, घृणा का व्यंजक नहीं। परंतु 'गाथासप्तशती' में बौद्ध धर्म के संबंध में केवल एक ही गाथा है और उसमें बौद्ध भिक्षुओं का घृणास्पद उल्लेख हुआ है।[२२] यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस 'गाथासप्तशती' की

२१—द्रष्टव्य मथुरानाथ शास्त्री द्वारा संपादित 'गाथासप्तशती' की भूमिका

२२—चतुर्थ शतक की आठवीं गाथा।

गाथाओं[२३] में राधा, कृष्ण, गणेश, वामन, हर, गौरी, लक्ष्मीनारायण, कालिका, सरस्वती आदि देवी-देवताओं के अनेक उल्लेख हैं उनमें बौद्धमत-संबंधी कोई उल्लेख नहीं है, और जो है भी वह उसके प्रति अपमान-सूचक।

यहाँ यह कहना भी समीचीन जान पड़ता है कि जिन देवी-देवताओं का उल्लेख सप्तशती में आता है वे सब पौराणिक हिंदू देवी-देवता हैं। यह इस बात का संकेत है कि 'गाथासप्तशती' की गाथाएँ उस समय की होनी चाहिएँ जब बौद्धधर्म का लोप हो चुका हो और हिंदू या पौराणिक धर्म का देश में प्रचार हो रहा हो। बौद्धधर्म के ह्रास के अनंतर हिंदू (पौराणिक) धर्म का उत्थान गुप्तकाल में हुआ, यह इतिहास-सिद्ध है। इस दृष्टि से भी सप्तशती का समय गुप्तकाल अथवा उसकी परवर्ती शताब्दियों में होना चाहिए, जब कि देश छोटे छोटे स्वतंत्र राजपूत राज्यों में विभक्त था, जैसा सप्तशती की गाथाओं से भी प्रकट होता है।[२४]

(४) गाथासप्तशती के कविगण अधिकांश उत्तर शताब्दियों के हैं।

सप्तशती की सब उपलब्ध प्रतियों में संपूर्ण ७०० गाथाएँ एक-समान नहीं मिलतीं। केवल ४३० गाथाएँ इन सबमें समान हैं, शेष भिन्न-भिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न रूप में संकलित हैं।[२५] इन गाथाओं के साथ प्रायः उनके रचयिता कवियों के नामों का भी उल्लेख मिलता है। सप्तशती की उपलब्ध प्रतियों में इन कवियों के नाम भी अधिकांश लुप्त हो गए हैं और केवल भुवनपालकृत टीका में सबसे अधिक नाम पाए जाते हैं, जिनकी संख्या ३८४ है। इस प्राचीनतम टीका में तथा अन्य तालपत्र पर लिखित[२६] प्रतियों में भी लगभग उन सभी कवियों की गाथाएँ और

२३—द्रष्ट० गाथा सं० ६६, ४५५, ६१, ११४, १८६, १५१, ७००, ४४८, ४६६ इत्यादि।

२४—श्री मथुरानाथ भट्ट शास्त्री की गाथासप्तशती की भूमिका।

२५—वेबर, Das Saptasatakam, p. XXVIII; Indische-Studien XVI., p. 9 f; वी० वी० मिराशी, The date of Gatha Saptasati (इं० हि० क्वा०, दिसंबर ४७)

२६—द्रष्ट० श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित 'गाथासप्तशती' की भूमिका। बंगाल से प्राप्त सप्तशती की तालपत्र पर लिखित एक प्राचीन प्रति में ४३१ गाथाएँ हैं। यह प्रति अपूर्ण है। किंतु ये ४३१ गाथाएँ मुद्रित सप्तशती में भी सं० १ से ४३१ तक तो वही हैं और प्रायः सभी प्रतियों में समान रूप से पाई जाती हैं।

नाम पाए जाते हैं जो निर्णयसागर द्वारा मुद्रित सप्तशती में भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि अनुक्रमणिका[२७] पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ही विदित हो जाता है, एक कवि की एक से अधिक गाथाओं का संकलन इस ग्रंथ में हुआ है; अतः बाद में गाथाओं के बदलते रहने पर भी प्रत्येक कवि की एक न एक गाथा तो उन ४३० गाथाओं में भी मिल जाती है जो सभी प्रतियों में समान रूप से पाई जाती हैं और जिन्हें विद्वानों के मतानुसार मूल गाथासप्तशती का अवशेष माना जाता है तथा शेष (३७०) गाथाओं को प्रक्षिप्त। सप्तशती के कवियों के नामों की सूची का अनुशीलन करने से यह विदित होता है कि इनमें से अधिकांश तो ऐसे हैं जो निश्चित रूप से प्रथम शताब्दी के बाद के हैं। जो विद्वान् 'गाथासप्तशती' को ही 'गाथाकोष' मानकर इसका रचना-काल भी ई० प्रथम शताब्दी में समझते हैं वे इन परवर्ती कवियों की गाथाओं को बाद में जोड़ी हुई अर्थात् प्रक्षिप्त बताकर मूल सप्तशती में उनके विद्यमान होने में शंका करते हैं। परंतु उन्होंने इस बात की ओर संभवतः ध्यान नहीं दिया कि इन प्रक्षिप्त कही जानेवाली गाथाओं के कवियों की अन्य गाथाएँ मूल 'गाथासप्तशती' की अवशिष्ट ४३० गाथाओं में भी मिलती हैं, अतः इन परवर्ती कवियों की प्रत्येक गाथा को या नाम को बाद में जोड़ा हुआ नहीं माना जा सकता। वस्तुतः सब प्रतियों में समान रूप से मिलनेवाली ४३० गाथाओं के कवियों की सूची में शेष ३७० गाथाओं के रचयिता कवियों के नाम भी आ जाते हैं। इससे स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है कि मूल सप्तशती में इन सभी कवियों की गाथाएँ प्रारंभ से ही संगृहीत की हुई थीं और उन कवियों तथा उनकी गाथाओं को बाद में सम्मिलित किया हुआ नहीं कहा जा सकता। इस आधार पर यह मानना पड़ेगा कि सप्तशती का रचनाकाल इन कवियों में से सबसे परवर्ती या उत्तरकालीन कवि के समय के पश्चात् या आसपास ही था। यहाँ हम कतिपय ऐसे कवियों की तिथि आदि का संक्षिप्त विवेचन करेंगे जिनकी गाथाएँ सप्तशती में स्थान-स्थान पर बिखरी हुई मिलती हैं तथा जिनकी एक न एक गाथा मूल सप्तशती में भी विद्यमान है—

(१) **प्रवरसेन**—निर्णयसागर प्रेस द्वारा मुद्रित गाथासप्तशती में ४५, ६४, २०२, २०८ और २१६ संख्यक गाथाएँ प्रवरसेन की रची बताई गई हैं।

२७—द्रष्ट० निर्णयसागर द्वारा मुद्रित 'सप्तशती' तथा Indische studien, vol. XVI, p. 19 f. की अनुक्रमणिका।

पीतांबर की टीका में गाथा ४८१ और ५६५ को भी इन्हीं की बताया है। भुवनपाल ने प्रवर, प्रवरराज या प्रवरसेन को गाथा ४६, १२६, १५८, २०३, २०६, ३२१, ३४१, ५०६, ५६७ और ७२६ का भी रचयिता लिखा है। इस प्रवरसेन को प्राकृत काव्य 'सेतुबंध' या 'रावण-वध' का रचयिता मानना चाहिए। 'सेतुबंध' का उल्लेख बाण, दंडी और आनंदवर्द्धन ने अपनी-अपनी रचनाओं में किया है, अतः प्रवरसेन का समय सातवीं शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। अधिकांश विद्वान् इसे वाकाटक-वंश का द्वितीय प्रवरसेन घोषित करते हैं, जिसका समय ४२०-५० ई० है। इसी नाम का एक राजा काश्मीर में भी हुआ, जिसका समय कनिंघम के अनुसार ४३२ ई० है।

(२) **सर्वसेन**—पीतांबर की टीका में सं० ५०२, ५०३ की गाथाएँ सर्वसेन के नाम से दी गई हैं। भुवनपाल दो और गाथाओं (२१७, २३४) को भी इन्हीं की लिखता है। यह सर्वसेन प्राकृत काव्य 'हरि-विजय' का रचयिता होना चाहिए। दंडी अपनी 'अवंति-सुंदरी' कथा में 'हरि-विजय' के लेखक सर्वसेन को एक राजा लिखता है। इस नाम का केवल एक ही राजा इतिहास में ज्ञात है जो प्रथम प्रवरसेन के पुत्रों में से एक है तथा जिसने वाकाटक-वंश की वत्सगुल्म शाखा की स्थापना की। इसका नाम इसके पुत्र द्वितीय विंध्यशक्ति के बसीम-ताम्रपत्र में तथा अजंता की गुहा सं० १६ पर उल्लिखित पाया गया है। सर्वसेन का समय ई० ३३०—३३५ है।

(३) **मान**—इसकी चार गाथाएँ (१०१—१०४)—हैं। श्री मिराशी इसको वाकाटक-वंश की दोनों शाखाओं का अंत कर कुंतल देश में राष्ट्रकूट-वंश की स्थापना करनेवाला मान (मानराज या मानांक) बताते हैं, जिसका समय लगभग ३७५ ई० माना जाता है। चित्तौड़ (मेवाड़) के 'मान' नामक एक मोरी राजा का ७२३ ई० का शिलालेख कर्नल टाड को मानसरोवर झील (चित्तौड़) से भी प्राप्त हुआ है।

(४) **देवराज या देव**—यह सप्तशती की तीन गाथाओं—१३८, २३६ और १५८ (इस गाथा पर केवल 'देव' का नाम दिया गया है)—का रचयिता कवि है। श्री मिराशी[२८] इसे राष्ट्रकूट मानांक का पुत्र समझते हैं जिसके दरबार में द्वितीय चंद्रगुप्त ने प्रसिद्ध कवि और नाटककार कालिदास को दूत बनाकर भेजा था।

२८—इं० हि० क्वा०, दि० १६४७, पृ० ३०७

राष्ट्रकूट-वंश की दो ताम्रलिपियों में इसका नाम उल्लिखित है। इसके द्वारा रचित कोई प्राकृत काव्य तो अभी तक प्रकाश में नहीं आया, परंतु यह अनुमान होता है कि दोनों पिता (मान)-पुत्र (देवराज) प्राकृत कविता के प्रेमी तथा मुक्तक पद्यों या गाथाओं के रचयिता थे। हेमचंद्र अपने ग्रंथ 'देसीनाममाला' में देवराज कृत देसी नामों के एक कोश का उल्लेख करता है, जिसका लेखक संभवतः यही देवराज था। इस नाम के और भी राजा नवीं और दशवीं शताब्दियों के शिलालेखों में उल्लिखित पाए जाते हैं।

(५) **वाक्पतिराज**—यह गाथा ६५, ६१६, ६१७ और ६१८ का कवि है जो निस्संदेह महाराष्ट्री काव्य 'मधुमथन-विजय' और 'गोडवाहो' का रचयिता है। इसके पद्य और नाम का उल्लेख आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और हेमचंद्र के ग्रंथों में भी मिलता है। यह भवभूति का समकालीन तथा कन्नौज के प्रतिहार राजा यशोवर्मन का राजकवि था। इसका जीवनकाल आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निश्चित किया जाता है। 'वाक्पपतिराज' परमार राजा मुंज का एक विरुद भी था।

(६) **कण या कणराज**—यह गाथा ५४ और ४५४ का कर्ता है। हाल ही में अकोला जिले के तरहला ग्राम से कुछ सिक्के इस नाम के प्राप्त हुए हैं। श्री मिराशी इसे सातवाहन-वंश का एक राजा बताते हैं जिसने ई० २२६ से २३८ तक राज्य किया।

(७) **अवंतिवर्मन**—गाथा सं० ३२०, २६६ और ३१६ इसके नाम की हैं। यह निश्चित ही इस नाम का काश्मीर का प्रसिद्ध राजा है जिसके दरबार में 'ध्वन्यालोक' का लेखक आनंदवर्धन रहता था। समय ई० ८५५-८८४।[२९]

(८) **ईशान**—यह गाथा सं० २७५ और ८४ का रचियता, प्राकृत भाषा का विख्यात कवि तथा बाणभट्ट का समकालीन एवं मित्र था, जिसका उल्लेख कादंबरी में भी हुआ है। समय सातवीं शती का पूर्वार्ध।

(९) **दामोदर (गुप्त)**—संभवतः यह काश्मीर-नरेश जयपीड़ (ई० ७७९ से ८१३) के दरबार में रहता था। यह 'संभली' या 'कुट्टिनीमत' का लेखक ज्ञात होता है जिसमें 'रत्नावली' की कथा और एक पद्य उद्धृत मिलता है। सप्तशती की गाथा सं० १०६ इसी की है।[३०]

२९—श्री वल्लभ कृत सुभाषितावलि की श्री पीटरसन लिखित अंग्रेजी भूमिका।

३०—वही।

(१०) **मयूर**—यह गाथा २४१ का कवि है। बाण अपनी कादंबरी में इसे प्राकृत भाषा का कवि और अपना संबंधी बताता है। बाण इसी का दामाद था, अतः इसका काल भी सातवीं शती का पूर्वार्ध ही मानना चाहिए।

(११) **बप्प स्वामी**—इसकी गाथाएँ सं० १७४ और ६५ हैं। यह एक प्रख्यात कवि और जैनाचार्य अनुमान किया जाता है जो प्रतिहार सम्राट नाग व लोक या द्वितीय नाग भट्ट का मित्र और समकालीन था। इसका वर्णन चंद्रप्रभसूरि कृत 'प्रभावक चरित' के 'बप्पभट्टी-चरित' में भी मिलता है। द्वितीय नागभट्ट के राजत्व-काल (८१३—८३३ ई०) के लगभग ही इसका भी समय होना चाहिए।

(१२) **वल्लभ (देव या भट्ट वल्लभ**—यह 'भिक्षाटन' काव्य का रचयिता हो सकता है। कवि का पूरा नाम शिवदास मिलता है। कैयट ने आनंदवर्धन के 'देवीशतक' की अपनी टीका (ई० ६७७) में अपने आपको चंद्रादित्य का पुत्र और वल्लभदेव का पौत्र सूचित किया है। अपने 'भिक्षाटन' काव्य में वल्लभ अपने से पहले के कवि कालिदास और बाणभट्ट का उल्लेख करता है। अतः इसका समय आठवीं वा नवीं शताब्दी में होना चाहिए।

(१३) **नरसिंह**—यह गाथा ३१४ का रचयिता है। इसके कतिपय श्लोकों का उल्लेख अभिनवगुप्त-कृत ध्वन्यालोक की टीका में तथा शार्ङ्गधरपद्धति में भी है। बहुत संभव है यह जौल देश (बंबई के धारवाड़ जिले में) का चालुक्य (सोलंकी)-वंशी राजा हो। इस वंश के दस राजाओं का उल्लेख कवि पंप द्वारा रचित 'विक्रमार्जुन-विजय' (र० का० ई० ६४१) नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में भी मिलता है। इस सूची में दो राजा नरसिंह नाम के तथा दो अरिकेसरी नाम के दिए गए हैं। अरिकेसरी की भी कुछ गाथाएँ सप्तशती में पाई जाती हैं। नरसिंह और अरिकेसरी दोनों (पिता, पुत्र) ने, बहुत संभव है, मुक्तक गाथाओं की रचना की हो, जिनमें से कुछ सप्तशती में भी संकलित की गईं। ये द्वितीय नरसिंह और द्वितीय अरिकेसरी (जिसके समय में कवि पंप भी रहता था) ही होने चाहिएँ।[३१] इस वंश के राजा नवीं और दसवीं शताब्दी में राज करते थे। 'नरसिंह' कन्नौज के राजा यशोवर्मन का उपनाम भी था।

(१४) **अरिकेसरी**—यह उपर्युक्त नरसिंह का पुत्र होना चाहिए। गाथाएँ २२० तथा १५६ इसी की रची जान पड़ती हैं।

३१—गौ० ही० ओझा, सोलंकियों का प्राचीन इतिहास, पृ० ४३०—३३

(१५) **वत्स, वत्सराज या वत्सभट्टी**—गाथाएँ सं० १६६ और ३२२ वत्स के नाम से उद्धृत हैं। कनौज के गुर्जर-प्रतिहार-वंश में वत्सराज नाम का एक राजा नवीं शताब्दी में हुआ है। संभव है कि इस राजा के दरबार में प्राकृत का प्रचार रहा हो तथा इसने स्वयं भी कुछ शृंगारिक गाथाएँ लिखी हों। यह भी संभव है कि मंदसोर-प्रशस्ति (४७३ ई०) का लेखक वत्सभट्टी ही इन गाथाओं का रचयिता हो। जो हो, वत्स नाम पाँचवीं और नवीं शती के बीच कई राजाओं और व्यक्तियों के इतिहास में मिलता है और इनमें से किसी को भी इन गाथाओं का कवि मानें, वह प्रथम शताब्दी के तो बहुत बाद में ही हुआ।

(१६) **आदिवराह**—गाथा सं० ८५ का कवि। प्रतिहार राजा भोजदेव के समय की ग्वालियर-प्रशस्ति में भोजदेव का उपनाम 'आदिवराह' दिया है जिससे यह पूर्णतया निश्चित हो जाता है कि यह गाथा[३२] इस कन्नौज-सम्राट् भोज ने ही लिखी। ग्वालियर-प्रशस्ति का समय ई० ८७६ होने से इसका समय नवीं शती का उत्तरार्ध निश्चित है।

(१७) **माउर देव**—सप्तशती की तीन गाथाएँ (सं० २६१, २८४, ३४६) इसकी रचना हैं। प्राकृत साहित्य का प्रसिद्ध जैन लेखक स्वयंभू, जिसका समय श्री नाथूराम प्रेमी[३३] ई० ६७८ और ७८४ के बीच निर्धारित करते हैं, अपने ग्रंथों में अपने को भाषा कवि माउरदेव का पुत्र लिखता है। इसके तीन प्रसिद्ध ग्रंथ पउम-चरिउ, रिट्ठनेमि-चरिउ और पंचमी-चरिउ हैं। प्राकृत भाषा के छंद और व्याकरण पर भी इसकी विशद रचना मिलती है। स्वयंभू का व्याकरण प्रसिद्ध है। इन ग्रंथों में इस जैन लेखक ने अपने पूर्वकालीन प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक कवियों के पद्यों का उल्लेख किया है, जिससे विदित होता है कि यह भी प्राकृत का प्रख्यात कवि था। स्वयंभू का पिता होने से इसका जीवनकाल सातवीं और आठवीं शती में ही ठहरता है।

(१८) **विअड्ढ (विअड्ढइंद्र)**—मुद्रित सप्तशती में इसकी पाँच गाथाएँ २३९, २६२, २६६, २६७ और २६१ संकलित बताई गई हैं। यह भी स्वयंभू के ग्रंथों में परवर्ती शताब्दियों के एक प्रसिद्ध प्राकृत और अपभ्रंश कवि के रूप में स्मरण

३२—एपिग्राफिया इंडिका, जि० १ पृ०, १५६

३३—नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८४—८५

किया गया है। अपने छंद-ग्रंथ में स्वयंभू स्थान-स्थान पर इसकी रचनाओं को उदाहरणार्थ उद्धृत करता है। विअड्ढ का काल ई० छठी या सातवीं शती होना चाहिए।

(१९) धनंजय--गाथा ३२८ इसकी रचना है। इस नाम के दो प्रसिद्ध कवियों का परिचय हमें इतिहास से मिलता है। एक 'धनंजय' मालवा-नरेश मुंज परमार का राजकवि था, जो संभवतः सिंधुल और प्रसिद्ध भोज के समय तक जीवित रहा। इसी नाम के दूसरे लेखक का एक श्लोक वीरसेन-कृत 'धवला' टीका में भी उद्धृत मिलता है और उसने एक प्राकृत कोष 'नाममाला' की भी रचना की है। 'धवला' टीका ७१७ ई० में लिखी गई। इन दोनों धनंजयों में से यदि कोई भी सप्तशती की गाथा का कवि हो तो उसका समय ई० छठी और दसवीं शती के बीच निर्धारित होता है।

(२०) कविराज—इस नाम से दो गाथाएँ (२५८, २५९) सप्तशती में पाई जाती हैं। 'कविराज' कन्नौज के प्रसिद्ध कवि राजशेखर का विरुद था।[३४] राजशेखर प्राकृत कविता और साहित्य का अद्वितीय विद्वान् था। काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी, सूक्तिमुक्तावलि आदि इसकी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। यदि इसके विरुद 'कविराज' नाम से भी इसकी रचनाएँ प्रसिद्ध रही हों तो यह मानना अनुचित न होगा कि सप्तशती की ये दो गाथाएँ इसी की रचना हैं। इसका समय ई० ८८०–९२० है।

(२१) सिंह—गाथा ४७ और ३०६ इसकी रचना हैं। इस नाम का एक प्रसिद्ध राजा मेवाड़ के गुहिलोत-वंश में संभवतः नवीं शती के प्रथम चरण में हुआ था। शक्तिकुमार के ९७७ ई० के आहाड़ से प्राप्त शिलालेख[३५] में इसका उल्लेख मिलता है। इसमें इसे प्रथम भर्तृपट्ट का पुत्र तथा चाटसू की प्रशस्ति[३६] में ईशान भट्ट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है।

(२२) अमित (गति)—इस कवि की दो गाथाएँ (१९० और ४३) सप्तशती में सम्मिलित हैं। यह माथुर संघ का दिगंबर जैन साधु और प्राकृत भाषा

३४—सी० डी० दलाल, काव्यमीमांसा की प्रस्तावना

३५—इंडियन ऐंटिक्वेरी, जि० ३९ पृ० १९१

३६—एपिग्राफिया इंडिका, जि० १२ पृ० १३–१७

का प्रसिद्ध कवि हुआ है।[३७] मालवा के प्रसिद्ध राजा मुंज परमार के दरबार में इसका बड़ा सम्मान था। अमितगति ने ९९३ ई० में अपना 'सुभाषित-रत्न-संदोह' और १०१३ ई० में 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथ संपूर्ण किया।

(२३) **माधवसेन**—गाथा ३२८ इसकी कृति है। उपर्युक्त कवि और जैन साधु अमितगति के गुरु का नाम भी माधवसेन था। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों गुरु-शिष्य प्राकृत कविता में रुचि रखते तथा रचना भी करते थे।

(२४) **शशिप्रभा**—गाथा ३०४ की कवयित्री थी। पद्मगुप्त जो परमार राजा मुंज और उसके उत्तराधिकारियों के दरबार में रहता था, अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'नव-साहसांक-चरित' में राजा सिंधुल की रानी शशिप्रभा का वृत्तांत लिखता है। बहुत संभव है कि इस विदुषी रानी ने भी प्राकृत में मुक्तक पद्यों की रचना की हो, जो सर्वप्रिय हो जाने से सप्तशती जैसे संग्रह-ग्रंथ में संकलित हो पाए।

(२५) **नरवाहन**—गाथा १७१ का रचयिता। मेवाड़ के गुहिलोत राजाओं में इस नाम का एक राजा उपर्युक्त राजा सिंह के उत्तराधिकारियों में वंशावलियों में उल्लिखित है। इस राजा का एक शिलालेख सन् ९७१ ई०[३८] का एकलिंग जी (उदयपुर के पास) नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। बहुत संभव है कि सप्तशती की यह गाथा भी इसी की रचना हो। आहाड़ के सन् ९७७ ई० के शिलाभिलेख में इसे 'शालिवाहन' का पिता लिखा है।

इस प्रकार और भी अनेक कवियों के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है जिससे सप्तशती की गाथाओं के रचयिताओं का समय स्पष्ट रूप से तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों तक सिद्ध होता है। इन कवियों की एक न एक गाथा मूल सप्तशती में भी संकलित थी, क्योंकि इनके नाम की गाथाएँ सप्तशती की सभी उपलब्ध प्रतियों में समान रूप से पाई जाती हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किसी प्राकृत-प्रेमी शैव राजा ने छः अन्य दरबारी कवियों की सहायता से अपनी शृंगारी मनोवृत्तियों के अनुकूल प्राचीन एवं समकालिक प्राकृत कवियों की रचनाओं में से ७०० मुक्तक गाथाएँ चुनकर 'गाथासप्तशती' या 'शालिवाहन-सप्तशती' नाम से पहली बार संगृहीत कीं।

३७—नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास।

३८—ज० रा० ए० सो० बां० ब्रां०, जि० २२ पृ० १९६–९७

'गाथासप्तशती' के रचयिता और रचनाकाल के संबंध में दिए गए उपर्युक्त तर्कों के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि वर्तमान रूपवाली 'गाथा-सप्तशती' अपने इस रूप में प्रथम शताब्दी वाले गाथाकोषकार 'हाल-सातवाहन' के द्वारा विरचित नहीं हो सकती। यदि यह किसी 'हाल', 'शाल' या 'शालिवाहन' की ही है तो यह 'शालिवाहन' उससे भिन्न और बाद के किसी समय का होना चाहिए जो दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ठहरता है।

'गाथा-सप्तशती' संबंधी भ्रांतियाँ एवं उनका निराकरण

'गाथासप्तशती' का वर्तमान स्वरूप इस बात की ओर संकेत करता है कि यह संग्रह किसी कुशल कवि या काव्य-मर्मज्ञ ने विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न प्रसंगों में और विभिन्न समयों में विरचित एक विशेष रस की प्राकृत गाथाओं को लेकर सात शतकों में ग्रथित किया है। हमारे अनुमान से ये गाथाएँ कवियों और काव्य-प्रेमियों में अत्यंत प्रचलित थीं और साहित्य और काव्य-ग्रंथों में इनको उद्धृत किया जाता था।[३९] यह संभव है कि 'हाल' सातवाहन का गाथाकोष इसकी रचना के समय उपलब्ध रहा हो और उसके भी एक भाग में से (जिसमें कामशास्त्र विषयक गाथाएँ रही होंगी) कई सौ गाथाओं का चयन करके उनका इस 'गाथा-सप्तशती' में समावेश किया गया हो। हमारे इस कथन की पुष्टि सप्तशती की तीसरी गाथा करती है जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि कोटि गाथाओं में से चयन कर 'कविवत्सल' हाल (शाल, शालिवाहन) के द्वारा सप्तशती संकलित हुई। मूल गाथा हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। बहुत संभव है, 'हाल' सातवाहन के गाथाकोष की ही 'कोटि' गाथाओं की ओर यह संकेत हो। यहाँ हम प्रसंगवश यह भी सूचित करना उचित समझते हैं कि परवर्ती टीकाकारों ने 'गाथासप्तशती' के संग्रहकर्ता 'कविवत्सल हाल' (शाल, शालिवाहन) और गाथाकोषकार 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) दोनों को एक ही व्यक्ति मानकर दोनों की रची गाथाओं को 'हाल' नाम से ही अंकित कर दिया है, यद्यपि कुछ गाथाओं में कवि के लिये 'शालिवाहन' या 'शाल' पाठ भी मिलता है। पीतांबर[४०] की टीका में कई गाथाओं को 'हाल'

३९—ध्वन्यालोक, तल्लोचन, सरस्वती-कंठाभरण, काव्यप्रकाश आदि ग्रंथों में गाथा कोष से कई गाथाओं को उद्धृत किया गया है।

४०—गाथा-सप्तशती-प्रकाशिका (१९४२), पं० जगदीशलाल द्वारा संपादित।

के स्थान पर 'शालवाहन' नाम से अंकित किया है। ये गाथाएँ गाथाकोषकार 'हाल' सातवाहन की नहीं, प्रत्युत सप्तशती के कर्ता 'शालवाहन' की होनी चाहिए। यह बात लक्ष्य करने की है कि निर्णयसागर द्वारा मुद्रित गाथासप्तशती में पीतांबर द्वारा दी गई 'शालवाहन' के नाम की कई गाथाओं को 'हाल' द्वारा रचित नहीं लिखा है।[४१] इससे यह सिद्ध है कि गाथाओं के साथ उनके रचयिता कवि का नाम अंकित करने में टीकाकारों ने अनेक भूलें की हैं। कवियों के नामों की सूची में अनेक पाठांतर हैं, उनकी गाथाओं में हेरफेर हैं तथा अनेक कवियों के नाम ही गाथाओं पर अंकित नहीं हैं। ऐसी दशा में गाथाकोषकार 'हाल' (सातवाहन) और सप्तशतीकार 'हाल' (शालवाहन) की गाथाओं में भी बड़ी विशृंखलता हो गई है। यह उसी भ्रांति का परिणाम है जिसका उल्लेख हम करते आए हैं तथा जिससे 'गाथाकोष' और 'सप्तशती' एक ही ग्रंथ माने जाने लगे। यहाँ तक कि धीरे-धीरे 'शालिवाहन'-सप्तशती का नाम ही 'हाल'-सातवाहन-विरचित 'गाथा-सप्तशती' हो गया और उसके वास्तविक नाम और संकलनकर्ता को ही भुला दिया गया। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि 'हाल' (सातवाहन) के 'गाथाकोष' की भी अनेक गाथाएँ सप्तशती में सम्मिलित की गई हैं। केवल प्रथम शतक के प्रारंभ की तीन गाथाएँ तथा दूसरे शतकों के प्रारंभ और अंत की या कुछ अन्य गाथाएँ ही, जिनके साथ 'शालवाहन' पाठांतर मिलता है, सप्तशती के 'शालिवाहन' की हैं। शेष 'हाल' नाम से अंकित गाथाएँ दक्षिण के 'हाल' सातवाहन की हैं और वे 'गाथाकोष' में से चयन की गई प्रतीत होती हैं। राजा 'हाल' सातवाहन के अतिरिक्त सप्तशती में उसकी राजसभा के प्रसिद्ध कवि 'पालित'[४२] और 'गुणाढ्य'[४३] की भी कुछ गाथाएँ सन्मिलित हैं। यह भी स्पष्ट है कि सप्तशती के कर्ता 'हाल' को सप्तशती में कहीं भी 'सातवाहन' नाम से उल्लिखित नहीं किया है। इससे प्रकट होता है कि वह गाथाकोषकार 'हाल'-सातवाहन से सर्वथा भिन्न है और उसे सातवाहनवंशी बताना भ्रम ही है।

४१—वी० वी० मिराशी, द डेट ऑव गाथासप्तशती (लेख), इं० हि० क्वा०, दि० ४७.

४२—गाथा सं० ४१७, ६३, २१७, २४८, २५६, ३०७, ३९३, ३९४

४३—गाथा सं० १६०

सप्तशती की कई गाथाओं में दक्षिण-भारत की नदियों[४४] (जैसे गोदावरी, रेवा, ताप्ती) और पर्वत आदि के उल्लेख भी मिलते हैं। अनेक गाथाओं के अज्ञात कवियों के नाम भी उनके दक्षिण-भारत के निवासी होने के सूचक हैं; जैसे अणुलक्ष्मी, आंध्रलक्ष्मी इत्यादि। गाथाओं में वर्णित विषय और शब्दावलि से भी उनके रचयिता का महाराष्ट्री या दक्षिणी होना सिद्ध होता है। इन बातों के आधार पर यह अनुमान करना भी अनुचित न होगा कि उक्त सब गाथाएँ 'हाल-सातवाहन' के बृहद् गाथाकोष में से संकलित की गई हैं। परंतु केवल इनके आधार पर सप्तशती को ही 'गाथाकोष' मान लेना (जैसा कि अनेक प्रसिद्ध इतिहासकार मानते हैं) वस्तुतः एक बड़ी भ्रांति है। यदि सप्तशती की गाथाओं का गहराई से अध्ययन करें तो उसमें उत्तर-भारत के भी वर्णन मिलते हैं। अनेक गाथाओं में आए हुए पर्वतीय भूभागों, सिंचाई और खेती के तरीकों, वहाँ उत्पन्न होनेवाली फसलों और वनस्पतियों, भीलों व्याधों और अनार्य जाति की युवतियों के प्रसंग विंध्याचल और अरावली पर्वत की घाटियों तथा उनमें बसनेवाली भील और व्याध जातियों के जीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं तथा उन गाथाओं के रचयिता कवियों का भी इसी भूभाग (उत्तर-भारत) का निवासी होना सिद्ध करते हैं। एक गाथा में यमुना नदी का उल्लेख है।[४५] अतः यह कहना भूल होगा कि सप्तशती की गाथाओं में उत्तर-भारत का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता। दक्षिण-भारत की नदियों आदि के जो दो-चार उल्लेख सप्तशती में मिलते हैं वे केवल यही सिद्ध करते हैं कि 'हाल'-सातवाहन के बृहद् गाथाकोष में से भी अनेक गाथाओं का सप्तशती में चयन हुआ है। अतः उनके आधार पर गाथा-सप्तशती को ही गाथाकोष मान लेना किसी प्रकार उचित नहीं।

अब प्रश्न यह है कि दसवीं शती में शालिवाहन नाम का वह कौन सा शैव राजा हो सकता है जिसके द्वारा या जिसके संरक्षण में सप्तशती का संकलन-कार्य संपन्न हुआ। हमारे मत से यह राजा मेवाड़ के गुहिलोतवंशी राजा नरवाहन का पुत्र शालिवाहन है, जिसने ई० ९७२-७७ के लगभग राज्य किया तथा जिसका पुत्र

४४—गोदावरी का उल्लेख—गाथा सं० ५८, १०७, १०३, १७१, १७५, १८९, १९३, २३१, ३५५; ताप्ती—गा० सं० २३९; रेवा—गा० सं० ५७८, ५९८

४५—निर्णयसागर द्वारा मुद्रित गाथा-सप्तशती, गाथा सं० ७।६९

एवं उत्तराधिकारी शक्तिकुमार था।[४६] यह स्मरणीय है कि मेवाड़ का राजवंश परंपरा से पाशुपत शैव मत का ही अवलंबी है। यह राजा, जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे, विलासी और विषयी भी था। यहाँ तक कि इसकी दुश्चरित्रता के कारण ही इसका दुःखद अंत हुआ और राजवंशावलियों में इसके नाम और राजत्व-काल तक का उल्लेख नहीं के बराबर किया गया। यह बात असंभाव्य नहीं, क्योंकि जिन राजाओं के द्वारा राजवंश कलंकित होता था उनका उल्लेख वंशावलियों और शिलालेखों में प्रायः नहीं किया जाता था। इसी कारण रणपुर[४७], आबू[४८] और चित्तौड़[४९] आदि से प्राप्त प्रशस्तियों में दी गई वंशावलियों में इस शालिवाहन का उल्लेख नहीं है। किंतु इसके पुत्र और उत्तराधिकारी शक्तिकुमार के समय की सन् ९७७ ई० की आहाड़ या ऐतपुर प्रशस्ति में इसके राजत्व का स्पष्ट उल्लेख है।

प्रथम शताब्दी में राज्य करनेवाले आंध्रभृत्य-वंश के गाथाकोषकार 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) के अनेक शताब्दियों के अनंतर शालिवाहन नाम का पहिला राजा केवल यह गुहिलोत मेवाड़-नरेश ही हुआ है, जिसकी राजधानी आहाड़ या आड़ (प्राकृत में आढ्य) थी। इस नगरी के खँडहर अब भी उदयपुर के पास विद्यमान हैं। इसी समय के लगभग मेवाड़ पर मालवा के परमार राजा मुंज ने चढ़ाई की थी।[५०] उसने आहाड़ को नष्ट कर चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। अतः शालिवाहन और उसके उत्तराधिकारी दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक आहाड़ ही में, जो इस काल में प्रसिद्ध तीर्थ और समृद्धिशाली व्यापारिक नगर था, निवास करते रहे तथा यही इनकी राजधानी रहा। इसी लिये इन मेवाड़-नृपतियों को 'आहाड़िया' या 'आहाड़राज' भी पुकारा जाता था। अभी तक उपलब्ध शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्री से भी यह बात प्रमाणित होती है। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राज करनेवाले इस मेवाड़-नरेश गुहिलोत शालिवाहन को केवल नाम-साम्य के कारण 'हाल' सातवाहन समझ लिया गया और इसकी

४६—ओझा, राजपूताने का इतिहास, जि० १ पृ० ४३०-३३

४७—भावनगर इन्सक्रिप्शंस, पृ० ११४

४८—इंडियन ऐंटिकरी, जि० १६ पृ० ३४७

४९—भावनगर इन्सक्रिप्शंस, पृ० ७४

५०—एपिग्राफिया इंडिका, जि० १० पृ० २०, श्लोक १०

गाथा-सप्तशती को ही परवर्ती लेखक 'हाल' सातवाहन द्वारा विरचित बृहद् गाथा-कोष मानने लगे। इस प्रकार भ्रांति उठ खड़ी हुई।

इस प्रकार की भ्रांतियाँ इतिहास में थोड़ी सी असावधानी से अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण या सामग्री के अभाव में हो जाया करती हैं। इसका एक उदाहरण हम यहाँ देना उचित समझते हैं, विशेषतः इसलिये भी कि वह इसी गुहिलोत शालिवाहन से संबंधित है।

मेवाड़ के गुहिल राजा शालिवाहन (६७२-६७७ ई०) के कितने ही वंशज जो जोधपुर राज्य के खेड़ नामक इलाके में राज्य करते थे, गुजरात के सोलंकियों के अभ्युदय के समय खेड़ से अनहिलवाड़ा जाकर सोलंकियों की सेना में रहने लगे। गुहिलवंशी साहार के पुत्र सहजिक को कालांतर में चालुक्य राजा (संभवतः सिद्धराज जयसिंह) ने अपना अंग-रक्षक नियत किया। उसको काठियावाड़ में प्रथम जागीर मिली और वहाँ गुहिलवंशियों की संतति का प्रवेश हुआ। सहजिक के पुत्र मूलुक और सोमराज थे। मूलुक अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। उसके वंश में काठियावाड़ में भावनगर, पालिताना आदि राज्य और गुजरात के रेवाकाँठे में राजपीपला है। प्राचीन इतिहास के अंधकार में पीछे से इन राजवंशों ने अपना संबंध किसी न किसी इतिहास-प्रसिद्ध राजा से मिलाने के उद्योग में, यह न जानने से कि वे मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, अपने पूर्वज गुहिल शालिवाहन को शक-संवत् का प्रवर्तक पैठण (प्रतिष्ठानपुर) का प्रसिद्ध आंध्रभृत्य या सातवाहन-वंशी शालिवाहन मान लिया और चंद्रवंशी न होने पर भी उसको चंद्रवंशी ठहरा दिया। परंतु डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने अनुसंधान के फलस्वरूप यह सिद्ध कर दिया कि यह कल्पना सर्वथा निर्मूल और असत्य है; क्योंकि काठियावाड़ आदि के गुहिल पहिले अपने को मेवाड़ के राजाओं की नाईं सूर्यवंशी ही मानते थे तथा भावनगर आदि से प्राप्त भाटों की ख्यातों में इनके पूर्वज शालिवाहन राजा को 'गुहिल' और 'नरवाहन का पुत्र' स्पष्ट लिखा है। अतः काठियावाड़ के गुहिल राजवंश भी दक्षिण के सातवाहन (शालवाहन) के वंशज नहीं, प्रत्युत इसी मेवाड़-नृपति शालिवाहन के ही संबंधी थे; केवल नाम-साम्य के कारण यह भ्रांति हो गई।[५१] प्रायः सभी आधुनिक

५१—ओझा, राजपूताने का इतिहास, जि० १ पृ० ४३०-३२

इतिहासज्ञ ओझा जी द्वारा किए गए इस भूल के निराकरण को अब स्वीकार कर चुके हैं।

इस एक उदाहरण से विदित होता है कि जब एक राजवंश अपने ही पूर्वजों के इतिहास और इतिवृत्त को भुलाकर किसी सुदूर-कालीन एवं पूर्णतया असंबद्ध राजा से अपना संबंध स्थापित कर सकता है, जो निश्चय ही एक भयंकर भूल है, तो एक ग्रंथ के वास्तविक रचयिता को भुलाकर केवल नाम-साम्य अथवा किसी भ्रांति के कारण उसका संबंध किसी दूसरे प्रसिद्ध नाम से जोड़ देना तो एक बहुत साधारण और संभाव्य बात हो सकती है। हमारा निष्कर्ष है कि मेवाड़ का पाशुपत शैव राजा शालिवाहन ही 'गाथा-सप्तशती' का वास्तविक संकलनकर्ता है। कृति के स्वरूप तथा रचयिता के नाम के विचित्र-साम्य के कारण इसकी 'शालिवाहन-सप्तशती' को प्रसिद्ध सातवाहन (शालवाहन या हाल) द्वारा विरचित कोष (गाथाकोष) समझना शुद्ध भ्रम है।

एक दूसरे से देश, काल और गुणों में नितांत भिन्न इन दोनों शालिवाहनों के संबंध में जिस भ्रांति का ऊपर उल्लेख किया गया है वैसी ही एक भ्रांति इनके संबंध में और भी हुई जान पड़ती है और वह भी यह प्रमाणित करती है कि किस प्रकार इन दो शालिवाहनों के वंशजों एवं ग्रंथों को ही परस्पर एक नहीं समझ लिया गया, अपितु उनके जीवन-वृत्त को भी एक दूसरे के साथ जोड़ दिया गया है। यह भ्रांति भी साधारण लेखकों के द्वारा नहीं, प्रत्युत प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनप्रभ-सूरि और राजशेखर सूरि के द्वारा उनके 'विविध-तीर्थ-कल्प' और 'चतुर्विंशति-प्रबंध' जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों में हुई, जो बहुत अंशों में इतिहास-ग्रंथ माने जाते हैं।

जिनप्रभसूरि अपने 'कल्पप्रदीप' अथवा विशेषतया प्रसिद्ध 'विविधतीर्थ-कल्प'[५२] में जैन तीर्थ प्रतिष्ठान-पत्तन या प्रतिष्ठान नगरी के वर्णन के प्रसंग से वहाँ के नरेश सातवाहन (गाथाकोषकार और संवत्सर-प्रवर्तक शालिवाहन) का जीवनवृत्त वर्णन करता है। 'प्रतिष्ठानपुरकल्पः' शीर्षक प्रबंध में सातवाहन का गौरव-वर्णन करने के पश्चात् उसी के अनंतर वह 'प्रतिष्ठानपुराधिपति-सातवाहन-नृप-चरित्रं' प्रबंध में प्रसंग से 'पर-समय-लोक-प्रसिद्ध' सातवाहन-चरित्र की एक स्फुट कथा भी लिखता है। यह अत्यंत विस्मयोत्पादक है कि इस कथा में सातवाहन राजा का जो स्वरूप और चरित्र लक्षित होता है वह पूर्व-वर्णित सातवाहन-चरित्र

५२—विविधतीर्थकल्प (सिंघी-जैन-ग्रंथमाला), पृ० ५६-६४

से भिन्न ही नहीं, नितांत विपरीत जान पड़ता है और यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि ऐसा वृत्त उस अतिप्रसिद्ध प्रतापी और गौरवशाली संवत्सर-प्रवर्तक दक्षिणापथ के सम्राट् सातवाहन का हो सकता है। यह वृत्त तो उसी मेवाड़-नरेश शालिवाहन का होना चाहिए जिसे हम सप्तशती के साथ संबद्ध कर चुके हैं। कथा इस प्रकार है—

सातवाहन का एक ब्राह्मण मंत्री था शूद्रक। उसने सातवाहन की घर्षिता रानी को पुनः प्राप्त करवाया। राजधानी प्रतिष्ठान में उसके रक्षार्थ पचास योद्धा बाहर और पचास भीतर नियुक्त थे। सातवाहन ने शूद्रक को नगरी का दंडनायक बना दिया। एक बार सातवाहन ने बावन हाथ लंबी शिला को पचास अधिकारियों के साथ ऊपर उठाने की स्पर्द्धा की···। परंतु द्वादशवर्षीय शूद्रक ने उस शिला को उठाकर इतने वेग से आकाश में फेंक दिया कि वह गिरकर तीन टुकड़े हो गई। एक टुकड़ा बारह कोस दूर जा गिरा, दूसरा पैठन में गोदावरी के नागह्रद में पड़ा और तीसरा चतुष्पथ (चौराहा) पर अब भी विद्यमान है। शूद्रक की इस असाधारण शक्ति से प्रभावित होकर राजा ने उसे पुर के रक्षार्थ संपूर्ण अधिकार दे दिए।······कोई अनर्थ न हो जाय, इसलिये वह अपने दंड (छड़ी) मात्र से ही अन्य वीरों (सामंतों) को पुर में प्रविष्ट नहीं होने देता था।[५३]

इसके उपरांत एक और कथा देकर अंत में लेखक कहता है—

सातवाहन का अंत इस प्रकार हुआ कि वह कामी और विलासी हो गया, यहाँ तक कि प्रति चौथे दिन चारों वर्णों में से किसी में भी जिस कन्या को युवती या रूपशालिनी देखता या सुनता उसी के साथ बलात् विवाह कर लेता। इस प्रकार बहुत दिनों तक चलता रहा। अंत में दुखी और क्रुद्ध प्रजा में से 'विवाहवाटिका' नामक एक ग्रामवासी ब्राह्मण ने 'पीठजादेवी' से प्रार्थना की कि राजा की इस कुरीति से उनकी संतति के विवाह-संबंध में बाधा आती है। देवी ने उसकी कन्या बनने का और राजा को दंड देने का वचन दिया। फलतः जब विवाह हो चुका और प्रथम-मिलन की बेला आई तो उस कन्या ने 'कालिका' का रूप धारण करके राजा का पीछा किया। राजा प्राण-रक्षा के लिये भागा और अंत में नागह्रद में गिरकर डूब मरा।

५३—विविध-तीर्थ-कल्प, पृ० ६१–६२; ज० रा० ए० सो० (बां० ब्रां०), जि० १०, पृ० १३२–३३

इसके पश्चात् शक्तिकुमार का राज्याभिषेक हुआ और वह 'सातवाहनायनी' कहलाया। उसके पश्चात् आज तक वीरक्षेत्र प्रतिष्ठान में कोई राजा प्रवेश नहीं कर सका।[५४]

अंत में एक श्लोक इस आशय का लिखा है—

यदि यहाँ (उपर्युक्त कथा में) कोई बात असंभाव्य भी हो तो उसे 'पर-समय' (अर्थात् दूसरे के द्वारा मान्य) ही समझना चाहिए; क्योंकि जैन कभी असंगत बात नहीं कहते।[५५]

उपर्युक्त कथा का सम्यक् विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें प्रतिष्ठानपुर के सातवाहन के जीवनवृत्त के साथ किसी दुष्चरित्र राजा के वृत्त का विचित्र रूप से मिश्रण कर दिया गया है। कथा का पूर्वार्ध, जिसमें शूद्रक द्वारा सातवाहन की धर्षिता रानी को पुनः प्राप्त करने की सूचना है, संभवतः आंध्र-देशीय सातवाहन-वंश के किसी राजा के साथ संबंधित है, किंतु शेष कथा जिसमें राजा की विलासिता के कारण क्रुद्ध जनता द्वारा उसका अंत किया जाना और उसके बाद शक्तिकुमार का गद्दी पर बैठना बताया गया है, मेवाड़ के गुहिल शालिवाहन की ही जीवन-कथा विदित होती है; क्योंकि उसी का उत्तराधिकारी शक्तिकुमार हुआ और इस नाम का कोई राजा दक्षिण के सातवाहन-वंश में नहीं हुआ। जान पड़ता है मेवाड़ के गुहिल शालिवाहन का यह जीवनवृत्त लोकप्रसिद्ध था, यद्यपि उसके हीनचरित्र होने के कारण संभवतः उसके राजत्व एवं नाम का उल्लेख वंशावलियों और शिलालेखों में प्रायः नहीं पाया जाता। इतिहास द्वारा उसकी इस उपेक्षा के कारण ही जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने उक्त वर्णित कथा में स्वयं यह संभावना प्रकट की है कि यदि इस कथा की घटनाओं में कुछ असंभाव्य हो तो उसका उत्तरदायी वह नहीं, बल्कि 'पर-समय' है।

संभव है इन दोनों शालिवाहनों की और भी बातें एक दूसरे के साथ भूल से मिश्रित हो गई हों। हम तो यहाँ विशेष रूप से इसी बात पर ध्यान दिलाना

५४—ततः शक्तिकुमारो राज्याभिषिक्तः सातवाहनायनिः। तदनन्तरमद्यापि राजा न कश्चित् प्रतिष्ठाने प्रविशति वीरक्षेत्रे इति।

५५—अत्र च यदसम्भाव्यं तत्र परसमय एव।
मन्तव्यो हेतुर्यन्नासंगतवाग्जनो जैनः॥

चाहते हैं कि इस शालिवाहन की सप्तशती को सातवाहन के साथ जोड़कर 'गाथा-सप्तशती' को ही 'गाथाकोष' समझ लेने की भूल भी इसी प्रकार हुई।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित जान पड़ता है कि गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों में उत्तर-भारत में एक बार फिर से प्राकृत भाषा ने जोर पकड़ा और उसमें विपुल काव्य-रचना होने लगी। लोग प्राकृत को संस्कृत से भी मधुर और काव्योपयोगी समझने लगे, जैसा कि उस काल के कवि और लेखकों के कथनों और ग्रंथों से प्रकट होता है। राजा भोज (१०१०—१०५० ई०) अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में एक श्लोक द्वारा यह सूचित करता है कि 'आढ्यराज के राज्य में कौन प्राकृतभाषी और साहासांक के समय में कौन संस्कृतभाषी नहीं हुआ?' अर्थात् आढ्यराज प्राकृत भाषा और कविता का प्रेमी एवं आश्रयदाता था। उसके राज्य में प्रायः सभी प्राकृत भाषा ही बोलते थे और उसी में काव्य-रचना भी करते थे, जैसे साहसांक (द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य) के समय में संस्कृत भाषा में। श्लोक यह है[५६]—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः॥

'आढ्यराज' शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार रत्नेश्वर 'आढ्यराज' को 'शालिवाहन' और 'साहसांक' को विक्रमादित्य सूचित करता है। इतिहासकारों और साहित्य के विद्वानों के लिये 'आढ्यराज शालिवाहन' कौन था, यह प्रश्न एक पहेली ही बना हुआ है। यह समस्या इस बात से और भी जटिल बन गई कि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के प्रारंभिक अंश के एक श्लोक में आढ्यराज और तत्कृत 'उत्साहों' का उल्लेख किया है। श्लोक इस प्रकार है[५७]—

आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वेप्रवर्तते॥

बाण के इस श्लोक पर टीका करते हुए टीकाकार शंकर ने 'आढ्यराज' को कोई कवि और 'उत्साह' को 'तालविशेष छंद' या 'गद्य-पद्य-मिश्रित एक प्रकार का

५६—सरस्वती-कंठाभरण (निर्णयसागर प्रेस)

५७—हर्षचरित, श्लोक १८

प्रबंध-काव्य' लिखा है। परंतु वह स्वयं निश्चित रूप से कुछ कहने का साहस नहीं करता। विद्वानों[५८] में इसी श्लोक को लेकर काफी विवाद उठ खड़ा हुआ है। कुछ विद्वान् टीकाकार शंकर के अर्थ का समर्थन करते हैं तथा दूसरे कहते हैं कि बाण 'आढ्यराज' (अर्थात् संपन्न और समृद्धिशाली राजा) शब्द का प्रयोग इस श्लोक में स्वयं हर्षवर्द्धन के लिये ही करता है, अतः यहाँ किसी अन्य कवि की ओर संकेत नहीं है, तथा 'उत्साह' शब्द भी 'साहसी कार्यों' का ही द्योतक है, किसी विशेष तालवाले छंद का नहीं। हाल ही में श्री आर० सी० हाजरा[५९] ने अपने एक लेख में इस श्लोक का बड़ा वैज्ञानिक विवेचन कर यह सिद्ध किया है कि 'आढ्यराज' शब्द बाण अपने आश्रयदाता सम्राट् हर्ष के लिये ही प्रयुक्त करता है। इस श्लोक का यही अर्थ अधिक शुद्ध और स्वाभाविक भी प्रतीत होता है। इसलिये यही मानना समीचीन जान पड़ता है कि जिस प्राकृत-प्रेमी 'आढ्यराज' शालिवाहन का उल्लेख भोज अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' में करता है उसका बाण के 'आढ्यराज' से, जो हर्षवर्द्धन के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, कोई संबंध नहीं है। इस श्लोक का टीकाकार शंकर-कृत अर्थ सर्वथा अमान्य है, क्योंकि न तो अभी तक किसी आढ्यराज नामक महान् कवि का और न 'उत्साह' नामक किसी छंद या प्रबंध-विशेष का ही साहित्य और कोषों में कहीं उल्लेख हुआ है।

भोज जिस शालिवाहन को 'आढ्यराज' विरुद से स्मरण करता है, हमारे मत से वह मेवाड़ का गुहिलवंशी शालिवाहन ही होना चाहिए, जिसे हम प्राकृत गाथाओं की सप्तशती का संग्रहकर्ता सिद्ध कर चुके हैं। यह सर्वविदित है कि दसवीं शताब्दी में मेवाड़ की प्राचीन राजधानी 'आहाड़', 'आड़', 'आघाटपुर' या 'एतपुर' ही थी। जैसा हम ऊपर लिख आए हैं, शालिवाहन की यही राजधानी थी। बहुत संभव है कि प्राकृत में 'आहड़' या 'आड़' को 'आढ्य' और वहाँ के प्रसिद्ध प्राकृत-प्रेमी राजा शालिवाहन को 'आढ्यराज' नाम से पुकारा जाता रहा हो। सप्तशती का प्राचीन टीकाकार चार गाथाओं अर्थात् सं० ६६, १६६,

---

५८—हाल, कावेल और टामस 'आढ्यराज' को कोई अज्ञात कवि या गुणाढ्य के लिये प्रयुक्त मानते हैं। पिशल और ग्रियर्सन इसे हर्षवर्द्धन के लिये प्रयुक्त विशेषण मात्र मानते हैं। आधुनिक विद्वानों में कोणे, गजेंद्रगड़कर, जीवानंद विद्यासागर आदि शंकर के अर्थ को ही स्वीकार करते हैं।

५९—डा० आर० सी० हाजरा, इं० हि० क्वा० २५।२, जून १९४९, पृ० १२९-२८

२१६ और २३५ को आढ्यराज की रचना बताता है। निर्णयसागर प्रेस द्वारा संपादित गंगाधर भट्ट की टीका में तीन अन्य गाथाओं (सं० २६, २१८ और २३४) को भी आढ्यराज के नाम से अंकित किया है। यह 'आढ्यराज' इसी मेवाड़-नरेश गुहिल शालिवाहन का विरुद जान पड़ता है। दक्षिणापथ का सम्राट् हाल (सातवाहन, शालवाहन) भी प्राकृत भाषा और कविता का प्रेमी था, परंतु 'आढ्यराज' अर्थात् 'आढ्य' का राजा होना उसके लिये कहीं भी उल्लिखित नहीं है और न किसी प्रकार प्रमाणित ही होता है। वह अपने वंश-नाम 'सातवाहन' से ही अधिक प्रसिद्ध रहा जान पड़ता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मेवाड़-नरेश शालिवाहन ही 'आढ्यराज' कहलाता था तथा उसी ने प्राकृत-प्रेमी होने से प्राकृत गाथाओं का चयन कर यह 'गाथा-सप्तशती' या 'शालिवाहन'-सप्तशती नामक संग्रह-ग्रंथ विरचित किया। यह कहना कठिन है कि यह राजा 'हाल' उपनाम से भी प्रख्यात था या नहीं, परंतु बाद के टीकाकारों और लेखकों ने इसे भी 'हाल' नाम से लिखना प्रारंभ कर दिया।[६०]

यह भी हो सकता है कि इस शालिवाहन राजा ने दक्षिण के प्रसिद्ध सम्राट् प्राकृत कवि और गाथाकोषकार 'हाल' सातवाहन (शालवाहन) के उपनाम 'हाल' को उसके प्रसिद्ध होने के कारण अपना उपनाम बना लिया हो। इस प्रकार इस शालिवाहन के साथ भी 'हाल' उपनाम का प्रयोग होने लगा तथा इससे उत्पन्न भ्रांति के कारण उसके द्वारा दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संकलित 'गाथा-सप्तशती' को ही हाल सातवाहन का प्रथम शताब्दी में संकलित 'गाथाकोष' मान लिया गया। इस प्रकार सर्वथा भिन्न ग्रंथों के रचयिता शालिवाहनों को एक ही राजा समझ लेना तथा इस नितांत भ्रमपूर्ण धारणा के आधार पर अन्य ऐतिहासिक परिणाम निकालना किसी भी प्रकार उचित नहीं माना जा सकता। आशा है इतिहास एवं संस्कृत साहित्य के विद्वान् इस परंपरागत भ्रांति के निराकरण के हेतु हमारे उपर्युक्त प्रमाणपुष्ट निष्कर्ष पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे।

६०—यह भी ज्ञातव्य है कि मध्ययुग में बागड़, गुजरात, मेवाड़ और मालवा में प्राकृत और अपभ्रंश भाषा का प्रचलन एवं प्रभाव होने से (जैसा कि अब तक भी है) 'स' का उच्चारण 'ह' ही होता रहा और बहुत संभव है कि 'शालवाहन' या 'शाल' का 'हालवाहन' या 'हाल' भी उच्चारण किया जाता रहा हो।

नवाब-खानखाना-चरितम्

[ले० श्री विनायक वामन करंबेलकर]

एक सद्यःप्राप्त अज्ञात ग्रंथ

संस्कृत के विद्वान् 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य'[1] के रचयिता रुद्र कवि के नाम से परिचित हैं। इस महाकाव्य के संपादक का मत है कि रुद्र कवि ही 'जहाँगीरचरितम्' के भी रचयिता थे। परंतु उनकी इस तृतीय कृति का अभी तक किसी को पता भी नहीं था। 'नवाब-खानखाना-चरितम्' की शैली गद्य-पद्य-मय, अर्थात् चंपू-काव्य के ढंग की है। नागपुर-विद्यापीठ ने यह ग्रंथ नासिक[2] से सन् १९४६ में अपने प्राचीन-हस्तलिखित-ग्रंथ-विभाग के लिये खरीदा था। डा० यशवंत खुशाल देशपांडे (यवतमाल, विदर्भ) की कृपा से इसकी एक दूसरी प्रति भी प्राप्त हुई थी। उन्हें यह पूने में मिली थी।[3] इन दोनों प्रतियों से 'खानखाना-चरितम्' ग्रंथ पूर्णांग रूप से प्राप्त हुआ। आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् ग्रंथ-सूची में जो 'बाब-खान-चरित' निर्देशित किया है[4] वह '(न) बाब-खान-चरित' ही जान पड़ता है।

पूर्व-परिचित ग्रंथद्वय

इन तीनों कृतियों में 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' बीस सर्गों का एक विशाल प्रबंध-काव्य है, जिसकी रचना रुद्र कवि ने लक्ष्मण पंडित से सुनने के पश्चात् की

१—गायकवाड ओरिएंटल सिरीज, जिल्द ५, सन् १९१७

२—नागपुर विद्यापीठ, प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ, क्रमांक ५८२; आकार १०″ × ४½″ पृष्ठ ३ से २२। काफी पुराना ग्रंथ। सुरक्षित। कागज मोटा और धुँधला। लिपि सुंदर, स्पष्ट किंतु अव्यवस्थित। कुछ त्रुटियाँ। प्रथम पृष्ठ अप्राप्त।

३—पूना से प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ नया जान पड़ता है, तथापि कागज जीर्ण है। आकार ८″ × ५½″ पृष्ठ १ से २०। लिपि स्पष्ट। परंतु दुर्दैववश हस्तलिखित ग्रंथ में केवल ढाई उल्लास हैं।

४—कैटेलोगस कैटेलेगोरम, जि० १, पृ० ५२८

थी। यह काव्य राष्ट्रौढ (राठौर) वंश के नारायणशाह और प्रतापशाह नामी राजाओं के आज्ञानुसार रचा गया था। नारायणशाह और प्रतापशाह बंबई प्रांत के नासिक जिले (प्राचीन बागुलान) में राज्य करते थे। काव्य का विषय राठौर-वंश का पौराणिक काल से लेकर कथा-नायक के समय तक का इतिहास है। इसमें प्रमुख वर्णन नारायणशाह के पराक्रमों का है। इस प्रकार 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' का रचना-काल शकाब्द १५१८ (ई० १५९६) और रचना-स्थान शालामयूराद्रि निर्दिष्ट किया गया है।[५]

ऐसा कहा गया है कि 'जहाँगीरचरितम्' खंडितप्राय ग्रंथ है। यह भी नासिक में मिला था। इसमें कुछ ऐसे छंद हैं जो 'राष्ट्रौढवंश महाकाव्य' के छंदों से मिलते-जुलते हैं। इसका वर्ण्य विषय है अकबर-पुत्र जहाँगीर का चरित। इस ग्रंथ का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ। नवाब-खानखाना-चरित भी शालामयूराद्रि में शकाब्द १५३१ (ई० १६०९) में लिखा गया था—

शाके क्ष्मामग्नितिथौ सौम्ये वैशाखे शुक्लपक्षतौ।
चरित्रं खानखानस्य वर्णितं रुद्रसूरिणा ॥ (३।६)

उल्लास-समाप्ति में लिखा है—

इति श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीनवाब-खानखाना-चरिते श्रीशालामयूराद्रिपुरन्दरप्रताप शाहोद्योजित रुद्र कवीन्द्र विरचिते……। (तृतीय उल्लास)

'नवाब-खानखाना-चरित' गद्यमय ग्रंथ है, जिसमें कहीं-कहीं अनियमित रूप से पद्य भी दिखाई पड़ता है। कवि के कथनानुसार यह[६] चंपू-काव्य ही है। ग्रंथ तीन उल्लासों में पूरा हुआ है और अत्यंत ही मँजी भाषा में लिखा गया है। लंबी संधियों, पौराणिक उल्लेखों, क्लिष्ट छंदों और अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियों को देखने से महाकवि बाणभट्ट के 'हर्षचरित' का स्मरण हो आता है। परंतु यह बात अवश्य है कि 'नवाब-खानखाना-चरित' का ऐतिहासिक महत्त्व उतना नहीं है। गद्य-भाग

५—शाके भोगिशशीषुभूपरिमिते संवत्सरे दुर्मुखे
मासे चाश्वयुजे सितप्रतिपदि स्थाने मयूराचले।
श्रीमल्लक्ष्मणपण्डितोदितकथामाकर्ण्य रुद्रः कविः
श्रीनारायणशाहकीर्तिरसिकं काव्यं व्यधान्निर्मलम् ॥
(रा० वं० म०, २०।१००)

६—द्वितीय उल्लास के अंत में लिखा है—"चम्पूप्रबन्धे नवाबखानखानानुचरिते…"।

को छोड़कर प्रथम उल्लास में ६, दूसरे में २० और तीसरे में १२ छंद हैं। ग्रंथ समाप्त होने पर पुष्पिका में ऐतिहासिक महत्त्व के छंद आते हैं।

नवाब-खानखाना-चरित के द्वितीय और तृतीय उल्लासों में जहाँगीर के उल्लेख आते हैं। यद्यपि वे ऐतिहासिक दृष्टि से नगण्य हैं तथापि साहित्यिक दृष्टिकोण से इस ग्रंथ की पूर्वकालीनता निश्चित करते हैं। इन छुट-फुट उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जहाँगीर उसी समय दिल्ली के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था और इसलिये वह स्वतंत्र प्रशस्ति-काव्य के योग्य था, जिसके कारण बाद में "जहाँगीरचरितम्" नाम का ग्रंथ लिखा गया। इससे यह पता चलता है कि कवि ने ई० सन् १६०६ में अपनी कलम 'जहाँगीरचरितम्' लिखने के लिये उठाई होगी, परंतु वृद्धावस्था के कारण वह कार्य पूरा न हो सका होगा; अथवा रुद्र कवि की मृत्यु ही उसके अपूर्ण रह जाने का कारण रही होगी। इस प्रकार 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' के बाद 'नवाब-खानखाना-चरित' लिखा गया होगा। 'जहाँगीरचरितम्' रुद्र कवि की अंतिम कृति होगी। इस विचार पर पहुँचने के और भी अनेक कारण हैं, जिनका आगे यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

कवि का व्यक्तिगत परिचय

कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में उनकी कृतियों से या अन्य मार्गों से बहुत ही थोड़ा ज्ञात होता है। 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' से रुद्र कवि के पिता का नाम अनंत और पितामह का नाम केशव विदित होता है।[७] यहाँ इस बात पर जोर देना अनावश्यक है कि वे एक प्रकांड विद्वान् ब्राह्मण थे और देवी भगवती अंबिका के कृपापात्र एवं कवित्व-शक्ति-संपन्न थे (जगदम्बिकांघ्रिकमलद्वंद्वार्चनाप्राप्तधीः)। रुद्र कवि के विषय में निश्चयपूर्वक इतना ही कहा जा सकता है कि वे नारायणशाह एवं उनके सुपुत्र प्रतापशाह, इन दोनों के सभा-कवि थे। कवि इसका

७—आसीत्कोऽपि महीमहेन्द्र-मुकुटालंकार-हीरावली-
तेजःपुञ्ज-नितान्त-रंजित-पदः श्री **केशवाख्यो** बुधः।
विद्वन्मण्डलमण्डनं समभवत्तस्मादनन्ताभिधः
तत्पुत्रो जगदम्बिकांघ्रिकमलद्वंद्वार्चनाप्राप्तधीः॥
······पंडितमंडलाम्बुजरविः श्री रुद्रनामा कविः। (रा० वं० म० २०।९७)

बारबार संकेत करता है। 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' नारायणशाह की आज्ञा से लिखा गया था,[८] और 'नवाब-खानखाना-चरित' प्रतापशाह की प्रेरणा से—

महाराजप्रतापशाहोद्योजित (प्रथमोल्लास के अंत में)।

श्रीमत्प्रतापशाहोद्योजित (द्वितीयोल्लास के अंत में)।

शाला-मयूराद्रि-पुरन्दर-प्रतापशाहोद्योजित (तृतीयोल्लास के अंत में)।

इनसे हम यह अर्थ लगाते हैं कि 'जहाँगीरचरित' भी प्रतापशाह की आज्ञा से लिखा गया होगा। बागुलान[९] या शालामयूराद्रि[१०] के राठौर राजपूत राना प्रतापशाह की छत्रछाया में ये तीनों ग्रंथ नासिक के पास कहीं लिखे गए होंगे। उनकी रचना ई० १५८६ और १६०८ के बीच की मालूम पड़ती है। अतः उनका कार्य-काल सोलहवीं शताब्दी के अंत और सत्रहवीं शताब्दी के आदि में रहा होगा।[११]

८—रा० वं० म० की समाप्ति पर पुष्पिका—"इति श्रीमदखिलभूपाल-मौलि-मुकुट-ललाम-माला-मरीचि-वीची-चुम्बित-चरण-सरोज-मयूर-गिरि-केसरि-श्रीमहाराजाधिराज-श्रीनारायण-शाहोद्योजित-दाक्षिणात्य-रुद्रकवीन्द्र-विरचिते राष्ट्रौढवंशे विंशतितमः सर्गः।"

९—बागुलान के बागुला लोग अपने को कन्नौज के राठौर वंश के वंशज बतलाते हैं। बागुलान नासिक के आसपास का क्षेत्र कहलाता है। 'आइने-अकबरी' (१५६०) में वर्णित है कि यह पहाड़ी और घनी आबादी वाला प्रदेश है। यहाँ सात किले थे जिनमें मुल्हेर और सालेर (मयूर और शाला) बहुत मजबूत थे।

१०—नासिक गजेटियर में लिखा है कि मयूरगिरि ही मुल्हेर है। महाभारत-काल में ये किले मयूरध्वज और ताम्रध्वज के अधिकार में थे। सताना में मुल्हेर किला मुल्हेर गाँव से दो मील दूर एक पहाड़ी पर २००० फुट की ऊँचाई पर है। यह मालेगाँव से ४०० मील दूर उत्तर-पश्चिम में मुसाम घाटी के मुख पर अवस्थित है। सालेर किला बारह मील और आगे पश्चिम की ओर है।

११—कहा जाता है कि सूर्य पंडित या सूर्य दैवज्ञ, जो पूर्णतीर्थ के पास पार्थनगर का रहनेवाला था, हमारे रुद्र कवि का पूर्वज था। पार्थनगर गोदावरी के उत्तर तीर पर विद्यमान था। सूर्य ज्ञानराज का पुत्र और अनेक कृतियों का कर्ता था। उसका 'प्रबोधसुधाकर' नामक वेदांत-ग्रंथ बीस अध्यायों में छंदोबद्ध है। गीता पर 'परमार्थप्रपा' नामक टीका, 'रामकृष्ण-विलोम-काव्य' नाम का अनुप्रास-यमक-युक्त काव्य और 'कूपिका' उसके विख्यात ग्रंथ हैं। बंगाल रायल एशियाटिक सोसायटी की हस्तलिखित-ग्रंथ-सूची (जिल्द ७, पृ० ३३३) में

नारायणशाह और प्रतापशाह

नारायणशाह और प्रतापशाह (उसका पुत्र, जो रुद्र कवि का आश्रयदाता था) राठौर वंश के थे। हमारे कवि की कृति 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' में इस वंश के विषय में अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक बातें दी हुई हैं। नारायणशाह भैरव-सेन का पुत्र और वीर(म)सेन का छोटा भाई था। जब वीरसेन मयूरगिरि पर शासन कर रहा था तब नारायण की ख्याति सुनकर बादशाह ने वीरसेन को दिल्ली बुलाकर उसका सम्मान किया, और इसी कारण वीरसेन की रानी दुर्गावती ने दोनों भाइयों में द्वेष-भावना का बीज बो दिया। जब इस कलहाग्नि का रूप भयंकर सा हो गया तब नारायण को मयूरगिरि छोड़ देने की आज्ञा हुई। इसपर नारायण-शाह ने वहाँ से निकलकर शालागिरि पर अधिकार कर लिया। कुछ ही दिनों में सारे गढ़ नारायण के अधीन हो गए। इसके उपरांत वह अपने ज्येष्ठ पुत्र[१२] प्रताप को शालागिरि की रक्षा के हेतु छोड़ आप मयूरगिरि की ओर बढ़ा। वीरसेन का पक्ष त्यागकर लोगों ने नारायण की छत्रछाया ग्रहण की और उसे राजा एवं रक्षक घोषित किया।

नारायणशाह जैसे अनेक युद्धों का विजेता था वैसे ही धार्मिक भी था। उसने अनेक पवित्र तीर्थों की यात्रा की थी और ब्राह्मणों को दान दिया था। उसने देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की थीं, तुलादान किया था और अग्निष्टोम आदि अनेक यज्ञ भी किए थे।

दैवज्ञ पंडित सूर्य के नाम पर एक 'नृसिंहचंपू' (सं० ५४१८) भी लिखा गया है। सूर्य दैवज्ञ का समय ई० १४००—१४५० के लगभग था, किंतु रुद्र कवि के किसी ग्रंथ में सूर्य दैवज्ञ का उल्लेख नहीं है। तथापि सूर्य के कुल में रुद्र कवि का उत्पन्न होना कोई असंभव बात नहीं है।

१२—श्रीनारायणनृपतेर्जयन्ति पुत्राश्चत्वारः प्रथम इह प्रतापशाहः।
तस्यान्वक् स हरिहरश्चतुर्भुजाख्यः तत्पश्चात्तदवरजस्तु राजसिंहः ॥
लोक-लोचन-चकोर-सुधांशोः
श्री-प्रताप-नृपतेरपि सूनुः।
सार्वभौम-भजनीय-गुणानां
आस्पदं जयति भैरवसेनः ॥ (रा० वं० म०, २०।६२)

नारायणशाह का व्यवहार दिल्ली के बादशाहों के प्रति मैत्रीपूर्ण था और दक्षिणी राज्यों में उसका आदर और आतंक था। अहमदनगर के बुरानशाह ने दक्षिणी प्रदेशों को जीतने के लिये उसकी सहायता ली थी। जब अकबर ने ई० १५६६ में खानदेश जीता था तब उसने बागुलान को लेने की कोशिश की थी; प्रतापशाह[13] के विरुद्ध उस समय सात वर्ष तक घेरा पड़ा रहा, पर अंत में अकबर को उससे संधि करनी पड़ी।

प्रतापशाह का संबंध जहाँगीर से अच्छा था। जहाँगीरनामा[14] में भी बागुलान देश की प्रशंसा की गई है; पुराने संबंधों की स्मृति स्पष्ट हो गई है और जहाँगीर ने अंत में यह भी कहा है कि उसने प्रतापशाह को तीन अंगूठियाँ, याकूत, हीरा और लाल दिए थे। जहाँगीर के संबंध में दो साधारण उल्लेख 'नवाब-खानखाना-चरित' में आते हैं—

(१) मनोहर-छत्र-चामर-मेघ-डम्बर-सुन्दर-भू-पुरंदर-साहि - जहाँगीर - नुरदीन - मुहमद-रत्नाकर··· ।

(द्वितीयोल्लास)

(२) तत्तदाकर्ण्याकब्बर-श्रीसुरत्राण-सुत्राम-पुत्राग्र्य-नुर्दीजहाँगीर - शाह - द्वितीय-प्रिय-प्राण-गीर्वाणनाथो··· ।

(तृतीयोल्लास)

'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' में जहाँगीर का नाम आता ही नहीं और नवाब-खानखाना-चरित में दो बार आता है तथा पूरा 'जहाँगीर-चरित' अंत में आता है—यह इस बात का दिग्दर्शक है कि किस तरह प्रताप धीरे-धीरे जहाँगीर के संपर्क में आया और सुपरिचित बना। यह विचार अंत में अधिक स्पष्ट होगा।

नवाब खानखाना

रुद्र कवि की यह कृति 'नवाब-खानखाना-चरित' बैराम खाँ के सुपुत्र खानखाना मिर्जा खाँ अब्दुर्रहीम की वीरगाथा है। खानखाना एक प्रकार से अकबर के संबंधी थे। उनका जन्म ई० १५५५ के लगभग हुआ था और लालन-पालन राजकुमार की भाँति हुआ था। बड़े होने पर वे एक बड़े विद्वान् कवि और बहु-

१३—मुल्हेर के किले में गणेश-देवालय के पत्थर के खंभे में शकाब्द १५३४ (ई० १६१२) का मराठी में उत्कीर्ण एक शिलालेख इस विषय में प्राप्त है।

१४—मेमॉयर्स ऑव जहाँगीर, पृ० ३६६

भाषाविद् हुए। फारसी उनकी मातृभाषा थी, परंतु उर्दू और अरबी पर भी उनका प्रभुत्व था। वे हिंदी और संस्कृत भी अच्छी जानते थे।

हिंदी-संसार में वे 'रहीम' कवि नाम से विख्यात हैं और उनके दोहे अत्यंत लोकप्रिय हैं। कहा जाता है कि उनकी तुलसीदास से मित्रता थी और गंग कवि को उन्होंने बहुत बड़ा दान दिया था। स्वयं कवि होने के कारण वे सहृदय, उदार, दयालु और परोपकारी थे।

अकबर की सेना के वे एक विश्वासी सेनापति थे। मुजफ्फर गुजराती (१५८३-९१) के विद्रोह-काल में खानखाना ने अकबर की अमूल्य सेवा की थी। उनकी नियुक्ति गुजरात में हुई और १५८४ में उन्होंने मुजफ्फर खाँ को हराकर कच्छ में भगा दिया। इसी सेवा के फलस्वरूप उन्हें 'खानखाना' की उपाधि मिली थी [१५]

अकबर द्वारा रहीम को दी गई 'खानखाना' की उपाधि कुछ नई नहीं थी। अहमदशाह बहमनी को भी यही उपाधि उसके चाचा द्वारा मिली थी (१४२२-३५)। रहीम खानखाना की उपाधि जहाँगीर द्वारा छीन ली जाने पर नूरजहाँ ने महाबत खाँ को यही उपाधि दी थी।

खानखाना-चरितम्

सूक्ष्म रूप से विचार करने पर 'खानखाना-चरितम्' को न तो कथा कहा जा सकता है न आख्यायिका। साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम है। इसके खंड, उच्छ्वास न कहे जाकर उल्लास कहे गए हैं। इसमें आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र नहीं हैं, केवल लंबे छंद ही हैं जो कथा और आख्यायिका दोनों में पाए जाते हैं। बड़े बड़े समास इसमें विद्यमान हैं, जो दंडी के कथनानुसार गद्य का प्राण हैं। यह तो निश्चित है कि 'खानखाना-चरित' बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के ढंग पर रचा गया है। रुद्र कवि ने इसमें पांचाली रीति का अनुसरण किया है। इस ग्रंथ में शब्दार्थालंकारों की प्रचुरता एवं श्लेष की प्रधानता है। गद्य की सुंदरता

१५—रहीम कवि का युद्ध और सैनिकों के विषय में क्या मत था, यह निम्नलिखित दोहे से विदित होता है—

सबै कहावै लसकरी, सब लसकर को जाय।
रहिमन सेल्ह जोई सहै, सोई जगीरै खाय॥

के लिये पौराणिक उल्लेखों का उपयोग किया गया है। पद-पद पर लयबद्ध ध्वनि की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है। श्लेष और अनुप्रास (जो रुद्र कवि के प्रधान अस्त्र हैं) के अतिरिक्त विरोध, निदर्शना, सहोक्ति आदि का भी स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है।

शैली इसकी अवश्य ओजपूर्ण है, परंतु कथानक वा घटना कुछ ऐसी नहीं हैं जिससे वीररस का उद्रेक हो। केवल शब्दाडंबर और अतिशयोक्ति की ही प्रधानता है। कवि को अब्दुर्रहीम के विषय में अधिक ज्ञान नहीं है, इसलिये उसने कवि-संकेतों का सहारा लेकर कथा-नायक का रूढ़ शब्दों में वर्णन किया है।

प्रथमोल्लास का प्रारंभ निम्नलिखित श्लोक से होता है—

मन्ये विश्वकृता दिशामधिपता त्वय्येव संस्थापिता
यस्माज्जिष्णुरसि प्रभो शुचिरसि त्वं धर्मराजोऽप्यसि।
राजन्पुण्यजनोऽसि विश्वजनताधारप्रचेता जगत्-
प्राणस्त्वं धनदो महेश्वर इह श्री खानखान-प्रभो॥

तदुपरांत खानखाना की प्रशंसा प्रारंभ होती है। जैसे—वे राजाओं के राजा हैं; संसार में अपने प्रचंड बाहुबल के लिये विख्यात हैं; उनकी कीर्ति आकाश और पाताल में परिव्याप्त है; वे धन, सौंदर्य, सद्गुण, पवित्रता, सामर्थ्य आदि के आगार हैं; उन्होंने सारे भारतवर्ष को—अंग, कलिंग, कुरुजांगल, मगध, गुर्जर मालव, केरल, केकय, कामरूप, कोशल, चोल, बंगाल, पांचाल, नेपाल, कुंतल, लाट, कर्णाट, पौंड, द्राविड़, सौराष्ट्र, पांड्य, काश्मीर, सौवीर, वैदर्भ, कान्यकुब्ज इत्यादि को—जीत लिया है; वे संधि-विग्रह-कला में निपुण हैं और अपना समय मृगया, क्रीड़ा, अध्ययन, अन्वेषण, गायन, चित्रकला आदि में व्यतीत करते हैं। निम्नलिखित उद्धरण से रुद्र कवि की उस गंभीर गरिमामयी शैली का पता चलता है जिसमें उन्होंने खानखाना का वर्णन, बिना किसी ऐतिहासिक तथ्य का अभास दिए, किया है—

द्वितीयः कलंकविकलः कुमुदिनीकान्त इव, स्वतंत्रस्तृतीय नासत्य इव, जलाभिभवनस्तुरीयः पावक इव, निरस्तभुजंगमकरः पंचमो रत्नाकर इव, अकल्पित-वितरण-निपुणः षष्ठः कल्पद्रुम इव, अपरिमितसत्त्वः सप्तमः शक्र इव, सर्वत्र सर्वसमयगेयो मूर्तिमानष्टमः स्वर इव, सपक्षः स्वैराचारी नवमः कुलाचल इव, सकल-जननयनानन्द-निदानं परानधीनो दशमः निधिरिव...।

इसी प्रकार की अतिशयोक्ति से पूर्ण आठ छंदों से प्रथम उल्लास का अंत होता है।

द्वितीय उल्लास निम्नलिखित श्लोक से आरंभ होता है—

श्रीमानकल्पमहीरुहः किमवनौ किंवा स चिंतामणिः
किं कर्णः किमु विक्रमः किमथवा भोजोऽवतीर्णः परः।
इत्थं यत्र विलोकिते मतिमतां बुद्धिः समुज्जृम्भते
सोऽयं संप्रति खानखान-नृपतिर्जीयात् सतां भूतये ॥

द्वितीय श्लोक में इस आशय का वर्णन मिलता है कि यह योद्धा सिंधुदेश का रहनेवाला है। शेष प्रास्ताविक छंदों में खानखाना की वीरता की प्रशंसा है। गद्य-भाग में निम्नलिखित प्रकार के वर्णन देखकर विदित होता है कि जिस चातुर्य से प्रसिद्ध बाणभट्ट ने भाषा-भामिनी का विलास प्रकट किया है उस चातुर्य में रुद्र कवि भी कम न था—

(१) यस्य च मनसि धर्मेण, तोषे धनदेन, रोषे कृतान्तेन, प्रतापे तपनेन, रूपे मदनेन, करे दिव्यद्रुमेण, वदने सरस्वतीप्रसादेन, बले मारुतेन...।

(२) यत्र च राजनि राजनीतिचतुरे चतुरर्णवमेखलमेदिनीमण्डलमखण्डं शासति विवादः षड्दर्शनेषु, सर्वमिथ्यावादो वेदान्तेषु, भेदवादस्तर्केषु, अविद्याप्राधान्यं पूर्वमीमांसायां (?), स्फोटाविर्भावो व्याकरणेषु, नास्तिकताचार्वाकेषु, महापातकोपपातकश्रवणं धर्मशास्त्रेषु, नयनाश्रूणि हरिकथाश्रवणेषु...।

(३) जय जय राजसमाजविभूषण, विदलितदूषण, गुणगणमन्दिर, मन्मथसुन्दर...।

(४) अपि च मदन इव नागरीभिः, तपन इव तपस्विभिर्दहन इव मनस्विभिः, शमन इव शत्रुभिः, पवन इव पथिकैः, स्वजन इव सुहृज्जनैः...।

इस उल्लास में खानखाना के घोड़े का लंबा वर्णन है। अंत के आठ श्लोक, जिनमें से एक यहाँ उद्धृत है, रुद्र कवि की कवित्व-शक्ति का परिचय कराते हैं—

कलिः कृतयुगायते सुरपदायते मेदिनी
सहस्रकिरणायते भुजयुगप्रतापोदयः।
यशो हिमकरायते गुणगणोऽपि तारायते
सहस्रनयनायते नृप-नवाब-वीराग्रणीः ॥

चौथे और पाँचवें छंद में खानखाना की उदारता का वर्णन मिलता है। तृतीय उल्लास छोटा है। वह इस प्रकार आरंभ होता है—

विद्वन्मण्डलकल्पपादपवनं विद्योतिवाग्देवता-
संकेतायतनं नितान्त-कमलालीला-विलासायनम् ।
सर्वोधावनि चक्र-भाग्य-सदनं (?) भूमंडली-मंडनं
कीर्तेः केलिनिकेतनं विजयते श्रीखानखाना नृपः ॥

और उसी प्रकार के वीरत्व और औदार्य के वर्णन से समाप्त होता है ।

ऐतिहासिक महत्त्व

इस प्रकार संपूर्ण कृति अलंकारपूर्ण गद्य और पद्य का सुंदर नमूना है । जैसा पहले कह आए हैं, उसमें ऐतिहासिकता का अभाव है । परंतु ग्रंथ-समाप्ति के पश्चात् अंतिम पुष्पिका में जो पाँच श्लोक आते हैं उनसे कुछ दूसरी ही ध्वनि निकलती है । वे ऐतिहासिकता से परिपूर्ण हैं—

त्वद्दोर्दण्डबलोपजीविकतया त्वामेव यो नाथते
त्वत्कल्याण परंपराश्रवणता पुष्टिं परां योऽश्नुते ।
दूरस्थोऽपि च यस्तवैव परितः प्रख्यातिमाभाषते
सोऽयं नार्हतु खानखान भवतः प्रीतिं प्रतापः कथम् ॥१॥

पूर्वं वीरपदेषु पुत्रपदवीमारोपितः श्रीमता
यद्याकब्बरसाह पार्थिवमणेरन्नं ततो भक्षितम् ।
सोऽयं तेन मुदा नवाब-चरणान् प्राप्तः प्रतापः पुनः
यत्ने संप्रति खानखान नृपते योग्यं तदेवाचर ॥२॥

सकलगुणपरीक्षणैकसीमा । नरपतिमंडलवन्दनीयधामा ॥
जगति जयति गीयमाननामा । गरिबनवाज नवाब खानखाना ॥३॥

बलिनृपबन्धनविष्णुर्जिष्णुः श्री खानखानायम् ।
अम्बर शम्बर मदनौ तनयौ मीरजी अली च दाराबौ ॥४॥

वीर-श्रीजहंगीर-साहि-मदन-प्रौढ-प्रतापोदय-
क्षुभ्यद्दक्षिण-दिक्कुरंगनयना-संसर्ग-सक्तात्मनि ।
क्षोणीमंडल खानखान-धरणीपाले तदीयाम्बर-
व्याक्षेपाय करं वितन्वति तया सानन्दया भूयते ॥५॥

ये श्लोक एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं

जो यदि सत्य प्रमाणित हुआ तो उससे इस 'नवाब-खानखाना-चरित' का साहित्यिक के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी हमारे लिये कम न रहेगा।

१—पंचश्लोकी के प्रथम श्लोक से यह ज्ञात होता है कि बागुलान का राजा प्रतापशाह किसी संकट में पड़ा था और अब्दुर्रहीम खानखाना से उसने सहायता के लिये प्रार्थना की थी—(त्वामेव यो नाथते)। प्रतापशाह ने दिल्ली अर्जी भेजी थी और उसे खानखाना पर पूर्ण विश्वास था। प्रतापशाह उम्र में छोटा होने तथा कठिनाई बड़ी होने के कारण अब्दुर्रहीम की सहायता के योग्य पात्र था।

२—दूसरे श्लोक में मुल्हेर-दरबार और दिल्ली-दरबार की प्राचीन मित्रता के साथ इस बात का भी गुप्त संकेत है कि बागुलान का राजा दिल्ली के दरबार को कुछ कर देता था (अकब्बरसाह पार्थिवमणेरन्नं ततो भक्षितम्)। इसी प्राचीन मैत्री का विश्वास करके प्रतापशाह ने नवाब खानखाना से सहायता की याचना की थी।

३—तीसरे श्लोक में खानखाना को 'गरीबनिवाज' कहा गया है और यह भी कहा गया है कि संसार में इसी कारण उनकी ख्याति है।

४—चौथे श्लोक में रूपक की सहायता से यह दिखलाया गया है कि राजा प्रतापशाह कैसे संकट में था। 'बलिनृप-बंधन-विष्णुः'—बलवान् राजाओं का बंधन करनेवाला होने के कारण नवाब खानखाना को यथार्थ रूप से विष्णु कहा है। यहाँ इस रूपक की यथार्थता इसी रूप से सफल होती है कि खानखाना का जहाँगीर पर बहुत बड़ा प्रभाव था, और इतिहासज्ञों को यह भली भाँति ज्ञात है कि अकबर के समय से ही खानखाना की जहाँगीर पर विशेष प्रीति थी। जहाँगीर पर खानखाना की इस प्रीति को देखकर नूरजहाँ उनसे द्वेष करती थी। इसलिये, इस रूपक से जान पड़ता है कि जहाँगीर ने प्रतापशाह के लिये कुछ संकट खड़ा किया होगा। इसी से उसने मित्रतावश नवाब खानखाना से मदद माँगी होगी। विष्णु का रूपक पूर्ण करने के लिये खानखाना के दो पुत्रों का नाम मीर अली और दाराब दिया है।

५—पाँचवें श्लोक में जो रूपक है उससे यही बात और स्पष्ट हो जाती है। वीर सम्राट् जहाँगीर के बढ़ते हुए रोष ने कुरंगनयना दक्षिण-दिशा-सुंदरी को डरा-सा दिया था। क्षोणिमंडन खानखाना का हाथ उसके अंबर तक पहुँच जाता है तो वह प्रसन्न होती है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जहाँगीर ने दक्षिण में अपनी सेना इस दक्षिणी राजा को दबाने के लिये भेजी थी और बागुलान को मुगल

फौजों ने जीत लिया था। शायद मुल्हेर पर घेरा पड़ा था और इसी संकट में पड़ने के कारण प्रतापशाह ने खानखाना से सहायता माँगी थी।

'खानखाना-चरित' कदाचित उन्हीं के पास अर्जी (अंत की पंचश्लोकी) और उपहार के साथ भेजी गई हो। इसी लिये यह कहा जा सकता है कि ऊपर से सारहीन लगनेवाले इस प्रशस्ति-काव्य में कुछ ऐतिहासिक तथ्य अनिवार्य है। इसका एक और कारण यह हो सकता है कि खानखाना अब्दुर्रहीम स्वयं भी एक विख्यात कवि थे।

रुद्र कवि ने ऐसे कठिन समय में इस काव्य की रचना कर अपने आश्रय-दाता की बड़ी सेवा की। मुल्हेर का घेरा ई० सन् १६०६ के लगभग उठा दिया गया होगा और उसके बाद प्रतापशाह ने रुद्र कवि को बादशाह जहाँगीर की प्रशस्ति लिखने का हुक्म दिया होगा, जिसके फलस्वरूप 'जहाँगीर-चरितम्' काव्य बना।

अहमदनगर का युद्ध

ग्रंथ-समाप्ति के उपरांत जो पाँच श्लोक आए हैं उनमें दूसरा श्लोक "पूर्वं वीरपदेषु पुत्रपदवीमारोपितः श्रीमता"—इस वाक्य से आरंभ होता है। इससे यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है कि प्रतापशाह पहिले खानखाना द्वारा 'वीर' और फिर 'पुत्र' क्यों कहा गया? इसके लिये हमें रुद्र कवि विरचित 'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' में वर्णित अहमदनगर के युद्ध का संदर्भ देखना होगा। मुसलमान लेखकों के आधार पर स्मिथ ने जो वर्णन दिया है उसमें इसका उल्लेख स्पष्ट नहीं होता। अकबर की ओर से बागुलान-नृप प्रतापशाह का अहमदनगर के युद्ध में लड़ना प्रचलित इतिहासों में नहीं पाया जाता। ब्रिग्ज[१६] और अन्य इतिहासज्ञों[१७] द्वारा दिया हुआ अहमदनगर-युद्ध का वृत्त यह है—

"सन् १५९३ में अकबर ने अहमदनगर के शासक बुरहानुल्मुल्क के विरुद्ध युद्ध घोषित किया, क्योंकि वह स्वाधीनता चाहता था, दिल्ली-दरबार के अधीन रहना नहीं चाहता था।

१६—फरिश्ता, ३, २९२–३०४

१७—अकबर, दि ग्रेट मुगल (वी० स्मिथ), पृ० २४९, २६६; हिस्टारिकल लैंडमार्क्स ऑव द डेक्कन, पृ० १७२–७३

"सन् १५९५ में बुरहानुल्मुल्क के बाद इब्राहीम गद्दी पर बैठा। इसके उपरांत राजधानी अहमदनगर राज्य-कलहों के संघर्ष का केंद्र बन गया। आपसी वैमनस्य इतना बढ़ गया कि एक पक्ष ने अकबर के द्वितीय पुत्र मुराद से सहायता माँगने की भयंकर भूल की। मुराद उस समय गुजरात का शासक था। इस घटना से दिल्ली के बादशाह को दक्षिणी राज्य-कलह में हाथ डालने का अवसर मिला। अकबर ने ७०,००० अश्वसेना का सेनापति बनाकर खानखाना को दक्षिण भेजा। शाहजादा मुराद को खानखाना से मिलने का आदेश दिया गया।

"मुराद और खानखाना की फौजों में विवाद उपस्थित हो गया। मुराद की इच्छा थी कि हमला गुजरात की ओर से हो, परंतु खानखाना का कहना था कि हमला करने के लिये सेना मालवा से उतरे। अंत में दक्षिण की ओर बढ़ती हुई फौजें बरार पहुँच गईं और वहाँ से राजधानी अहमदनगर पहुँचकर घेरा डाला गया।

"जिन लोगों ने शाहजादे को बुलवाया था उन्हें अब अपनी भूल मालूम हुई। कुछ दिनों तक फिर सभी दलों ने मिलकर आक्रमणकारी का मुकाबला किया। सुलतान चाँदबीबी की बहादुरी के कारण आक्रमणकारियों को सफलता न मिल सकी और बीजापुर के नपुंसक सेनापति सुशील खाँ ने मुगल सेनापतियों को संधि-प्रस्ताव भेजने के लिये संदेश दिया। सन् १५९६ में संधि हुई जिसके अनुसार अहमदनगर-राज्य से बरार का इलाका अकबर के साम्राज्य में चला गया।"

दूसरा वर्णन—'राष्ट्रौढवंश-महाकाव्य' के बीसवें सर्ग में हमें इसी अहमदनगर के युद्ध का कुछ दूसरा ही वर्णन मिलता है—

"निजामशाह के राज्य को जीतने के लिये अकबर के पुत्र मुराद की सेनाओं ने प्रस्थान किया। अकबर ने नारायणशाह को एक पत्र लिखा और एक सफेद घोड़े के साथ भेजा। उसमें नारायणशाह को मुराद की सहायता करने को लिखा था। नारायण ने मुराद को साथ ले लिया। कुछ ही दिनों के बाद प्रतापशाह भी साथ हो गया। इसके बाद शत्रु की शक्ति का पता लगाने का निश्चय हुआ।

"वर्षा ऋतु के बाद प्रताप अपनी सेना लेकर मुराद से जा मिला। संयुक्त सैन्यदल शत्रु-मंडल (जालन इलाके में) में प्रवेश करने लगे। खानखाना और खानदेश के मीर राजा अली खाँ बाद में आ मिले। खानखाना ने मुराद से मीर को सेनापति बनाने को कहा, परंतु मुराद ने अस्वीकार कर दिया, क्योंकि प्रताप पहिले

से ही सेनापति बनाए जा चुके थे। अहमदनगर पर घेरा डाल दिया गया। प्रताप इतनी बहादुरी से लड़े कि मुगल सेनानियों के छक्के छूट गए।[१८]

"अहमदनगर के किले पर हमला किया गया।[१९] दुर्ग के रक्षकों ने आत्म-समर्पण कर दिया और विराट् (विदर्भ, वैराट) राज्य लेकर लौट जाने की प्रार्थना की।[२०] विजयी सेना ने बरार के बालापुर नगर में बरसात भर के लिये डेरा डाल दिया और खानखाना और शाहजादा मुराद से आज्ञा लेकर प्रतापशाह मयूरगिरि आ गए। यही वह अवसर था जब प्रताप ने खानखाना की कृपा-दृष्टि पाई थी और प्रताप की वीरता खानखाना को मुग्ध कर सकी थी।"

सारांश

(१) इस ग्रंथ का वास्तविक उद्देश्य प्रतापशाह के लिये खानखाना का सहयोग और सैनिक सहायता प्राप्त करना था, किंतु ग्रंथकार ने एक अपूर्व कवित्वपूर्ण ढंग से इस लक्ष्य का गोपन कर सुंदर चंपूकाव्य की रचना की, अर्थात् उक्त उद्देश्य को काव्य के आवरण में उपस्थित किया।

(२) साथ ही अकबर के शासनकाल के इतिहास की रचना के लिये राष्ट्रौढ-वंश महाकाव्य का महत्त्व स्पष्ट है, क्योंकि उसमें दक्षिण को अधीन करने के विषय में अकबर के मंसूबे दिखलाए गए हैं।

१८—अथ शाहमुराद भूमिपालो मुदितः प्राह वचः प्रतापशाहम्।
विजितैव न केवलं त्वया भूरपि पीयूषसगोत्रकीर्तिधौता॥ (२०।६७)
सत्यं त्वमसि गांगेयः क्षितावेकमहारथः।
विगणय्य गणास्त्वाखि यदेको हतवान् रिपून्॥ (२०।६६)

१६—ततः परं शाहमुराद वीरप्रतापभूमीपति खानखानाः।
प्रत्येकमातन्वत तत्र दुर्ग-प्राकार-पाताय महासुरंगान्॥ (२०।७२)

२०—ततः परं रम्यमुपायनीयमानीय नानाविध वस्तुजातम्।
अनन्यगत्यात्मविदो विपक्षा वीरत्रयीं तां शरणं ययुस्ते॥ (२०।७७)
प्रदीयतां संप्रति केवलं नः सौराज्यमेतत्प्रथमं प्रवीराः।
तद्ग्राहयमार्यैस्तु विराटराज्यं तानाहुरेवं रिपवः शरण्यान्॥ (२०।७८)

कामायनी-दर्शन

[ले० श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव]

प्रसाद जी की कामायनी पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है, परंतु वह सब उसके अंतस्तल में पैठने के प्रयत्न की पूरी भूमिका भी नहीं है। कामायनी की टीकाएँ भी लिखी गई हैं, पर वे पर्याप्त नहीं कही जा सकतीं। बात यह है कि कामायनी में प्रसाद का दृष्टि-बिंदु जब तक भली भाँति पकड़ में न आ जाय, तब तक उसकी सम्यक् टीका या उपयुक्त व्याख्या हो ही नहीं सकती; यों प्रत्येक अनुशीलक को उसकी सूझ-बूझ के अनुसार कुछ न कुछ उसमें से निंदा वा स्तुति के लिये मिलता ही रहेगा। ऐसे विद्वानों की बात मैं नहीं कह सकता जो कामायनी के स्तर तक उठने का प्रयत्न ही नहीं करते और अपने अभाव को प्रसाद पर आरोपित करते हैं, परंतु प्रसाद के सहृदय पाठकों और कामायनी-रसिकों के लिये तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि कामायनी में प्रसाद की जीवन-दृष्टि उनकी प्रतिभा के रस में उनके अनुभव की निर्धूम आँच पर खूब सीझकर पगी है; उसमें वह भारतीय संस्कृति विषयक उनके अध्ययन-मनन के नवनीत के रूप में आई है; वह उनके आजीवन तप का पूर्ण परिपक्व फल है। हम यहाँ उनके दार्शनिक विचारों के क्रम-विकास पर विचार न कर इस लघु लेख को कामायनी के ही भीतर सीमित रखेंगे।

प्रसाद के मर्मज्ञों ने ठीक ही लक्ष्य किया है कि वे शैव थे, और कामायनी में शैव-सिद्धांत ही व्यापक हैं। परंतु मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रसाद के शैव-सिद्धांत किसी गुरु-मंत्र, शिवालय या ग्रंथ-विशेष तक सीमित नहीं थे, न उन्होंने आँख मूँदकर किसी परंपरा का अनुसरण किया। प्रसाद जी अतीत और वर्तमान दोनों के प्रति पूर्ण जागरूक थे और दोनों में उनकी समान निष्ठा थी, परंतु बिना विचार के वे किसी एक को ग्रहण करने के लिये आतुर न थे। वस्तुतः वे अतीत, वर्तमान और भविष्य में अखंड रूप से प्रवाहित होनेवाली किसी अविच्छिन्न चिंतन-धारा की खोज में थे (और अंत में उन्हें उसका दर्शन कामायनी में मिला), परंतु

उनके जैसे मननशील तत्त्वान्वेषी कवि के लिये बिना अपने अनुभव की आँच में तपाए सभी कुछ को सोना मान लेना सहज न था।

प्रचलित शैव मत, जिसके प्रभाव में संभवतः वे पले, भेद अथवा द्वैतवाद है। द्वैत, सगुण और मूर्त के बीच ही उत्पन्न होने और जीवन बिताने के कारण स्वभावतः उसी की सत्यता में हमारा पूर्ण विश्वास होता है; प्रसाद जी का भी था। उनके जैसा छककर जीवन का रस पीनेवाला कवि इस द्वैतमय व्यवहार-जगत् की उपेक्षा कैसे कर सकता था? परंतु इस जाने-पहचाने सूक्ष्म-स्थूल जगत् का संपूर्ण रस पान कर लेने पर भी तो भीतर की प्यास बुझ नहीं पाती! संपूर्ण समृद्धि, संपन्नता एवं भोग के बीच भी कोई अवसाद, कोई चिंता, कोई तड़प हृदय को रह-रहकर मथ दिया करती है। चित्त किसी की खोज में व्याकुल हो जाता है, यद्यपि उसे पहचान नहीं पाता—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी
यह सब क्या छाया उलझन है?
सुंदरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है?
मेरी अक्षय निधि तुम क्या हो
पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें?
उलझन प्राणों के धागों की
सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।

(कामायनी, 'काम' सर्ग)

कौन-सा वह अमृत है जिसकी एक घूँट[1] के लिये कवि को इतनी प्यास? और है कहाँ वह अमृत? क्या देवताओं के स्वर्ग में? नहीं, स्वर्गीय सुधा की मरीचिका से प्रसाद को नहीं बहलाया जा सकता। तो क्या वह बुद्ध की करुणा में है? निश्चित जान पड़ता है, उसने प्रसाद को कम नहीं ललचाया। परंतु क्या दुनिया दुःख ही दुःख है? अपना और अपनों का दुःख यों ही कम नहीं, तिसपर विश्व भर का दुःख! जो थोड़ा-बहुत आनंद मिलता है उसे भी छोड़ दुःख ही की चिंता में पीले पड़े रहे, यहाँ तक कि वस्त्रादि भी उसी चिंता की पीली ध्वजा फहराते रहें? जान पड़ता है यह बात भी प्रसाद के मन में जमी नहीं। तो फिर क्या इस दुःख

१—प्रसाद, "एक घूँट"

की 'उपेक्षा' की जा सकती है? आनंद सत्य है। सत्-चित्-आनंद मोहक शब्द हैं। परंतु दुःख की उपेक्षा के लिये यदि 'जगन्मिथ्या' कहें, तो मिथ्या जगत् का दुःख ही नहीं, आनंद भी मिथ्या है! दुःख और आनंद दोनों तो प्रत्यक्ष अनुभूत हैं। तब जगत् मिथ्या कैसे?

कठिन पहेली है। आनंद ही तो वह वस्तु है जिसे लेकर जगत् में जिया जाता है। यदि इंद्रियों का, विषयों का, सुख तुच्छ है, तो फिर श्रेष्ठ क्या है? और यदि ऐहिक सुख श्रेष्ठ और पवित्र है, तो इस प्यास, इस अतृप्ति का क्या रहस्य है? ज्यों-ज्यों सुलझाने की कोशिश करें, पहेली उलझती ही जाती है।

तत्त्वान्वेषी प्रसाद के लिये द्वैतमय दृश्य जगत् अनुभूत सत्य था; और उसके आनंद का आकर्षण भी, जिसकी उपेक्षा उन्हें असह्य थी। 'दुनिया भाँड़ा दुख का' वे मानने को तैयार न थे। इसका मूल तो आनंद ही होना चाहिए, जिसके पीछे दुनिया पागल है। उस अमृत आनंद की खोज में प्रसाद जी बराबर लगे रहे जिसका आभास मात्र भी अन्य सब-कुछ को भुलवा देने में समर्थ होता है। अनेक मुनि-मनीषियों ने उसके दर्शन के प्रयत्न में अनेक दर्शनों की रचना कर डाली है—उनकी भी झाँकी प्रसाद ने ली। परंतु वे (दर्शन) उसके रहस्य को खोलने के बदले उसके आवरण ही बनते गए—

> सब कहते हैं खोलो खोलो
> छवि देखूँगा जीवन धन की।
> आवरण स्वयं बनते जाते
> है भीड़ लग रही दर्शन की॥

प्रसाद जी उस सत्य की खोज में थे जो इस दृश्य जगत् में छिपा हुआ इसका मूल है। परंतु उस (तत्) को ग्रहण कर वे इस (इदम्) का त्याग करना नहीं चाहते थे, क्योंकि यह उनका प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य था। उन्होंने अनुभव किया कि उस मूल सत्य की खोज में इस संसार के त्याग का उपदेश, 'उस' और 'इस' के बीच भारी भेद की कल्पना, शुष्क तर्क का ही परिणाम है; सत्य तर्क या दिमागी कसरत से नहीं, अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है (नैषा तर्केण मतिरापनेया)—

> और सत्य यह एक शब्द तू
> कितना गहन हुआ है।

मेधा के क्रीड़ा पंजर का
पाला हुआ सुआ है ॥
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है ।
किंतु स्पर्श से तर्ककरों के
बनता छुईमुई है ॥

(कामा०, 'कर्म' सर्ग)

संसार को मिथ्या कहकर उसका त्याग इष्ट नहीं, परंतु पशु का सा भोग भी दुःख-पाश में बाँधने ही वाला है । बुद्धिवाद या प्रज्ञावाद से पशुता दूर नहीं होती, वे तो मनोनुकूल तर्क उपस्थित करके उसकी पुष्टि ही करते हैं—

मन जब निश्चित सा कर लेता
कोई मत है अपना ।
बुद्धि दैवबल से प्रमाण का
सतत निरखता सपना ॥

सदा समर्थन करती उसका
तर्कशास्त्र की पीढ़ी ।
ठीक यही है सत्य ! यही है
उन्नति सुख की सीढ़ी ॥

(वही)

पशु भोगी के सामने सदा श्रुतियों (कामायनी में श्रद्धा के उत्साह-वचन एवं काम-प्रेरणा) के भ्रांत अर्थ ही सामने आते हैं ।

प्रसाद जी श्रद्धाविहीन बुद्धिवादी न थे, प्रत्यक्ष अनुभूतियों के लिये उन्हें तर्क की आवश्यकता न थी । श्रद्धायुक्त मनन द्वारा अंत में उन्होंने सारी उलझनों का रहस्य भेदकर वह दर्शन पा ही लिया जिसमें मूर्त और अमूर्त, द्वैत और अद्वैत, बुद्धि और हृदय, विश्व और व्यक्ति का कोई विरोध न था । शक्ति के बिखरे हुए विद्युत्कणों का समन्वय कर उसमें मानवता को विजयिनी देखने का संकल्प—

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
निकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय॥
(कामा०, 'श्रद्धा' सर्ग)

कम से कम अपनी काव्य-कृति में उन्होंने पूरा कर लिया। इसी समन्वय में उस समरस आनंद अमृत की प्रतिष्ठा थी जो मानव-जीवन का महान् लक्ष्य है। फलस्वरूप हम कामायनी में 'चेतना का वह सुंदर इतिहास' पाते हैं जो वैदिक काल से आज तक आर्य-चेतना का ही इतिहास नहीं, मानव-चेतना का नित्य इतिहास है।

कामायनी में प्रसाद के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उन्होंने परंपरया भिन्न रूपों में गृहीत विचारधाराओं का सुंदर संगम ढूँढ़ निकाला है। वेद, ब्राह्मण और तद्वर्णित कथाओं की व्याख्या ऐतिहासिकों, नैरुक्तों और याज्ञिकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में की गई। ऐतिहासकों ने उन्हें इतिहास माना, नैरुक्तों ने निरुक्ति द्वारा उनका आध्यात्मिक या सांकेतिक अर्थ लिया, याज्ञिकों ने उन्हें केवल यज्ञ के निमित्त मंत्रों के रूप में ग्रहण किया। प्रसाद जी उन्हें इतिहास ही मानते हैं। देवों और असुरों का वर्णन उनकी दृष्टि में आर्य जाति का इतिहास ही है। परंतु इतिहास की स्थूल भौतिक घटनाओं को वे भाव या चेतना से भिन्न करके नहीं देखते। भाव के रूप ग्रहण करने की चेष्टा ही तो सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है—

आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं।...उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किंतु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है। (कामायनी, भूमिका)

यहाँ कितने कौशल से जड़ और चेतन, मूर्त और अमूर्त, स्थूल और सूक्ष्म, चिरंतन और क्षणिक को, एक कर दिया गया है! यह है प्रसाद जी का 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सीधा सा उत्तर, या अर्थ। अन्य अर्थ, अति भोग या अति त्याग का समर्थन करनेवाले, भ्रांत अर्थ हैं। उपनिषद् स्पष्ट कहती है—

द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च (बृ० २।३।१)।

सत्य तो एक ही है। चिरंतन और क्षणिक, व्यक्त और अव्यक्त, क्षर और अक्षर (गीता ८।१,२) उसी के रूप हैं। फिर दोनों में भेद कैसा ? तत्त्व के एकत्व की यह अनुभूति प्रसाद जी की सबसे बड़ी उलझन सुलझानेवाली थी और वह कामायनी में आदि से अंत तक सूत्र रूप में पिरोई हुई है। आरंभ ही में संकेत है—

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन॥

(कामा०, 'चिंता' सर्ग)

यह उल्लेख कथा का स्वाभाविक अंग होते हुए भी बिना किसी विशेष अभिप्राय के नहीं हो सकता। उपनिषद् तो एक तत्त्व के एकत्व-दर्शन का महत्त्व बतलाती ही है—तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ईश० ७); शैव तंत्र के अनुसार भी जल और हिम (के एकत्व) का रहस्य जो जान लेता है उसके कर्म-बंधन कट जाते हैं और उसका पुनर्जन्म नहीं होता—

जलं हिमं च यो वेत्ति गुरुवक्त्रागमात्प्रिये।
नास्त्येव तस्य कर्तव्यं तस्यापश्चिमजन्मता॥

जल और हिम की एकतत्त्वता जड़ और चेतन, व्यक्त और अव्यक्त के इसी एकत्व का निदर्शन मात्र है।[२]

हम आगे देखेंगे कि प्रसाद जी को अपनी मनोनीत वस्तु सुविकसित रूप में उनके शैव दर्शन में ही मिल गई और कामायनी में उसके स्पष्ट दर्शन मिलते हैं। परंतु पहली बात यह है कि वह शैव दर्शन द्वैत दर्शन नहीं, कश्मीरी अभेद-दर्शन, 'त्रिक' अथवा 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन है; दूसरे उन्होंने केवल उसी पर अवलंबित न रहकर ऋग्वेद के 'एक' (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति), ईशोपनिषद् के 'एकत्व' (एकत्वमनुपश्यतः) और छांदोग्य के आनंद और भूमा को उक्त अभेद-दर्शन के प्रकाश में शाक्त तंत्रों के सामरस्य के साथ मिलाकर स्वस्थ दृष्टि से एक धारा के रूप में देखा है और भ्रांत अर्थ से बचने की कोशिश की है; क्योंकि वे जानते थे

२—कबीर को भी इस एकत्व का ज्ञान हुआ था—'अब हम एक एक करि जाना'।

कि मूर्ख लोग श्रुति-वाक्य का भ्रांत अर्थ कर कैसा अनर्थ करते हैं। श्रुति ने निदर्शन के रूप में कहा—

...यद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं एवमेव अयं पुरुषः प्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्य एतदाप्तकामं...। (बृ० ४।३।२१)

और मूर्खों ने उसे विधि वाक्य मान लिया—

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम्॥

मनु के सामने भी भ्रांत अर्थ ही उपस्थित हुए थे जो अनर्थ के कारण हुए[३]—

श्रद्धा के उत्साह वचन फिर काम प्रेरणा मिल के
भ्रांत अर्थ बन आगे आए बने ताड़ थे तिल के॥

तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एकत्व, आनंद, भूमा और सामरस्य को उन्होंने तर्क और पोथियों की दूर से नमस्कार करने योग्य वस्तु न मानकर उन्हें सामान्य मानव-जीवन में अनुभाव्य घोषित किया। यह उनकी अपनी प्रतिभा की विशिष्टता थी।

समरसता का कामायनी में क्या महत्त्व है यह निम्नलिखित उद्धरणों से व्यक्त होता है—

१—नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान।

(श्रद्धा सर्ग)

२—समरसता है संबंध बनी
अधिकार और अधिकारी की।

(इड़ा सर्ग)

३—सबकी समरसता कर प्रचार
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।

(दर्शन सर्ग)

३—कबीर भी इस प्रकार के भ्रांत अर्थ से अपने को सावधान किया करते थे—'माया मोहे अर्थ देख करि काहे को भरमाना'।

४—शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ हैं।
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।।

५—समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।।

(वही)

यह समरसता अखंड आनंद रूप है। सामरस्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'स्त्री पुंयोगात्यत्सौख्यं तत्सामरस्यं'। परंतु यह स्थूल सामरस्य सूक्ष्म का प्रतीक या निदर्शन मात्र है। मनुष्य में ज्ञान, इच्छा, क्रिया क्रमशः सत्व रज और तम के रूप हैं। ये जब पृथक् बिखरे हुए रहते हैं तब मनुष्य मनु की भाँति असफल और अशांत चित्त होकर भटकता है। उसकी कोई इच्छा पूरी नहीं होती—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडंबना है जीवन की।।

('रहस्य' सर्ग)

परंतु श्रद्धावान् पुरुष में जब ज्ञान, इच्छा और क्रिया के तीनों बिंदु परस्पर मिल जाते हैं तब वह 'दिव्य अनाहत पर निनाद में तन्मय' होकर सामरस्य का, अखंड आनंद का, अनुभव करता है। तंत्रों में ज्ञान, इच्छा, क्रिया का यह त्रैपुर-त्रिकोण या त्रिपुर-सिद्धांत कामकला का रूप है और त्रिपुरसुंदरी देवी के रूप में इसकी उपासना विहित है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया के तीन बिंदुओं का वर्ण क्रमशः श्वेत, रक्त और श्याम (वा मिश्र) कहा गया है। इन्हीं रंगों में प्रसाद जी ने भी तीन लोकों के रूप में इनका वर्णन कर त्रिपुर का उल्लेख किया है—

यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने।

(वही)

परंतु मुश्किल यह है कि अ-श्रद्धा के कारण प्रसाद जी के भी रहस्य और आनंद का 'भ्रांत अर्थ' ही प्रायः विद्वानों के सामने आता है, अन्यथा देखा जा सकता कि इस कामकला के सामरस्य का रहस्य प्रसाद जी ने छांदोग्य उपनिषद् से भी खोल दिया है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत उसको जाओ भूल॥
विषमता की पीड़ा से त्रस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान्।
यही सुख दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान॥

('श्रद्धा' सर्ग)

यह 'भूमा' क्या है?—

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति...।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतं, यदल्पं तन्मर्त्यं, स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति यदि वा न महिम्नीति॥ गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्ति हिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति माहमेवं ब्रवीमि, ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति॥

...अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।...एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति...॥ (छां० ७।२३, २४, २५)

सारांश यह कि 'भूमा' ही सुख है, अमृत है; 'अल्प' में सुख नहीं, वह मर्त्य है। 'भूमा' कहाँ प्रतिष्ठित है? अपनी महिमा में। महिमा का अर्थ यहाँ हाथी-घोड़ा-सोना-चाँदी-भूमि-दास आदि ऐश्वर्य नहीं। महिमा तो वह है जिसमें अनुभव हो कि नीचे-ऊपर-आगे-पीछे-दाहिने-बाँएँ सर्वत्र और सब मैं ही हूँ; संपूर्ण विश्व मेरा ही रूप है। ऐसा जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्मानंदी स्वराट् है। इसी से प्रसाद ने कहा—

सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता।
मानव कह रे 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता॥

('आनंद' सर्ग)

मनु को श्रद्धा की सहायता से इसी 'भूमा' (अभेद, सामरस्य) की प्राप्ति हुई थी—

× × ×

बोले देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया॥
हम अन्य न और कुटुंबी
हम केवल एक हमी हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है॥

(वही)

कामायनी में इस अभेद की, पूर्णकाम अवस्था की, प्राप्ति को ही मानव का लक्ष्य स्थिर कर मनु और श्रद्धा की कथा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की गई है। इसकी दार्शनिक भूमिका हमें त्रिक-शास्त्र में उपलब्ध होती है, अतः उसका थोड़ा सा परिचय यहाँ देना आवश्यक है।

तीन प्रकार के दर्शनों—अभेद, भेद, भेदाभेद—में त्रिक अभेद-शास्त्र है; यह केवल एक तत्त्व को मानता है, जिसमें जड़ और चेतन का भेद नहीं है। इसमें शिव-शक्ति-अणु (जीव), इन तीन तत्त्वों पर विचार किया गया है, इससे यह 'त्रिक' कहलाया। त्रिक-साहित्य के तीन भाग हैं—आगम, स्पंद और प्रत्यभिज्ञा। आगमों में तंत्र भी हैं। त्रिक के पहले के तंत्रों में से अनेक द्वैत या भेद के प्रतिपादक हैं। अद्वैत की शिक्षा देने के लिये शिवसूत्रों का दर्शन वसुगुप्ताचार्य (वि० नवीं शती) को हुआ। ये ही त्रिकदर्शन के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। शिव-सूत्रों को रहस्यागम भी कहते हैं। 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' में ये सूत्र संकलित हैं। इनमें जीव तथा उसके बंध और मोक्ष का विवेचन है। मोक्ष के उपाय

तीन प्रकार के हैं—शांभव, शाक्त, आणव। ये तीन उपाय संभवतः तीन प्रकार के मानसिक स्तर के लोगों के लिये हैं। लक्ष्य तीनों का एक ही है।

त्रिक-दर्शन अद्वैतवादी होने पर भी उसमें दृश्य जगत् केवल नामरूप नहीं है। वह न असत् है न अनिर्वचनीय। वह परमशिव का ही रूप है, अतः उसके समान ही सत्य है। परमशिव को वेदांत का ब्रह्म या आत्मा समझिए। चित्, चैतन्य, परा संवित्, परमेश्वर आदि भी उसके नाम हैं। वह अभावरहित, परम-भाव-रूप, अपने आप में पूर्ण है। वह अनादि और अनंत है; सर्वव्यापक भी है और सर्वातीत भी। वह अपनी शक्ति से संयुक्त शिव है, अथवा यह कहिए कि उसमें शिव-शक्ति अभेद रूप से हैं। शक्ति पाँच प्रकार की है—चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान, क्रिया। पंचशक्ति-संपन्न यह एक ही शिव-तत्त्व अपनी इच्छा से, बिना किसी दूसरे तत्त्व के, स्वयं विश्व रूप में प्रकट होता है। 'शिवसूत्र-विमर्शिनी का प्रथम ही सूत्र है—'चैतन्यं आत्मा'। चैतन्य का अर्थ है 'सर्व ज्ञान क्रिया संबाधमय परिपूर्ण स्वातंत्र्य', और 'स्वातंत्र्य' स्वात्म-विश्रांति के कारण आनंद-रूप है। इस प्रकार आत्मा (शिव) सकल अभावरहित परिपूर्ण आनंद-रूप है। परंतु अपने ही इच्छाजन्य अभावों की कल्पना से वह स्वयं बंध में पड़ जाता है। 'ज्ञानं बंधः' दूसरा सूत्र है। यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ है आत्मस्वरूप का गोपन करनेवाला, अनात्म को आत्म से भिन्न समझानेवाला (अतः अभाव का अनुभव करानेवाला) अपूर्ण ज्ञान अथवा अपूर्ण अहंता। यही भेद-ज्ञान आत्मा के बंध का कारण है, यही 'शिव' को 'पशु' बनाता है। जब पशु (जीव) को पुनः अपने अभिन्न अखंड अभाव रहित पूर्ण स्वरूप की अनुभूति होती है तब वह चिच्छक्ति-संयुक्त आनंद-रूप शिव हो जाता है। मनु ने अपने अकेलेपन में अपनी अपूर्णता का, अभाव का, अनुभव किया था—

> कब तक और अकेले कह दो
>
> हे मेरे जीवन बोलो।
>
> किसे सुनाऊँ कथा कहो मत
>
> अपनी निधि न व्यर्थ खोलो॥

उन्होंने विश्व को अपने से भिन्न समझकर उसपर आधिपत्य चाहा। उनकी इच्छाएँ बढ़ती गईं, बंधन भी बढ़ता गया, पर इच्छाएँ पूर्ण न हुईं, निराशा ही निराशा मिली। अंत में, जिस श्रद्धा को उन्होंने त्याग दिया था उसी की

सहायता से पूर्णता की, भूमा की, सामरस्य की अथवा विश्व से अभेद की अनुभूति होने पर पुनः उन्होंने अखंड आनंद का अनुभव किया।

त्रिक-दर्शन के अनुसार परमशिव से विश्व की रचना उसी की अनुभूति या इच्छा-शक्ति के विस्तार द्वारा होती है—सृष्टि उसकी शक्ति का विस्तार है। इस शक्ति-विस्तार को 'आभासन', 'उन्मेष' या 'उन्मीलन' भी कहते हैं। अपने पूर्ण स्वरूप को विस्मृत कर एकाकीपन में अभाव का अनुभव कर जब वह 'सुखद द्वंद्व' चाहने लगता है, 'बहुस्याम' की कामना करने लगता है, तब 'इदम्' (विश्व) धीरे धीरे पृथक् रूप में उसके सामने उपस्थित होता है, उसे अनुभूत होता है। अपनी अपूर्ण अहंता में वह उसे अपने से पृथक् मान लेता है। फिर क्रमशः उससे ३६ तत्त्वों का विकास होता है। परंतु वह स्वयं तब भी अखंड बना रहता है, और प्रत्येक तत्त्व में व्यापक भी। ये तत्त्व इस प्रकार हैं—

(१) अभाव का अनुभव होने पर पहले पाँच तत्त्व स्फुट होते हैं—शिव (चित्), शक्ति (आनंद), सादाख्य (इच्छा), ईश्वर (ज्ञान), सद्विद्या (क्रिया)।

(२) इसके बाद माया और उसके पाँच कंचुकों का आविर्भाव होता है। पाँच कंचुक हैं—काल, नियति, राग, विद्या, कला। यहाँ चैतन्य पर माया का आवरण पड़ जाने से उसका नित्यत्व, सर्वव्यापकत्व, पूर्णत्व, सर्वज्ञत्व और सर्व-कर्तृत्व सीमित हो जाता है। उक्त कंचुक उसकी नियंत्रित शक्ति ही हैं।

(३) फिर शिव-शक्ति पुरुष और त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूप धारण करते हैं। पुरुष और प्रकृति तथा अन्य २३ तत्त्व—बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेंद्रियाँ, पंच कर्मेंद्रियाँ, पंच तन्मात्र तथा पंच महाभूत—ज्यों के त्यों सांख्य के ही २५ तत्त्व हैं।

एक ही तत्त्व से क्रमशः अन्य तत्त्व विकसित होते हैं और अंत में छत्तीसवें पृथ्वी तत्त्व तक पहुँचकर परम शिव ३६ तत्त्वों के अणु-रूप में व्यक्त होता है। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक अणु, ३६ तत्त्वों से युक्त परम-शिव ही हैं—आत्म-विस्मृत, बंध में पड़ा हुआ। ज्यों-ज्यों वह निचले अर्थात् स्थूल तत्त्वों की ओर उतरता है, अपनी ऊपर की सूक्ष्म अवस्था को भूलता जाता है। पुनः अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होने ही पर उसे इस पाश से मुक्ति मिलती है। यह ज्ञान—पूर्ण

ज्ञान या अभेद-ज्ञान—योग, मंत्र-जप आदि साधनों द्वारा क्रमशः अथवा कभी-कभी गुरु के सकृदुपदेश आदि से बिना किसी अन्य साधन के अकस्मात् प्राप्त हो जाता है। इसमें 'शक्तिपात' का बड़ा महत्त्व है। वैष्णव मत में जो भगवान् का 'अनुग्रह' है उसे ही शैवमत में शक्तिपात समझिए। 'अनुग्राहक शक्तिसंपातः यदनुविद्ध हृदयो जनो विवेकोन्मुखतामेति'—गुरूपदेश या आत्मप्रकाश के रूप में यह वह 'शक्ति' है जिससे अनुविद्ध होने पर हृदय विवेकोन्मुख हो जाता है। शक्तिपात के बिना सद्गुरु का शब्द-शर भी असर नहीं करता।

त्रिक-शास्त्र और उसके उपर्युक्त तत्त्वों का जीवन से घनिष्ठ संबंध है। वे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में व्यवहारतः अनुभव करने की चीजें हैं, जैसा उन्हें मनु के जीवन में उतारकर प्रसाद ने दिखाया है। कामायनी के कथा-प्रवाह में आदि से अंत तक स्थल-स्थल पर ये तत्त्व अत्यंत स्वाभाविक रूप में जड़ दिए गए हैं, परंतु शैवशासन से अपरिचित के लिये उनका दार्शनिक संकेत लक्ष्य करना बहुत सहज नहीं है। कुछ का संकेत यहाँ कामायनी के भिन्न-भिन्न सर्गों से उद्धृत पंक्तियों में दिया जाता है—

१—एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

२—वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही
हँसती सी पहचानी सी॥

३—पंच भूत का भैरव मिश्रण
शंपाओं के शकल-निपात॥

४—शून्य बना जो प्रगट अभाव।

५—एक यवनिका हटी पवन से
प्रेरित मायापट जैसी।
और आवरण मुक्त प्रकृति थी··· ॥

६—कर रही लीलामय आनंद
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त॥

७—अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अंतर में उसकी चाह रही।

८—शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे, हैं हो निरुपाय।

९—पीता हूँ हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा।
मधु लहरों के टकराने से
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा॥

१०—था एक पूजता देह दीन।
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण॥

११—कुछ मेरा हो यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान।

१२—संकुचित असीम अमोघ शक्ति।
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी सी महाशक्ति।
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद।
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छंद।
कर्तृत्व सफल बनकर आवे नश्वर छाया सी ललित कला।
नित्यता विभाजित हो पल पल में काल निरंतर चले ढला॥

इन उद्धरणों में निर्दिष्ट शब्दों का ऊपर दिए गए त्रिक-शासन के विवरण में स्थान अब सहज ही ढूँढा जा सकता है। ऐसे और भी उद्धरण कामायनी से दिए जा सकते हैं, ये तो केवल उदाहरण-स्वरूप हैं। उपर्युक्त शैव-तत्त्वों को लेकर कामायनी की पूरी व्याख्या का यहाँ अवकाश नहीं है, परंतु अब तक के विवेचन तथा आगे के उद्धरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा कि कामायनी में, आनंदरूप अद्वैत शिव-तत्त्व का विश्व और व्यक्ति से संबंध स्पष्ट करते हुए लोकजीवन में उसकी अनुभूति पूर्णरूप से साध्य बना दी गई है—

चेतन समुद्र में जीवन
लहरों सा बिखर पड़ा है।

कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना
निर्मित आकार खड़ा है ॥
इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्बुद सा रूप बनाए।
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाए ॥
वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टिक्रम है।
सब में घुलमिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है ॥
अपने सुख दुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट् वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर ॥
सबकी सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है।
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है ॥

('आनंद' सर्ग)

कितना बड़ा शिव संकल्प है, कितना उच्च और स्पष्ट लक्ष्य, कितना पावन प्रयास! 'सबकी सेवा न पराई'—कितने गहन प्रश्न का कितना सरल और सुंदर हल! पराई सेवा को, पर-दुःख-कातरता को, कितना भी अधिक महत्त्व दिया जाय, पर उसमें अहंकार, दंभ और प्रतिकार-लालसा के लिये पर्याप्त अवकाश है। परंतु यहाँ अपने पराए का भेद ही नहीं है।

कामायनी में प्रसाद जी के भावों और उनके व्यंजक शब्दों का इतिहास छोटा नहीं। कहाँ कहाँ तक उनकी पहुँच थी और उनके शब्द कितने अर्थगर्भित हैं, यह गहनतर अध्ययन से क्रमशः प्रकट होता जायगा। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा की वैदिक कथा को दार्शनिक और आध्यात्मिक भूमिका पर रखकर उसके आश्रय से वेदों, उपनिषदों तथा उन्हीं की परंपरा में विकसित शैव एवं

शाक्त अद्वैत आनंद-भावना को अपनी प्रतिभा और अनुभव-शक्ति द्वारा मानव-जीवन की चिरंतन समस्या से संबद्ध करके बड़ी कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया है। मनु और श्रद्धा की कथा भले ही इतिहास हो, परंतु वह केवल भौतिक स्थूल इतिहास नहीं, विश्व-चेतना का भी सुंदर इतिहास है। प्रसाद जी कहते हैं—

मनु श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। (भूमिका)

जैसे सांकेतिक अर्थ से उन्हें कोई मतलब ही न रहा हो ! मनु और श्रद्धा की कथा के सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करने में उन्हें आपत्ति हो या न हो, हमें तो कामायनी में वह ऐतिहासिक के साथ-साथ मानव की आनंद-साधना का सांकेतिक अर्थ भी देती ही है। अब रह गया यह प्रश्न कि "उन्होंने अपने इस प्रिय आनंदवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमयी भूमिका बनाकर की है" (हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल), अथवा उनकी दार्शनिकता और अनुभूति में कुछ सचाई और गहराई भी है, इसका निर्णय करना कामायनी के सहृदय पाठकों का काम है।

इस लेख में कामायनी के काव्यत्व की समीक्षा हमारा उद्देश्य नहीं, तथापि अंत में हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि किसी काव्य का मूल्य उसकी मूल या प्रधान भावना के आधार पर आँकना उचित और अपेक्षित हो तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस युग में ऐसी उच्च और विशाल मंगल-भावना को लेकर शायद कोई भी दूसरा काव्य नहीं लिखा गया—

अपनी सेवा न पराई
अपनी ही सुख संसृति है।
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है॥

५०० वर्ष पहले कबीर ने, जिनकी भक्ति का तत्त्व भी इसी अपने पराए के एकत्व की अनुभूति है, अवश्य लिखा था—

आपा पर सम चीन्हिए, दीसै सरब समान।
इहि पद नरहरि भेटि , तू छाँडि कपट अभिमान रे॥

और इसी अनुभूति के बल पर वे इतने उच्च कोटि का भाव व्यक्त कर सके थे—

रे मन जाहि जहाँ तोहिं भावै।
अब न कोई तेरे अंकुस लावै॥
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहँ रामा।
हरि पद चीन्हि किया बिसरामा॥
तन रंजित तब देखियत दोई।
प्रगट्यो ज्ञान जहाँ तहँ सोई॥
लीन निरंतर बपु बिसराया।
कहै कबीर सुखसागर पाया॥

भेद-बुद्धि आज उनके इस भाव का मर्म समझना न चाहे, पर कहाँ है अन्यत्र इसका जोड़? ऐसी ही भूमिका पर पहुँचे हुए संतों या साधकों के लिये कहा गया था—

यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः।
मनो न चलितस्तस्य सर्वावस्था गतस्य तु॥
यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः॥

परंतु प्रसाद जी ने प्रबंध-काव्य के सहारे इस अनुभूति की जैसी सुस्पष्ट और विस्तृत व्याख्या की है वैसी अन्यत्र कहीं ढूँढ़ना व्यर्थ है।

प्राचीन भारतीय यान

[ले० श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी]

साधारणतया 'यान' शब्द से सवारी का बोध होता है। यह शब्द ऐसे किसी भी वाहन के लिये प्रयुक्त होता है जो किसी जानवर या मनुष्य द्वारा वाहित हो। कहीं-कहीं 'यान' का अर्थ वाहन-विशेष, यथा पालकी इत्यादि, भी होता है। भारतवर्ष में यानों का प्रयोग प्रागैतिहासिक काल से मिलता है। हमारे प्राचीन साहित्य तथा कला के अध्ययन से हमें इन भारतीय यानों के विषय में बड़ा मनोरंजक ज्ञान प्राप्त होता है। प्रस्तुत लेख में हम इसी विषय पर कुछ विचार करेंगे।। साधारणतः 'यानों' के अंतर्गत रथ, गाड़ी, पालकी, नाव, जहाज तथा विमान इत्यादि सवारियाँ आती हैं। प्रथम 'रथ' को लें।

साहित्य में यान

रथ

रथों का प्रयोग वैदिक काल से होता आ रहा है। उस समय रथ संचार, क्रीड़ा तथा युद्ध के लिये प्रयुक्त होते थे। राज्य की सेना में रथियों का प्रधान स्थान था। राजा, मंत्री, सेनापति तथा अन्य उच्च कर्मचारी युद्धों में बहुधा रथों का उपयोग करते थे। उत्सव-महोत्सवों में रथों की दौड़ हुआ करती थी। उसमें सम्मिलित होनेवाले सभी रथ एक चक्राकार रंगस्थल में तेजी के साथ दौड़ाए जाते थे। उसी अवसर पर घोड़ों की परख तथा सारथी के रथ-संचालन-चातुर्य की भी परीक्षा हुआ करती थी।

वैदिक साहित्य हमें रथ-निर्माण-विधि के विषय में बहुत सी बातें बतलाता है।[१] रथ लकड़ी का बनता था जिसमें उसका 'अक्ष'—दोनों पहियों को जोड़नेवाला

१—(क) केतकर, श्रीधर व्यंकटेश—ज्ञानकोश, खंड ३, पृ० ४१७-२२

(ख) काशीकर—ऋग्वेदकालीन सांस्कृतिक इतिहास, पुणें, पृ० १६३

(ग) दास, ए० सी०—'ऋग्वेदिक इंडिया' पृ० २२६

डंडा—'अरटु' नामक लकड़ी का बनाया जाता था।[2] अक्ष तथा जुए को, जिसे 'युग' कहते थे, जोड़नेवाला डंडा 'ईषादण्ड' कहलाता था। ईषा लकड़ी की ही बनती थी। इसी का दूसरा नाम 'त्रिवेणु' भी है। यह शब्द हमें बतलाता है कि कभी-कभी 'ईषा' तीन वेणुओं या डंडों से बनती थी। ईषा को जुए में किए हुए छेद में बैठाया जाता था। इस छिद्र को 'तदर्मन्' कहते थे। इसके बाद इसे 'जोतर' (योक्त्रक) से बाँध दिया जाता था। ईषा का वह भाग जो जुए से आगे की ओर निकला हुआ होता था, 'प्रउग' कहलाता था। जुए को घोड़ों या बैलों की गरदन पर रखा जाता था। ये पशु इधर-उधर भागने न पाएँ, इसलिये जुए के दोनों ओर छोटे छोटे डंडे पहिना दिए जाते थे, जिन्हें 'शम्या' कहते थे। 'रश्मि' या 'रशना' लगाम का नाम था। जिन पट्टियों से घोड़े या बैल जोते जाते थे उन्हें 'कक्ष्या' कहते थे। अक्ष के दोनों ओर 'चक्र' या पहिए होते थे। पहियों के मजबूत होने और मजबूती से कसे जाने पर काफी जोर दिया जाता था। चक्र की बाहरी गोलाई को 'पवि' और भीतरी भाग को 'नेमि' कहते थे। तीलियों का नाम 'अर' या 'आरा' था। पहियों के छेद को 'ख' कहा जाता था और 'अणि' शब्द से उन छोटी छोटी लकड़ियों का बोध होता था जो अक्ष में दोनों ओर इसलिये खोंसी जाती थीं कि वेग पाने पर पहिए खिसककर गिर न पड़ें। चक्र के उभरे हुए वर्तुलाकार केंद्र को 'नाभि' कहा जाता था। अक्ष के ऊपर रथ का मुख्य भाग या 'कोश' (जिसे कभी-कभी 'बंधुर' भी कहते थे) रखा जाता था। हम यह नहीं जानते कि यह किस प्रकार कसा जाता था। कोश के भीतरी भाग को 'नीड़' तथा अगल-बगल के भागों को 'पक्ष' कहते थे (कुछ विद्वानों ने नीड़ का अर्थ 'रथ का ऊपरी सिरा' भी किया है[3])। रथ में योद्धा के बैठने का स्थल 'गर्त' कहा जाता जाता था। 'बंधुर' शब्द भी इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सारथि रथी के दाहिने पार्श्व में बैठता था। इसीलिये रथी को 'सव्येष्ट्र' भी कहा जाता है। 'उपस्थ' का अर्थ डा० केतकर के मतानुसार 'सारथि' का स्थान है।[4] रथ के ऊपरी को 'रथशीर्ष' कहा जाता था। रथ के वेग को घटाने के लिये या आवश्यकता पड़ने पर रथ को सहारा देने के के लिये भी ईषादंड से एक भारी सी लकड़ी नीचे की ओर लटकाई जाती थी, जिसे 'कस्तंभी' या अपालंब कहते थे। (द्रष्टव्य चित्र संख्या १)

२—अथर्व० ५।१४।६

३—यादवप्रकाश—वैजयंती (संपादक-ऑपर्ट गर्स्टॉव), पृ० ७२३

४—द्रष्ट० १ (क), पृ० ४२३

चित्र सं० १
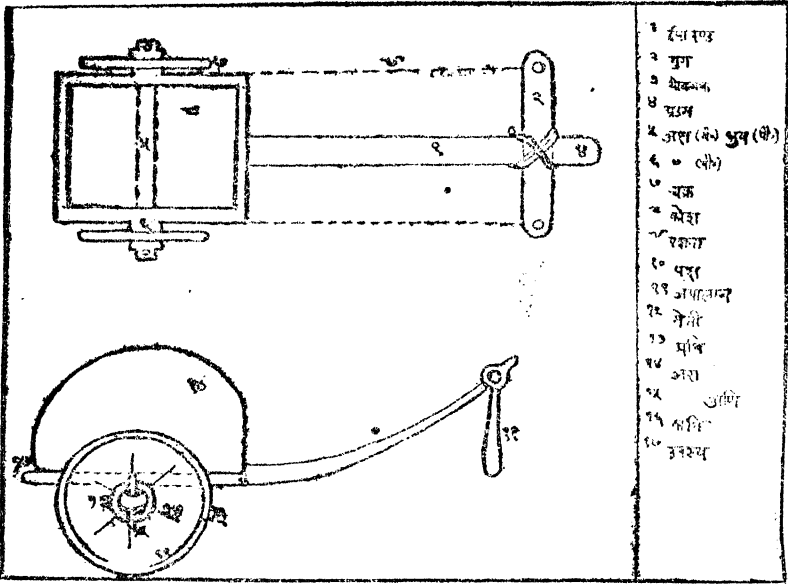
रथ और उसके भाग

चित्र सं० २
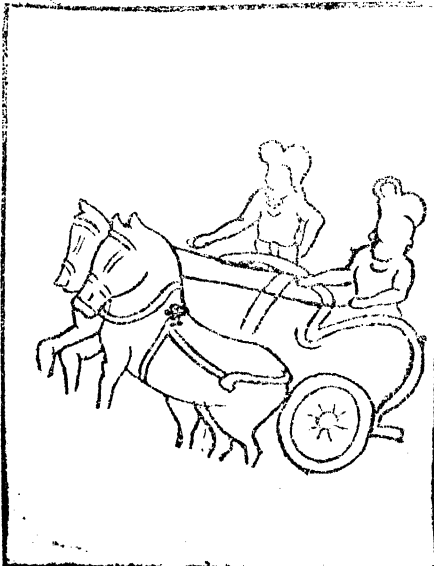
रथ (साँची से)

चित्र सं० ३
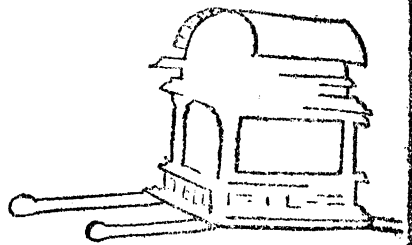
शिविका (अमरावती से)

चित्र सं० ४ | चित्र सं० ५
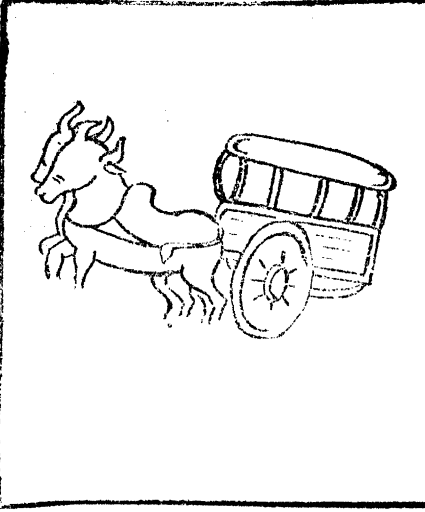
गाड़ी (मथुरा से) | हंसयान (मथुरा से)
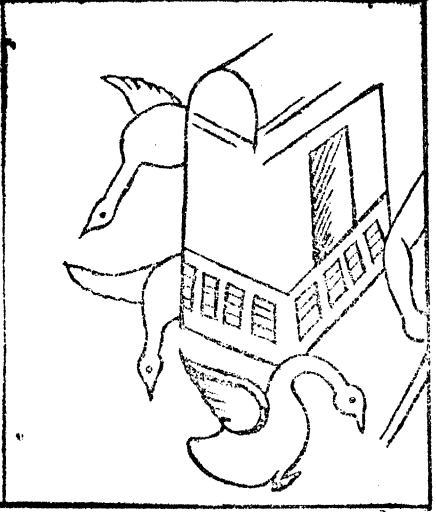
चित्र सं० ६ | चित्र सं० ७
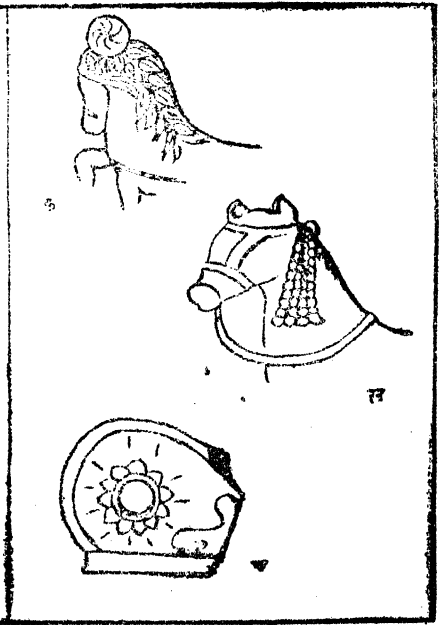
जलयान (साँची से) | क (भरहूत), ख (साँची), ग (प्रयाग-संग्रहालय)

आपस्तंब के शुल्बसूत्र में रथांगों के परिमाण भी दिए हुए हैं।[५] सूत्रकार के कथनानुसार अक्ष, ईषा तथा युग की लंबाई क्रमशः १०४, १८८ तथा ८६ अंगुल होनी चाहिए। यदि हम १६ अंगुल का एक फुट मान लें तो ये लंबाइयाँ लगभग ६' ६'', ११' ६'' और ५' ४'' होंगी।[६] रथ-चक्रों के घेरे का कोई परिमाण नहीं दिया गया है, परंतु अन्य परिमाणों के आधार पर उसे २॥-३ फुट मानना अनुचित न होगा। इसी प्रकार कोश की ऊँचाई भी अनुमानतः इतनी ही मानी जा सकती है। रथ में साधारणतः दो और कभी कभी चार पहिए हुआ करते थे, पर इसके सिवा एक, तीन, सात और आठ पहियोंवाले रथों के भी उल्लेख मिलते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण और काल्पनिक है, परंतु जिस प्रकार आज भी बड़ी बड़ी मोटरगाड़ियों में छः-छः पहिए हुआ करते हैं, उसी प्रकार बड़े बड़े रथों में आठ-आठ पहियों का होना असंभव नहीं प्रतीत होता।

बहुधा रथ में दो या चार घोड़े जोते जाते थे। कभी कभी तीन घोड़े रहते थे। तीसरे घोड़े का नाम 'प्रष्टि' था[७], परंतु कभी कभी एक घोड़े से भी काम चलाना पड़ता था। सारथी लगाम और 'प्रतोद' या चाबुक से रथ-संचालन करता था।

वैदिक साहित्य में रथों का वर्गीकरण बहुधा रथांग के किसी न किसी वैशिष्ट्य को लेकर किया गया है। उदाहरणार्थ, वाहकों के आधार पर—वृषरथ, षडश्व, पंचवाही, मनुष्यरथ (?), नृवाहन, इत्यादि; रथ-भागों के आधार पर—त्रिबंधुर, अष्टाबंधुर, सप्तचक्र, हिरण्यचक्र, हिरण्यप्रउग, दशकक्ष्य इत्यादि; रथ के नाद के आधार पर—स्वंद्रथ इत्यादि।[८]

वायु, मत्स्य जैसे प्राचीन पुराण तथा महाभारत जैसे इतिहास-ग्रंथ भी रथों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। जिन रथांगों का परिचय हमें वैदिक साहित्य से मिल चुका है उनके सिवा रथ के कई नवीन भाग हमें इन ग्रंथों से ज्ञात होते हैं। वे ये हैं—

५—आपस्तंब शुल्बसूत्र, ६।७५

६—पिगट, स्टुअर्ट—'प्रि-हिस्टॉरिक इंडिया, पृ० २७६-८१

७—द्रष्टव्य टि० १ ग।

८—द्रष्टव्य टि० १ क।

कूबर—साधारणतः कोशों में इस शब्द का अर्थ 'रथ का डंडा' मिलता है। परंतु उससे अर्थ का स्पष्ट बोध नहीं होता। विभिन्न उल्लेखों को देखने पर इस शब्द के कई अर्थ विदित होते हैं। वैदिक साहित्य में इस शब्द का अभिप्राय गाड़ी के डंडे से है। महाभारत में कूबर रथ का ऐसा भाग है जिसे घायल अथवा अर्धमूर्छित योद्धा सहारे के लिये थाम सकता है।[९] यह भी उल्लेख मिलता है कि बड़े बड़े रथों के कूबर लोहे की कील और सोने के पट्टियों से सजाए जाते थे।[१०] यह सजावट इस बात की ओर संकेत करती है कि 'कूबर' रथ का ऐसा भाग था जो प्रमुखता से दिखलाई पड़ता था। एक स्थल पर वर्णन है कि कर्ण के रथ का कूबर टूट गया तथापि वह बराबर युद्ध करता रहा।[११] इससे स्पष्ट होता है कि कूबर का रथ के खड़े होने अथवा चलने से कोई संबंध नहीं था। इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए हम 'कूबर' रथ के उस भाग को कह सकते हैं जो घोड़ों के पिछले हिस्से तथा सारथी के बीच छोटी सी दीवार सा बना होता है। बहुधा युद्ध के समय रथी और सारथी अगल-बगल खड़े रहते थे, अतएव घायल रथी को अपनी कमर तक ऊँचे कूबर का सहारा लेना सरल होता था। रथ का सम्मुख भाग होने से सोने की पट्टियों से उसकी सजावट करना योग्य ही था। किंतु वायु तथा मत्स्य-पुराण में इस शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। दोनों पुराणों में सूर्यादि नवग्रहों के रथों का विस्तृत वर्णन मिलता है।[१२] दोनों के श्लोक सामान्य पाठभेदों को छोड़ लगभग एक ही हैं। इनमें सूर्य के रथ का जो विस्तृत वर्णन दिया गया है उससे रथांगों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहाँ पर कूबर दो बतलाए गए हैं।[१३] मत्स्यपुराण में अन्यत्र भी कूबर शब्द का द्विवचन में प्रयोग किया गया है।[१४] यहाँ कूबर शब्द से रथ के डंडों का अभिप्राय नहीं हो सकता, क्योंकि उसी वर्णन में ईषादंड तथा वेणु का अलग उल्लेख मिलता है। इसलिये पुनः यह समस्या

९—महाभारत, ७।१३६।६—'रथकूबरमालम्ब्य न्यमीलयत लोचने।'

१०— वही ७।१४७।८२—'आयसैःकांचनैश्चापि पट्टैः सन्नद्ध कूबरम्'।

११— वही ७।१८८।१४–१६

१२—वायुपुराण, आनंदाश्रम प्रति, ५१।५४–६६; मत्स्यपुराण, आनंदाश्रम प्रति, १२५।३७–४३

१३—वायुपुराण ५१।६१

१४—मत्स्य० १३३।१७

उठ खड़ी होती है कि दो कूबर कौन से होंगे ? यदि हम एक अर्धचंद्राकार कूबर को दो भागों में विभक्त करें और उन्हें क्रमशः दक्षिण-कूबर और उत्तर-कूबर कहें, तो यह समस्या हल हो सकती है। इस प्रकार का अर्थ करना इसलिये भी उचित है कि जहाँ रथ के प्रत्येक अवयव का वर्णन है वहाँ घोड़े की पूँछ और सारथी के बीच दीवार की भाँति उठे हुए भाग का, जिसे हमने कूबर कहा है, कोई दूसरा नाम नहीं मिलता। तथापि यह ध्यान में रखना होगा कि परवर्ती काल में कभी-कभी कूबर शब्द का प्रयोग रथ के डंडे के अर्थ में भी किया जाता था।[१५]

नेमि— इसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। वायुपुराण से विदित होता है कि नेमि टुकड़ों को जोड़कर बनाई जाती थी, जिससे वह अधिक मजबूत हो। वायुपुराण में छः टुकड़ों से बनी हुई नेमि का उल्लेख है।[१६]

वरूथ—रथ को टकराने से बचाने के लिये बना हुआ लकड़ी का एक टुकड़ा—शब्दकोश इससे अधिक नहीं बतलाता। संभवतः यह लकड़ी अगल-बगल लगी रहती होगी, जिससे कई रथ जब एक साथ चलने लगें तब आपस में रगड़ न खा जाँय। विनयपिटक में एक स्थल पर कथा आती है कि जब अंबापाली बुद्ध को भोजन के लिये निमंत्रित कर लौटने लगी तब वह गर्व से फूली नहीं समाती थी। उसका रथ लिच्छवियों के रथ से टकरा-टकराकर चलने लगा। निश्चय ही रथों में वरूथों के लगे रहने के कारण इस टकराहट से उन्हें कोई हानि नहीं पहुँची। परवर्ती काल में 'वरूथ' का ही दूसरा नाम 'रथगुप्ति' भी हो गया था।[१७]

अनुकर्ष—रथ का पेंदा। मत्स्यपुराण में 'निमेषों' को सूर्य के रथ का 'अनुकर्ष' कहा गया है।[१८]

ध्रुव और अक्ष—ऊपर हम कह चुके हैं कि दोनों पहियों को जोड़नेवाला डंडा 'अक्ष' कहलाता था। मत्स्यपुराण के अनुसार[१९] इस डंडे का जो भाग रथ के पेंदे के ठीक नीचे रहता है उसे 'ध्रुव' कहा जाता था। उसके दोनों ओर का भाग संभ-

१५—द्रष्ट० ३, भूमिकांड, क्षत्रियाध्याय १३२

१६—वायु० ५१।५५ , ६०

१७—द्रष्टव्य ३

१८—मत्स्य० ५१।६२

१९— वही ५१।६५-६६

वतः कुछ मोटा होता होगा, जिनमें पहिए कसे जाते थे। इस भाग का नाम 'अक्ष' था। उक्त पुराण हमें बतलाता है कि अक्ष में चक्र फँसाया जाता है, अक्ष ध्रुव में लगा रहता है; चक्र के साथ अक्ष घूमता है और अक्ष के साथ ध्रुव भी घूमता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अक्ष और ध्रुव अलग-अलग भाग होते थे।

पक्ष—'रथकोश' के अगल-बगल लगे हुए कटघरों को 'पक्ष' कहते थे।

ध्वज—युद्धोपयोगी रथों के लिये ध्वज का बड़ा महत्त्व था। प्रत्येक रथी का अलग-अलग ध्वज होता था जिसपर उसका चिह्न अंकित रहता था। इसी ध्वज की सहायता से स्व-पर-पक्ष के योद्धा पहिचाने जा सकते थे। ध्वज एक ऊँचे डंडे पर फहराता था, जिसे ध्वजदंड या ध्वजयष्टि कहते थे। ध्वजदंड रथी के अगल-बगल में ही रहता था। इसके स्थान के विषय में हम पुनः चर्चा करेंगे।

वलभी—रथ के ऊपरी भाग को 'वलभी' कहते थे। कुछ वलभियाँ पर्वत-शिखर के आकार की होती थीं। मत्स्यपुराण में एक स्थल पर भगवान् शंकर के रथ को 'मेरु-शिखराकार' कहा गया है।[२०]

उपस्थ—हम बतला चुके हैं कि डा० केतकर के मतानुसार 'उपस्थ' शब्द का अर्थ सारथी का स्थान है। वैदिक साहित्य के लिये यह भले ही सत्य हो, किंतु परवर्ती काल के साहित्य में इस शब्द का अर्थ 'रथ का पिछला भाग' करना होगा। महाभारत में बतलाया गया है कि शोक-संतप्त अर्जुन रथ के उपस्थ में बैठ गए।[२१] इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि वे श्रीकृष्ण के स्थान पर बैठ गए।

अवचूड—अथवा 'अवचूल'। ध्वजयष्टि से लटकनेवाला कपड़ा या मोतियों इत्यादि का गुच्छा।

रथ का झूल—रथ के ऊपर ओढ़ाया जानेवाला कपड़ा। इसका उल्लेख विनयपिटक में मिलता है।[२२]

रथवाहक अश्वों के अलंकार—मत्स्यपुराण में जहाँ सूर्य के रथ के घोड़ों का वर्णन किया गया है वहीं उनके अलंकारों के नाम भी उल्लिखित हैं।[२३] एक का

२०—मत्स्य० १३३।४५

२१—महाभारत गीता १।४७—'एवमुक्त्वाऽर्जुनःसंख्ये रथोपस्थमुपाविशत्'।

२२—विनयपिटक (राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनूदित, पृ० २०६); महावग्ग ५।२।४

२३—मत्स्य० १३३।३३

नाम 'पक्षद्वय' है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह अलंकार घोड़े के शरीर पर अगल-बगल पहनाया जाता होगा। दूसरा 'बालबंधन' है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

रथावेष्टन—महाभारत में[२४] तथा अन्य स्थलों[२५] पर भी यह बतलाया गया है कि व्याघ्र, गैंडा, हाथी इत्यादि के चमड़ों से रथ आवृत रहते थे। कभी-कभी इनपर कंबलों का भी आवरण रहता था। आवरण-भिन्नता के साथ इनमें नाम-भिन्नता भी आ जाती थी; यथा, कंबल से आवृत रथ 'कंबलिक', व्याघ्र के चमड़ेवाला 'वैय्याघ्र', हाथी के चमड़ेवाला 'द्वैप' रथ कहा जाता था।

रथ के प्रकार—साहित्य में रथों के कई प्रकारों का उल्लेख मिलता है; जैसे (१) देवरथ (२) पुष्यरथ (३) कर्णीरथ (४) वैनयिक रथ (५) सांग्रामिक रथ (६) कांबलिक रथ। इन प्रकारों पर हम क्रम से विचार करेंगे।

देवरथ—देवताओं की शोभायात्राएँ (जैसे जगन्नाथ, शिव, बुद्ध, पार्श्वनाथ इत्यादि की रथयात्राएँ) निकालने के लिये इन रथों का प्रयोग किया जाता था। एकाम्रपुराण जैसे परवर्ती काल के कुछ पुराणों में इन देवरथों के निर्माण की विधि विस्तारपूर्वक बतलाई गई है।[२६] जिससे सिद्ध होता है कि ये रथ सोने-चाँदी या लकड़ी के बनते थे। इन्हें द्वार, तोरण इत्यादि से सुशोभित किया जाता था। ये सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से अलंकृत रहते थे। इनका आकार मंदिर के समान होता था।

पुष्यरथ अथवा पुष्परथ—साधारणतः ये रथ क्रीड़ा के लिये बनाए जाते थे—'संक्रीड़ार्थं पुष्यरथः'।[२७] किंतु कहीं-कहीं देवताओं के रथों को भी पुष्यरथ कहा है।[२८] अमरकोश के टीकाकार ने पुष्यरथ शब्द के दो अर्थ किए हैं—एक तो 'पुष्य नक्षत्र के समान सुखदायी' और दूसरा 'पुष्प के समान आकार वाला'।[२९]

२४—महाभारत, उद्योगपर्व।

२५—अमरकोश ८।५३-५४; वाचस्पत्यकोश, 'रथ'।

२६—एकाम्रपुराण अध्याय ६७; भविष्य पु० ५६।७-११, ६२; हिंदी विश्वकोष, 'रथ'।

२७—वाचस्पत्य कोश, पृ० ४७६१

२८—मत्स्य० २८२।३

२९—अमरकोश (सं० चिंतामणि शास्त्री) पृ० १६२—'यथा पुष्य नक्षत्रं सुखकरं, सद्वद्रथोपीतिपुष्यरथः कुसुमाकारत्वात्पुष्पमिव रथ इति'।

कर्णी रथ—अमरकोश के अनुसार ये रथ स्त्रियों के लिये विशेष रूप से काम में लाए जाते थे। ये वस्त्रादि से ढके रहते थे।[३०]

वैनयिक रथ—कौटिल्य[३१] वाचस्पति[३२] तथा वैजयंतीकार[३३] ने इस रथ-प्रकार का उल्लेख किया है, पर कहीं भी इसके आकारादि के विषय में स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। अर्थशास्त्र का अंग्रेजी उल्था करते समय पं० शामशास्त्री ने वैनयिक रथ का अर्थ 'ट्रेनिंग चैरिअट्स' (Training chariots='शिक्षणोपयोगी' रथ) किया है।[३४]

सांग्रामिक रथ—महाभारत में इतस्ततः फैले हुए रथ-संबंधी उल्लेखों का अध्ययन करने पर सांग्रामिक रथों के विषय में निम्नांकित बातें जानी जा सकती हैं—

(१) **सारथी का स्थान**—वैदिक परंपरा के अनुसार ही महाभारत-कालीन रथों में भी सारथी का स्थान रथी के बगल में ही रहता था। जब अश्वत्थामा और विविंशति पांडवों से युद्ध कर रहे थे उस समय शत्रु के बाणों से घायल होकर उनके सारथी 'उपस्थ' में गिर पड़े।[३५] यदि सारथी रथी के आगे बैठा रहता तो उसका उपस्थ में गिरना असंभव था। दूसरे, युद्धस्थल में जब दो रथी एक दूसरे से युद्ध करते थे तब वे परस्पर बाणों की झड़ी लगा देते थे। यदि सारथी रथी के सामने बैठता होता तो बेचारा इन आने-जानेवाले बाणों से तत्काल ही मर जाता। रथी और सारथी के अगल-बगल स्थित होने में एक सुविधा यह भी थी कि सारथी के मारे जाने पर अपना स्थान-परिवर्तन न करते हुए रथी घोड़े की रास सँभाल सकता था।[३६] इसका अधिक विवेचन हमें आगे पुनः करना होगा।

३०—वही, पृ० १९२-९३

३१—अर्थशास्त्र २।३२।४९-५१

३२—द्रष्टव्य २४

३३—द्रष्ट० ३, भूमि०, क्षत्रिय० १३०

३४—पं० शामशास्त्री—'कौटिल्य अर्थशास्त्र', बंगलोर, १९१५, पृ० १७५

३५—महाभारत ६।९३।३८

३६— वही ६।७५।३२

(२) पार्ष्णिसारथी—सारथी के सिवा कुछ सांग्रामिक रथों में दो और सारथी रहते थे जिन्हें 'पार्ष्णिसारथी' कहा जाता था।[३७] इनका काम अगल-बगल वाले घोड़ों को नियंत्रण में रखना होता था। इनका स्थान सारथी और रथी के पीछे होता रहा होगा।

(३) रथ का आकार—भारतीय युद्ध में जहाँ कहीं रथों को नष्ट करने का वर्णन आता है वहाँ केवल घोड़ों का मारा जाना, सारथी की मृत्यु, ध्वजभंग एवं युग, अक्ष, कूबर इत्यादि का चूर्ण किया जाना वर्णित मिलता है। कहीं भी रथ के खंभों या छाजन इत्यादि के चूर्ण किए जाने का उल्लेख नहीं मिलता। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये रथ ढके न होकर खुले रहा करते होंगे।

जैन ग्रंथों में सांग्रामिक रथों या 'संगर-रहों' का वर्णन मिलता है। उनके अनुसार इन रथों पर प्राकार के समान कमर भर ऊँचाई की लकड़ी की वेदिका बनी होती थी।[३८]

शुल्वसूत्रों में दी हुई रथ की लंबाई और चौड़ाई का वर्णन हम कर चुके हैं। महाभारत-कालीन रथ भी काफी बड़े होते थे। एक रथ में रथी को छोड़कर एक सारथी तथा दो पार्ष्णिसारथी रहते थे। इसके सिवा शस्त्रादि प्रचुर मात्रा में रखे जाते थे। इतना होने पर भी जब आवश्यकता होती थी तो उसी रथ में एक दूसरा रथी भी बैठकर युद्ध कर सकता था। महाभारत में यह बहुधा देखा जाता है कि एक रथी के विरथ होने पर दूसरा रथी उसे अपने रथ में बैठा लेता है और दोनों वहीं से युद्ध करते हैं।[३९]

मत्स्यपुराण हमें यह भी बतलाता है कि रथ के ईषादंड की लंबाई उसके उपस्थ से दुगुनी होती थी।[४०]

३७— वही ७।२१।१६

३८—सूरि, विजयराजेंद्र—'अभिधानराजेंद्र', भाग ७, पृ० ७६—'संगरह'—संग्रामयोग्ये रथे यस्योपरि प्राकारानुकारिणी कटिप्रमाणा फलकमयी वेदिका क्रियते, यत्रारूढैः संग्रामः क्रियते। (अनुयोगद्वार सूत्र, बृहत्कल्पवृत्ति)।

३९—महाभारत ६।७६।१६; ६।८३।१८-१६

४०—वायु० ५१।५६

हाथी का रथ—मत्स्यपुराण में एक स्थल पर हाथी के रथ का भी वर्णन मिलता है। वहाँ पर कहा गया है कि जिसमें चार सोने के हाथी जोते गए हों, जिसमें चार चक्र हों, जिसके ध्वज पर गरुड बना हो, जिसमें कई देवताओं की प्रतिष्ठा की गई हो तथा जो सब प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त हो, ऐसा रथ दान देने के लिये बनवाया जाय।[४१] संभव है कि तत्कालीन समाज में राजा-महाराजाओं के यहाँ इस प्रकार के रथ प्रचलित रहे हों। कहा जाता है कि अभी कल तक उदयपुर राज्य में विजयादशमी की सवारी हाथी के रथ पर निकलती थी।

रथ को घंटियों से भी सुशोभित किया जाता था।[४२] बहुधा रथ खींचने के लिये घोड़ों का उपयोग किया जाता था, पर इनके सिवा बैल, ऊँट, खच्चर, गदहे और संभवतः हाथी भी काम में लाए जाते थे। गदहों के रथों का उल्लेख कई स्थलों पर आता है।[४३] यह भी कहा गया है कि गदहोंवाले रथ गति में तेज होते हैं।[४४] उत्तम रथवाही गदहे पंजाब और ईरान से आते थे।[४५]

'रथकार' या रथ को बनानेवाले का स्थान ऊँचा होता था। एक स्थल पर रथकार को राजा के चार रत्नों में से एक माना गया है।[४६]

गाड़ी या गोरथ

ऋग्वेद तथा परवर्ती काल के ग्रंथों में भी 'अनस्' (गाड़ी) शब्द का 'रथ' से भिन्नार्थ में प्रयोग किया गया है, तथापि दोनों की रचना-पद्धति में विशेष अंतर नहीं है। केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि रथ-चक्र का वह छिद्र जिसमें अक्ष फँसता था, गाड़ी के पहिए के छेद से बड़ा होता था। गाड़ी में भी रथ के

४१—मत्स्य० २८२।३-९

४२—आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया रिपोर्ट्‌स, १९०२-३, पृ० १९२

४३—द्रष्ट० १ (क) पृ० ४१८; ६, पृ० २७४; वैद्य, चिं० वि०, महाभारताचा उपसंहार, पृ० २७३

४४—भास, प्रतिज्ञायौगंधरायण (भास नाटकचक्र, पृ० ३२७)—'जवातिशययुक्तेन खर रथेन'।

४५—वैद्य, चिं० वि०, महाभारताचा उपासंहार, पृ० १४३

४६—(क) जैन, जगदीशचन्द्र—'लाइफ इन एंशंट इंडिया ऐज डेपिक्टेड इन द जैन कैनन्स्, पृ० १०१; (ख) पुसालकर, ए० डी०, 'भास—ए स्टडी', पृ० ४४१-४४४

समान युग, अक्ष, ईषा, चक्र, नाभि, नेमि, पक्ष इत्यादि लगभग सभी भाग होते थे। गाड़ी में बैल अथवा कभी कभी गौएँ भी जोती जाती थीं। कुछ गाड़ियों में आच्छादन भी रहता था। ऋग्वेद में बतलाया गया है कि सूर्य की कन्या सूर्या को उसके विवाह के अवसर पर जिस गाड़ी में बैठाया गया था वह आच्छादित थी। गाड़ी खींचनेवाले जानवर को 'धूर्षद्' कहते थे।[४७] शतपथ-ब्राह्मण में उस गाड़ी का जुआ जिसमें बैल जोते जाते थे, 'युक्त' कहा गया है।[४८] साधारणतया गाड़ियाँ दो प्रकार की होती थीं—एक तो मनुष्यवाही तथा दूसरी भारवाही। मनुष्यवाही गाड़ियों को 'वृषरथ' भी कहते थे। भारवाही गाड़ियाँ दो प्रकार की थीं—एक तो वे जो बड़ी होती थीं और अनाज इत्यादि ढोने के काम में लाई जाती थीं। इन्हें 'शकट' या 'सगड़' कहते थे। इसी का वर्तमान रूप 'सग्गड़' है। दूसरे प्रकार की गाड़ियाँ छोटी होती थीं। इन्हें 'गोलिंग' या 'लघुयान' भी कहा जाता था।[४९]

महाभारत में बाणों की गाड़ियों का उल्लेख आता है। ये गाड़ियाँ युद्धक्षेत्र में बाण तथा अन्य शस्त्रादि ढोकर ले जाने के काम में लाई जाती थीं। इनमें आठ बैल जुते होते थे।[५०]

जैन साहित्य से बैलगाड़ियों के विषय में अधिक बातें जानी जा सकती हैं। गाड़ीवाला गाड़ी और बैल दोनों की निगरानी रखता था। गाड़ी जोतने के पूर्व बैलों को साफ करना (नहलाना), और उन्हें अनेक अलंकारों से सुसज्जित करना उसका कर्तव्य था। गाड़ीवान के हाथ में बैलों को हाँकने के लिये जो लकड़ी होती थी उसे 'पोदलट्ठी' कहते थे। बैलों के गले में सूत की डोरियों से, जिनमें सोने के तार गुँथे होते थे, घंटियाँ लटकाई जाती थीं। बैलों को दागने की प्रथा (नीलांछनाकम्म) भी थी। गाड़ियों में बैल तथा कभी कभी ऊँट भी जोते जाते थे।[५१]

४७—द्रष्टव्य १ (क)।

४८—द्रष्ट० वही, पृ० ४२३

४९—३, भूमि० क्षत्रिय०, १२५

५०—द्रष्टव्य ४५, पृ० ५०९

५१—द्रष्टव्य ४६ (क), पृ० ११७

पालकी

पालकी या शिविका का प्रचार प्राचीन काल में भी था। विनयपिटक में 'पाटंकी' (पालकी) या शिविका का उल्लेख मिलता है। यह यान विशेषत: स्त्रीजनोपयोगी होता था। भिक्षुणियों के लिये भी यह सवारी वैध थी।[५२] भास ने इस यान के दो नाम दिए हैं—शिविका और पीठिका। किंतु इनका वहाँ स्पष्टीकरण नहीं है। संभव है कि आजकल के 'तामजाम' की भाँति पीठिका खुली रहती हो और उसमें पीठ (कुर्सी की तरह का आसन) भी लगा रहता हो, और शिविका आज की पेटीनुमा पालकी की भाँति चारों ओर से आवृत रहती हो। भास के नाटकों से यह भी पता चलता है कि शिविका राजकुमारियों के उपयोग में आती थी। शिविकाएँ हाथीदाँत की बनी होती थीं जिनमें श्वेत पुष्प तथा रत्नदीप लगे रहते थे।[५३]

शिविका का जो लक्षण 'अभिधानराजेन्द्र' में दिया है उसके अनुसार इस शब्द का अर्थ 'बंद पालकी' ही होता है।[५४] जैन साहित्य में शिविका का एक और नाम 'संदमनी' मिलता है।[५५] यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता कि 'संदमनी' शिविका का पर्यायवाची था या प्रकार-विशेष। इन यानों का प्रयोग भी राजाओं या धनिकों द्वारा ही होता था। कुछ राजाओं की पालकियों के विशेष नाम भी होते थे।[५६]

विनयपिटक में एक दूसरे यान का भी उल्लेख मिलता है जो बहुधा पालकी से ही मिलता-जुलता था। यह है 'हत्थवहक'।[५७] यह दो प्रकार का बतलाया गया है—(१) नरों से वाहित, (२) मादाओं से वाहित। यह स्पष्ट नहीं होता कि इस शब्दावली का तात्पर्य पुरुषवाहित तथा स्त्रीवाहित यान है अथवा वृष या गोवाहित। यान भिक्षुओं के लिये नरवाहित हत्थवहक में बैठना वैध माना गया है। संभवत: इसका अभिप्राय पुरुषवाही पालकी ही होगा।

५२—द्रष्ट० २२, पृ० ५३७, चुल्लवग्ग १०।५।८

५३—अश्वघोष, बुद्धचरित, १।८६—'द्विरदरदमयीं, महार्हां, सितासित पुष्पभृतां मणि प्रदीपम्'।

५४—द्रष्ट० ३८, भाग ७ पृ० ८७३—'सिविका, उपरिच्छादिते कोष्ठाकारे'।

५५—द्रष्टव्य ५१

५६—द्रष्टव्य ५१,

५७—द्रष्ट० २२

जलयान

जलयान का उल्लेख भी वैदिक काल से मिलता है। ऋग्वेद और वाजसनेयी संहिता में सौ डाँडों से चलाए जानेवाले जहाज का उल्लेख है। पतवार को 'अरित्र' कहते थे और नाविक को 'अरितृ'। छोटी नाव जो वृक्ष के तने को कोरकर बनाई जाती थी, 'नौ' कहलाती थी। उसे 'प्लव' अर्थात् उतरानेवाली भी कहते थे। डा० केतकर के मतानुसार पाल तथा मस्तूल का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। शतपथ-ब्राह्मण में पतवार को 'मण्ड' कहा गया है। परवर्ती काल में इसे 'कर्ण' कहते थे।[५८]

वेदों के बाद वाले साहित्य में बड़े बड़े व्यापारी जहाज, युद्धपोत, क्रीडा-नौकाएँ इत्यादि जलयानों के कई प्रकार मिलते हैं। समुद्र में यात्रा करनेवाले जहाज 'सायांतिर्णव' तथा 'प्रवहण' कहलाते थे। जैन साहित्य[५९] में इन जहाजों को 'पोय', 'पोयवहण' अथवा 'पवहण' भी कहा गया है। मुख्य नाविक को 'निज्जामय' कहा जाता था। जहाज पर के लोगों में 'कुच्छिधारय', 'कण्णधार', और 'गब्भिज्ज' इत्यादि कर्मचारी होते थे। जैन साहित्य में छोटी नावों के भी कई नाम मिलते हैं; जैसे नाव, अगट्ठिया, अंतरंडक गोलिया इत्यादि, किंतु इनके विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं है।

वायुयान

प्राचीन साहित्य में अन्य यानों के साथ वायुयान या विमान का भी प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलता है। अपने स्वामी के मनोनुकूल रहनेवाला रामायण का पुष्पक विमान प्रसिद्ध ही है। जैन कथाओं में भी 'गरुड़' नामक वायुगामी यान का उल्लेख आता है।[६०] 'अभिधानराजेन्द्र' में विमान को देवताओं का यान बतलाया गया है।[६१] इस प्रकार के वायुगामी विमान कभी सत्य सृष्टि में रहे अथवा नहीं, यह वाद का विषय है। इतना तो निश्चित है कि साहित्य में विमानों के प्रचुर उल्लेख होते हुए भी हम उनकी बनावट से सर्वथा अपरिचित हैं।

५८—द्रष्ट० ४८, पृ० ४१६

५९— ,, ४६ क, पृ० ११८

६०—वही, पृ० १०१

६१—द्रष्ट० ३८, भाग ४, पृ० १४५०

विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार के यानों का उपयोग किया जाता था।[६२] 'प्रवहण', जो रथ का भी एक नाम था, विवाह, बारात इत्यादि के अवसर पर काम में लाया जाता था। कभी कभी इस यान में राजस्त्रियाँ तथा उच्च श्रेणी की गणिकाएँ चलती थीं। इसमें गद्दियाँ भी लगी रहती थीं। शिविका का प्रयोग जैसा कि हम बतला चुके हैं, राजकुमारियाँ करती थीं। विवाह में 'वाधूयान' रथविशेष का भी प्रयोग होता था। राज्याभिषेक के समय पर अथवा बड़ी बड़ी शोभायात्राओं में पुष्यरथ काम में लाए जाते थे।

कला में यान†

प्राचीन भारतीय यानों के विषय में अब तक का किया हुआ विवेचन साहित्य के आधार पर था, जहाँ अधिकतर निष्कर्ष केवल अनुमान पर ही आधारित थे। पर अब हम अनुमान को छोड़ प्रत्यक्ष के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। प्राचीन भारत की प्रस्तर-कला-कृतियों में हमें भारतीय यानों के कई नमूने मिलते हैं। इसके सिवा विभिन्न स्थलों से हमें जो मिट्टी के खिलौने प्राप्त हुए हैं, उनमें भी रथों और गाड़ियों के कुछ नमूने मिलते हैं। ये सब चीजें प्राचीन भारतीय यानों पर अंशतः अच्छा प्रकाश डालती हैं—अंशतः इसलिये कि कला में केवल उसी अंश का प्रत्यक्षीकरण कराया जाता है जिसकी आवश्यकता होती है।

रथ

रथ का (अथवा जिसे गाड़ी कहना अधिक युक्तिसंगत होगा उसका) प्रथम दर्शन हमें सिंधु-सभ्यता में होता है। किंतु इस सोपान पर इसके विषय में अधिक बातें नहीं जानी जा सकतीं; केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अति प्राचीन काल में गाड़ियों के पहियों में तीलियाँ नहीं होती थीं, वे मोटे और ठोस बनाए जाते थे।

रथ के सर्वप्रथम नमूने हमें भरहूत के स्तूप पर दृष्टिगोचर होते हैं।[६३] इन्हीं के समकालीन मिट्टी के वे छोटे छोटे रथ हैं जो कौशांबी, भीटा इत्यादि अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। उनमें से कुछ में बैल भी जुते हैं। इस प्रकार के कुछ

६२—द्रष्ट० ४६ (ख)

† यहाँ प्रधानतः शुंग और कुषाण कला पर ही विचार किया गया है।

६३—बरुआ, बी० एम्०, भरहूत, खं० ३, आकृति ५२, ६६, १३४

रथ तो संपूर्ण हैं और कई के टूटे हुए टुकड़े मिले हैं (द्रष्ट० चित्र ७ ग)। कौशांबी से प्राप्त इस प्रकार के रथों का सुंदर संग्रह प्रयाग-संग्रहालय में सुरक्षित है। सूर्य के रथ का सुंदर चित्रण बुद्धगया से प्राप्त एक वेदिका-स्तंभ पर किया गया है।[६४] भीटा से मिट्टी का एक ठीकरा मिला है, जिसपर 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा का एक भाग अंकित है।[६५] यहाँ भी दुष्यंत का रथ दर्शनीय है। रथों का सुंदर और विपुल चित्रण साँची के मुख्य स्तूप के दक्षिण और उत्तर द्वार पर किया गया है। इन्हीं के समकालीन रथ दक्षिण-भारत के अमरावती स्तूप से प्राप्त शिलापट्टों पर देखे जा सकते हैं। गुप्तकालीन कलाकृतियों में भी रथ के दर्शन होते हैं। लगभग इसी काल के बाद रथों का सर्वमान्य प्रयोग उठ चुका था। इसलिये यद्यपि कलाकृतियों में उसके बाद भी रथ दिखलाई पड़ते हैं, तथापि उस काल का उनका चित्रण सत्य पर आधारित न होकर बहुत अंशों में कल्पना पर आधारित है। यों तो मध्यभारत में बैलों के रथ अभी लगभग पचीस वर्ष पूर्व तक चलते रहे, किंतु उनका वैविध्य और महत्त्व तो कभी का नष्ट हो चुका था। अस्तु। इन रथयुक्त कलाकृतियों का अध्ययन हमें निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचाता है—

रथांग—कलाकृतियों में हमें निम्नलिखित रथांग स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं और उनका आकार इत्यादि समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

ईषा और युग—साँची के स्तूप में उत्तर द्वार पर वेस्संतर जातक की कथा अंकित है। उसमें एक स्थान पर यही चित्रित किया गया है कि वेस्संतर अपना रथ ब्राह्मण को दे चुका है और ब्राह्मण उसे लेकर जा रहा है।[६६] यहाँ पर ईषा, युग और अपालंब तीनों स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं। ईषादंड सरल नहीं है, कुछ गोलाई लिए हुए है। युगबंध के पास ही अपालंब नीचे की ओर लटक रहा है। साँची के एक द्वारतोरण पर[६७] हमें रथ का एक ऐसा भाग दिखलाई पड़ता है जिसकी चर्चा 'साहित्य' के अंतर्गत नहीं हुई है। यह भाग लकड़ी के दो टुकड़े

६४—बरुआ, बी० एम्०, 'गया ऐंड बुद्धगया' आकृति ४२

६५—द्रष्ट० ४२, १९११-१२, पृ० ७३, सं० १७

६६—मार्शल, जे०, और फाउचर, ए०, द मान्युमेंट्स ऑव साँची, प्लेट २३

६७—वही, प्लेट ४० और ४४

या गद्दियाँ हैं जो घोड़ों की गर्दन के पास इस प्रकार लगाई जाती थीं कि वे वेग से दौड़ते समय ईषादंड या युगबंध से न टकराएँ।

चक्र—इन कलाकृतियों में रथ के ठोस पहिए नहीं दिखलाई पड़ते। प्रायः सभी चक्रों में तीलियाँ, नेमि इत्यादि सभी अंग स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं।

पक्ष और कूबर—इन दोनों को बेल-बूटों से भली भाँति सजाया जाता था (चित्र संख्या ७ ग)।

ध्वज—ध्वज के महत्त्व की चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। श्री शिवराममूर्ति ने एक स्थल पर लिखा है[६८] कि 'ध्वजों का स्थान निश्चित करने के लिये अब तक की ज्ञात कलाकृतियों में से कोई प्रमाण नहीं मिलता' और इसीलिये उन्होंने चीनी मूर्तियों का सहारा लिया है। परंतु अहिच्छत्रा में हाल ही में एक मिट्टी का ठीकरा मिला है[६९] जिसपर दो रथी युद्ध करते हुए दिखलाए गए हैं। इससे ध्वज का स्थान निश्चित हो जाता है। साहित्य के अंतर्गत ध्वज की चर्चा करते समय हमने यह दिखलाने का प्रयास किया था कि ध्वज रथी के अगल-बगल में होना चाहिए। प्रस्तुत टुकड़े पर अवचूलयुक्त ध्वज ठीक रथी के बगल में ही है।

रथ के आकार और भेद—आश्चर्य है कि इन विभिन्न कलाकृतियों में रथ लगभग एक ही प्रकार के मिलते हैं। हम इनकी तुलना सांग्रामिक रथों से कर सकते हैं, जिनका वर्णन हम कर चुके हैं। जैन-ग्रंथोंवाला 'संगर रह' का लक्षण इन रथों पर पूरी तरह से घटता है। क्या पूजनार्थ जाते समय,[७०] क्या युद्ध-यात्रा के लिये,[७१] और क्या नगर का परित्याग कर वनगमन के लिये प्रयुक्त—सभी रथ एक ही प्रकार के हैं। ऐसा क्यों है, इसका उत्तर देना कठिन है। हम प्रथम ही कह चुके हैं कि कलाकृतियों से तत्कालीन अवस्था का आंशिक प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, संपूर्ण नहीं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि ये रथ आकार में छोटे नहीं होते

६८—शिवराममूर्ति, 'अमरावती स्कल्पचर्स इन द मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम', १९४२ पृ० १२२

६९—अग्रवाल, वा० श०, 'टेराकोटाज फ्राम अहिच्छत्रा', एंशंट इंडिया, संख्या ४, प्लेट ६६, पृ० १७१

७०—द्रष्ट० ६६, प्लेट ११

७१—वही, प्लेट १५

थे, क्योंकि कभी-कभी एक ही रथ में दो ही नहीं, वरन् चार-चार व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं।[७२]

घोड़े—रथ में साधारणतया दो, और कभी कभी चार घोड़े भी जोते जाते थे। एक घोड़े का रथ कहीं नहीं दिखलाई पड़ता। यह भी एक उल्लेखनीय बात है कि लगभग सभी स्थलों पर घोड़े की पूँछ कक्ष्या से बँधी हुई दिखलाई पड़ती है (चित्र २ और ४)। संभवतः ऐसा इसलिये करते होंगे कि घोड़ों की पूँछें पहियों के पास होने के कारण वेग से घूमते हुए चक्र के साथ फँस न जाँय।

अभी हम घोड़ों के दो अलंकारों, 'पृदद्वय' और 'बालबंधन', का उल्लेख कर चुके हैं। उनमें बालबंधन को हम कलाकृतियों में देख सकते हैं। घोड़ों के बालों को गूँथकर वेणियाँ बनाने की प्रथा भी कला में दिखलाई पड़ती है (चित्र ७ क)। इन्हीं में से मोतियों की लड़ियों के गुच्छे भी लटकते हुए दिखलाई पड़ते हैं (चित्र ७ ख)। इन्हीं का नाम 'बालबंधन' होना चाहिए। इसके सिवा भरहूत की कलाकृतियों में घोड़ों की कँलगियाँ भी दिखलाई पड़ती हैं (चित्र ८ क)। इनमें घोड़ों के कंठ में मुक्ताजाल भी पड़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है।[७३]

रथी और सारथी—साँची और भरहूत के स्तूपों पर अंकित रथों में रथी और सारथी का स्थान विशेष मनोवेधक हैं। बहुधा सारथी बाएँ ओर और रथी दाहिने ओर रहता है (चित्र २)। पर इस प्रकार का कोई निश्चित नियम नहीं था, कहीं-कहीं ठीक इसके विपरीत भी रथी और सारथी दिखलाई पड़ते हैं।[७४] स्त्रियाँ भी क्रीड़ा हेतु कभी-कभी सारथ्य किया करती थीं। साँची में एक स्थल पर एक रानी सारथ्य करती हुई दिखलाई पड़ती है।[७५] राजा और राजकुमार भी रथ-संचालन-कला में दक्ष होते थे। नगर से निकलते समय कुमार वेस्संतर स्वयं सारथ्य करते हुए दिखलाए गए हैं।[७६] कहीं-कहीं रथी आगे और सारथी

७२—वही, प्लेट २३

७३—कनिंघम, ए०, स्तूप ऑव भरहूत, प्लेट ३१ सं० २

७४—द्रष्ट० ६६, प्लेट १८ ए

७५—वही, ७६ आकृति २७ बी

७६—वही, २३

पीछे भी दिखलाया गया है।[७७] किंतु इन आधारों पर यह निष्कर्ष निश्चित रूप से नहीं निकाला जा सकता कि वस्तुतः सारथी पीछे रहता था, क्योंकि भारतीय कला में प्रत्येक वस्तु को यावच्छक्य भली-भाँति दिखलाने की दृष्टि से ठीक बगल में पड़नेवाली वस्तु को कुछ पीछे या ऊपर की ओर दिखलाने की प्रथा थी।

अहिच्छत्र से मिले हुए ठीकरे पर, जो लगभग सातवीं शती का माना गया है, सांग्रामिक रथ में भी सारथी रथी के ठीक सामने बैठा हुआ दिखलाया गया है।[७८] किंतु यह चित्रण वास्तविक स्थिति का प्रातिनिध्य नहीं कर सकता, क्योंकि इस समय तक पहुँचते पहुँचते रथों का उपयोग युद्ध के लिये निश्चित रूप से बंद हो गया था।

सांग्रामिक रथों को छोड़कर अन्य प्रकार के रथों में रथी और सारथी का स्थान कहाँ होता था, इसका उत्तर कला में उन रथों के अभाव के कारण नहीं दिया जा सकता।

गाड़ियाँ या गोरथ

कला में मुख्यतः गाड़ियाँ दो प्रकार की दिखलाई पड़ती हैं- अनावृत और आवृत। अनावृत गाड़ी निश्चित ही शकट है जो भारवहन के काम में आता था। भरहूत के एक शिलापट्ट पर अनाथपिंडक के दान की कथा उत्कीर्ण है,[७९] जिसमें यह दिखलाया गया है कि श्रेष्ठी अनाथपिंडक ने शकट पर धन लाकर राजकुमार जेत की भूमि पर बिछवाया। यहाँ पर दिखलाया गया शकट बहुत कुछ आजकल के सग्गड़ सा है। बैल जुते हुए न होने के कारण ईषादंड, युग और शम्या साफ देखी जा सकती हैं।

भरहूत वाली आनवृत गाड़ी में ध्यान देने योग्य बात यह है कि बैलों के गलों को ठीक से फँसा रखने के लिये युग के प्रत्येक ओर दो-दो खुरियाँ, जिन्हें शम्या कहते थे, लगी हुई हैं। मथुरा के कुषाणकालीन बौद्धस्तूप से भी कुछ अनावृत गाड़ियों के उदाहरण प्राप्त हुए हैं।[८०] यह इस तरह की गाड़ियों का दूसरा प्रकार

७७—वही, प्लेट १८ ए, १७ बी

७८—द्रष्ट० ६६

७९—द्रष्टव्य ६३, आकृति ४५

८०—स्मिथ, वी० ए०, 'द जैन स्तूप ऐंड अदर एंटिक्विटिज ऑव मथुरा,' प्लेट १९ और २०

है। यहाँ गाड़ी में पत्त दोनों ओर लगे हैं, केवल आच्छादन भर नहीं है। इस प्रकार की गाड़ी यात्रा के काम में आती थी।

भरहूत के स्तूप पर आवृत गाड़ी भी देखी जा सकती है।[८१] इसमें कई वस्तुएँ ध्यान देने योग्य हैं। पहले तो ईषा ही है। यहाँ ईषा एक डंडे वाली नहीं है, उसने 'त्रिवेणु' का रूप धारण कर लिया है। जहाँ पर ये त्रिवेणु, कोश से मिलते हैं वहाँ गाड़ीवान के बैठने के लिये जगह भी बनी है। इसमें पहले की भाँति चार शम्याएँ पड़ी हैं और बैलों की रस्सियाँ भी इधर-उधर छूटी पड़ी हैं। निश्चय ही गाड़ी को अपालंब पर खड़ा किया गया है, जो हमें दिखलाई नहीं पड़ रहा है। गाड़ी के ऊपर का छप्पर चार कोनों के खंभों से बाँध दिया गया है। गाड़ी दो पहिए वाली है। गाड़ी के पिछले भाग में यात्रियों के चढ़ने के लिये भी कुछ सुविधा कर दी गई है। साँची में भी आवृत गाड़ी का अच्छा नमूना मिलता है।[८२] अंतर केवल इतना ही है कि वहाँ छप्पर चार नहीं प्रत्युत आठ खंभों के सहारे बाँधा गया है। गाड़ी में तीन यात्री बैठे हुए दिखलाए गए हैं। यह दो पहियों-वाली गाड़ी है जिसे दो बैल खींच रहे हैं। शुंगकाल की इस प्रकार की गाड़ियों का सबसे अच्छा चित्रण मथुरा से पाई गई एक पत्थर की धन्नी पर मिलता है।[८३] साँची के समान इसका भी छप्पर आठ छोटे खंभों के आधार पर टिका हुआ है। इस प्रकार बनी हुई चार खिड़कियों में यात्रियों के सिर दिखलाई पड़ते हैं। तीन यात्री तो रास्ते के एक ओर देख रहे हैं और एक दूसरे ओर। गाड़ीवान छप्पर से आच्छादित जगह से बाहर बैठकर-यान संचालन कर रहा है। एक बात ध्यान देने योग्य है। खिड़कियों से यात्रियों के केवल सिर ही दिखलाई पड़ते हैं, अर्थात् उनकी कमर से लेकर गर्दन तक का भाग गाड़ी के पत्तों के पीछे ही दिया रहता है। इस प्रकार पत्तों की ऊँचाई का अनुमान लगाया जा सकता है। मथुरा के कुषाण-कालीन शिलापट्ट पर[८४] लगभग छः गाड़ियाँ बनी हुई हैं। इनको ध्यानपूर्वक देखने पर निम्नांकित महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है—

८१—द्रष्ट० ९३, आकृति ८९

८२— ,, ९९ प्लेट १९ सी

८३— ,, ८० प्लेट १५

८४—द्रष्ट० ८०

(१) अनुकर्ष—साहित्य के अंतर्गत चर्चा करते समय हम कह आए हैं कि कोश के पेंदे को अनुकर्ष कहते थे। एक शिलापट्ट पर[८५] हम देखते हैं कि कोश को मजबूत करने के लिये अक्ष के सिवा एक अन्य अर्धवर्तुलाकार वस्तु भी लगी हुई है, जो आधुनिक स्प्रिंग (Spring) के समान मालूम पड़ती है। कदाचित् इसे ही 'अनुकर्ष' कहा जाता है। (चित्र संख्या ४)

(२) इन गाड़ियों में कभी कभी घोड़े भी जोते जाते थे।

दक्षिण के अमरावती[८६] तथा गोली स्तूप पर दिखलाई पड़नेवाली बैल-गाड़ियाँ[८७] आकार-प्रकार में लगभग वैसी ही हैं जैसी आजकल मध्यप्रदेश में प्रचलित छप्परवाली बैलगाड़ियाँ होती हैं। कुछ गाड़ियों के छप्परों को आड़ी खड़ी रेखाओं द्वारा सुशोभित करने का प्रयत्न किया गया है। संभव है ये छप्पर रंगे भी जाते रहे हों।

जलयान

कलाकृतियों में छोटी नाव, बड़े जहाज तथा राजनौका—तीनों के दर्शन होते हैं। छोटी नाव बुद्धगया से प्राप्त एक वेदिकास्तंभ पर देखी जा सकती है।[८८] यह निश्चित ही लकड़ी को कोरकर बनाई गई है। देखने में यह अर्द्धचंद्राकार है। इसमें तीन व्यक्ति बैठे हुए हैं। नाव के अगल-बगल उगी हुई कमल की कलियाँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि नाव तालाब या नदी में चल रही है, समुद्र में नहीं। साँची में भी इस प्रकार की एक नाव मिलती है[८९], जिसमें डाँडों का आकार भी देखा जा सकता है। यह नदी में चलती हुई दिखलाई गई है।

बड़ी नाव या जहाज भरहूत के स्तूप से प्राप्त एक शिलाखंड पर देखा जा सकता है।[९०] पानी में एक मनुष्यभक्षी तिमिंगल मत्स्य का होना ही इस

८५—द्रष्ट० ८०

८६— ,, ६८ प्लेट १०

८७—रामचंद्रन्, टी० एन्०, 'बुद्धिष्ट स्कल्पचर्स फ्रॉम ए स्तूप नियर गोली विलेज,' १९२९, प्लेट ३

८८—द्रष्ट० ६४ आकृति ५९

८९— ,, ६६, प्लेट ५१

९०— ,, ६३ आकृति ८५

बात को प्रमाणित करता है कि नाव समुद्र में है। यहाँ पर जहाज की बनावट भी ध्यानपूर्वक देखी जा सकती है। बड़े बड़े लकड़ी के तख्तों को लोहे (या ताँबे) की कड़ियों से जोड़-जोड़कर ये जहाज बनते थे। डाँड़े भी लंबे होते थे और उनका आकार हम लोगों के चम्मच सा होता था। आज भी इस प्रकार के डाँड़ों का व्यवहार बंबई जैसे बंदरगाहों पर होता है।

राजनौका का सुंदर उदाहरण हमें साँची के पश्चिम तोरण के द्वारस्तंभ पर मिलता है।[९१] आगे से यह नौका चोंचदार सिंह के मुख के आकार की है तथा पीछे से इसका आकार एक बड़े मत्स्य की ऊपर उठी हुई और अंदर की ओर मुड़ी हुई पूँछ के समान है। बीच में आयताकार क्षेत्र में एक मंडप पड़ा हुआ है जिसमें छत्र के नीचे कोई वस्तु दिखलाई पड़ती है (चित्र ६)। प्रस्तुत चित्र से यह पता नहीं चलता कि नौकावाहकों का स्थान कहाँ था। यह नौका रँगी भी जाती रही होगी तथा इसमें सभी प्रकार के आराम का ध्यान रखा जाता रहा होगा।

शिविका

शिविकाओं के सुंदर नमूने हमें अमरावती के स्तूप से प्राप्त शिलापट्टों पर मिलते हैं।[९२] ये लगभग ई० पू० द्वितीय शताब्दी के हैं। यहाँ दो प्रकार की पालकियाँ दिखलाई देती हैं--एक छोटी और एक बड़ी। छोटी पालकी में केवल एक ही मनुष्य बैठ सकता था। आकार में यह 'चतुराश्रय' या चौकोर होती थी तथा इसके ऊपर मंडपाकार आवरण रहता था (चित्र ३)। आवश्यकता पड़ने पर अगल-बगल पर्दे भी छोड़ते रहे होंगे। दूसरे प्रकार की शिविका आकार में काफी बड़ी और खिड़कियों तथा शिखरों से युक्त होती थीं। आवश्यकतानुसार इन खिड़कियों को खुला या बंद रखा जा सकता था। इनमें एक से अधिक व्यक्ति बैठ सकते थे।

वायुयान

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वायुयान देवताओं के यान को कहते थे। सत्य सृष्टि में इसकी स्थिति थी अथवा नहीं, यह संदेह का विषय है। मथुरा से

९१—द्रष्ट० ६६, प्लेट ६५ ए

९२—द्रष्टव्य ६८

प्राप्त एक कुषाणकालीन शिलापट्ट पर पूजा-यात्रा का दृश्य उत्कीर्ण है।[९३] यहाँ 'हंसयान' में बैठकर कुछ देवतागण पूजा के लिये आए हुए दिखलाए गए हैं। यहीं इस यान के दर्शन होते हैं। यह यान एक बंद कक्ष सा है। कक्ष में एक दरवाजा भी दिखलाई पड़ता है। कक्ष मुड़े हुए छप्पर से आवृत है। उसके चारों ओर वेदिका बनी हुई है, जिसके चारों कोनों पर पंख खोले हुए हंस हैं जिनमें से केवल तीन ही प्रस्तुत चित्र में देखे जा सकते हैं (चित्र संख्या ५)।

इस प्रकार प्राचीन भारत की ये कलाकृतियाँ हमें भारतीय यानों की विविधता का सुंदर दर्शन कराती हैं। साहित्य में यानों की जो विपुलता, समृद्धि तथा ऐश्वर्य वर्णित है उसकी अच्छी सी झलक हमें कला में मिल जाती है। इन यानों के सिवा यात्रा को सुकर बनाने में घोड़े, बैल, हाथी इत्यादि जानवर वाहन-रूप से बड़ी सहायता करते थे। इनका विशद विवेचन भी बड़ा मनोरंजक होगा।

९३—द्रष्टव्य ८०

साहित्य के साथ कला का संबंध

[ले० श्री वासुदेवशरण]

हिंदी साहित्य के साथ ललित कलाओं का घनिष्ठ संबंध रहा है, कारण कि रीतियुग की एक विशेष परिपाटी के अनुसार साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन नायक-नायिका एवं राग-रागिनियों को चित्रात्मक रूप देने का प्रयत्न भारतीय चित्रकला की एक विशेषता थी, तथा संगीत के स्फोटात्मक नाद ने भी साहित्यिक पदों के रूप में मूर्त रूप ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्यिक ग्रंथों की यह एक अपूर्व विशेषता रही है कि उनके प्रतिभाशाली लेखकों ने कला के उपकरणों का अपने काव्य-ग्रंथों में यथास्थान बड़े सुंदर ढंग से सन्निवेश किया है। लोक का रहन-सहन, वेष-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक वस्तुओं के द्वारा साहित्य और कला दोनों का ही शरीर मंडित होता है। साहित्य में इस सामग्री का वर्णन और कला में उसी का चित्रण देखा जाता है। किसी भी युग की कला के स्वरूप का सांगोपांग वर्णन करने के लिये पारिभाषिक शब्दों का अक्षय भंडार तत्कालीन काव्य और साहित्य-ग्रंथों में ढूँढ़ने से मिल सकता है। साहित्य और कलाओं का यह घनिष्ठ संबंध अध्ययन का अत्यंत रोचक विषय है। इसकी परस्परोपयोगिता को देखते हुए कहना पड़ता है कि बिना कला की मर्मज्ञता के साहित्यिक अध्ययन अधूरा रहता है, और बिना साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के कला की समीक्षा संकुचित रह जाती है। जिस लोक-जीवन की उमंग ने साहित्य और कला दोनों को साथ जन्म दिया था उसके 'कृत्स्न' स्वरूप का परिचय साहित्य और कला के युगपत् अध्ययन पर ही निर्भर है। कला और साहित्य के घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करने के लिये यहाँ हम दो उदाहरण देते हैं, एक जायसी के पद्मावत से और दूसरा तुलसीदास के रामचरितमानस से। समकालीन स्थापत्यकला की दृष्टि से दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। यथा, सिंहलद्वीप में गढ़ का वर्णन—

पौरिहि पौरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं लोग देख तहँ ठाढ़े॥
बहुबिधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े॥

टारहिं पूँछ, पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा ॥
कनकसिला गढ़ि सीढ़ी लाईं। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं ॥
नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़े, सत सौं उतरै पार ॥
(पद्मावत, पृ० १७)

इसके कुछ परिभाषिक शब्द, इस प्रकार हैं—पौरी (द्वार, प्रतोली); नाहर या सिंह, जो प्रतोली द्वार पर बनाए जाते थे; गढ़ि काढ़े (निकली हुई उकेरी, Carved in relief); पसारहिं जीहा (जीभ बाहर निकाले हुए, with protrudiug tongues); बहुविधान (भाँति भाँति के रूपों के लिये जायसी ने यह शब्द बोलचाल की भाषा से लिया है; various designs); गढ़ना (Carving); खंड (तल्ला, भूमि, Storey); नव खंड (नौ भूमिका)। जीभ पसारे हुए नाहर हमारी कला का एक पुराना अभिप्राय (motif) है।

इसी प्रकार रामचरितमानस में धनुष-यज्ञ के बाद विवाह की तैयारी के समय जनकपुर में वितान-निर्माण का वर्णन समकालीन वास्तुकला की पारिभाषिक शब्दावली के द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिरु नाए ॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा ॥
हरषि चले निज निज गृह आए। पुनि परिचारक बोलि पठाए ॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिरु धरि बचन चले सचु पाई ॥
पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना ॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा ॥

दो०—हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुम राग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल ॥३१६॥

चौ०—बेनु हरित-मनि-मय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे ॥
कनक कलित अहि बेलि बनाई। लखि नहिं परै सपरन सुहाई ॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच्चि बिच मुकुता दाम सुहाए ॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
किए भृंग बहुरंग बिरंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा ॥

सुरप्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ीं ॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर-मनि-मय सहज सुहाईं ॥
दो०—सौरभपल्लव सुभग सुठि किए नील-मनि कोरि ॥
हेम बवरि मरकत घवरि लसत पाटमय डोरि ॥३२०॥

(बालकांड)

हीरा, पन्ना, लाल, पिरोजा आदि रत्नों की पच्चीकारी के द्वारा बेलों के भाँति-भाँति के बंधों का निर्माण तुलसीदास की समकालीन वास्तुकला की अपूर्व विशेषता थी। कवि ने उसका एक सुंदर रूप हमारे सामने खड़ा किया है। चीरि, कोरि, पचि—ये शब्द उत्कीर्ण करने की विविध शैलियों को सूचित करते हैं। खंभों पर देव-प्रतिमाओं को गढ़कर काढ़ना (Carving in relief) प्राचीन भारतीय शिल्प की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी जिसका उल्लेख बाण आदि कवियों ने स्तंभों की शालभंजिका नाम से किया है। कालिदास में 'स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानाम्' (रघुवंश, १६।१७) में खंभों पर गढ़कर काढ़ी हुई मूर्तियों का वर्णन किया है। ऊपर के पारिभाषिक शब्दों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

हाट = बाजार; मध्यकालीन नगरों के वर्णनों में ८४ हट्टों का उल्लेख आता है (द्र० प्राचीन गुजराती गद्यसंदर्भ, मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित, पृथ्वीचंद-चरित्र, पृ० १२६)। 'मंदिर' और 'सुरबासा' में यहाँ भेद हैं। मंदिर = राजभवन या महल। रामचरितमानस में कितने ही स्थानों पर मंदिर का यही अर्थ है। जैसे,

अति लघुरूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥
गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति विचित्र कहि जात सो नाहीं ॥
सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही ॥
भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा ॥

(सुंदरकांड ५।४—८)

हरि-मंदिर छोड़कर शेष स्थानों में 'मंदिर' का अर्थ 'महल' है। राजस्थान में आज तक सुखमंदिर आदि महलों के विशेष भागों के नाम होते हैं। मंदिर के बाद 'सुरबासा' 'देवस्थान' के लिये है, जो आजकल का मंदिर हुआ। चारिहुं

पासा = चारों ओर, पार्श्व, तरफ। यहाँ तीन प्रकार के लोगों का वर्णन है। राजा जनक ने पहली कोटि में 'महाजनों' (धनी व्यापारियों) को बुलवाया जिनसे नगर सजाने को कहा गया। उन लोगों ने परिचारक बुलवाए जो वितान बनानेवाले कार्याध्यक्ष या सेवक हुए। परिचारकों ने 'गुनी' अर्थात् कारीगरों को बुलाया। ये गुनी ही वास्तविक वितान-विधि के बनानेवाले थे। 'वितान' से तात्पर्य है मंडप या दरबारी शामियाना। अरंभा = निर्माण-कार्य का आरंभ। कनक कदलि के खंभा = केले के आकार के सोने के खंभे अथवा सुवर्ण-कदली के खंभे; परंतु पहला अर्थ ही ठीक जान पड़ता है। केले के खंभों में हरित मणि या हीरे के पत्ते और फल, और पद्मराग के फूल बनाए गए। पुनः हरित मणि के ही बाँस बनाए गए जो सरल (सीधे), सपरब (पोरदार) थे, पर पोरियाँ पहचान में नहीं आती थीं। सोने की अहिबेलि (नागबेल) बनाई गई। यह 'सपरन', अर्थात् पत्तों के साथ थी। उसी बेल को घूम-घुमावों में बनाकर बंध डाले गए। भाँति-भाँति की आकृति के मोड़ ही बंध हैं। बेल या लतर की विविध रचना से बंधों की आकृति पैदा की गई। मुगल-कालीन वास्तुकला में इस प्रकार के बंध कई भाँति के रंगीन पत्थरों की पच्चीकारी करके बनाए जाते थे। इसी लिये कहा गया है 'तेहि के रचि पचि बंध बनाए'। उनके बीच-बीच में मोतियों की मालाएँ (अंग्रेजी पर्ल फेस्टून) लगी हुई थीं। इन बेलों के बंधों में सबसे दर्शनीय वस्तु सरोज या फुल्ले थे जो मुगलकालीन कला की विशेषता हैं। ये फुल्ले माणिक्य, मरकत, हीरा और पीरोजा, इन चार रत्नों को चीरकर, कोरकर और पच्चीकारी करके (चीरि, कोरि, पचि) बनाए गए थे। कारीगर लोग संग (पत्थर) को पहले तार लगी कमान से कुरंड का रेत डालकर काटते हैं, यह हुआ संग का चीरना। फिर उसे घिसकर चिकना करते हैं, यह कोरना है। और अंत में उसे पच्ची करते या खोदकर यथास्थान बैठाते हैं। खंभों पर कढ़ी हुई देवमूर्तियों का गढ़ना भी मंदिर-वास्तु की विशेषता थी। 'कढ़ी हुई' के लिये अंग्रेजी प्रतिशब्द 'रिलीफ' है। चौक पूरना भी वास्तु का शब्द है। घरों के आँगन की सजावट के लिये सारे देश में एक प्रकार की कला प्राचीन काल से चली आती है। उसे बंगाल में अल्पना (सं० अलिम्पन), बिहार में 'ऐपन' (सं० अतितर्पण), राजस्थान में 'मांडने' (सं० मंडनक), गुजरात-महाराष्ट्र में 'रंगोली' (रंग वल्ली), दक्षिण में 'कोलम' और उत्तरप्रदेश में 'चौक पूरना' कहा जाता है। गजमोतियों के चौक पूरने का अभिप्राय लोकगीतों में प्रायः मिलता है। नवीं शती के सोमदेवकृत 'यशस्तिलक' चंपू ग्रंथ में रंगवल्ली या

रंगावलि का उल्लेख आता है (यशस्तिलक, १।३५०;२।२४७; = चतुष्क)। अतएव यह कला इस देश में उससे भी प्राचीन होनी चाहिए। अंत में कहा गया है कि सौरभ-पल्लव या आम के पत्ते नीलम को कोर करके बनाए गए। उनमें सोने का बौर या मंजरी और मरकत की घौर या फलों के गुच्छे लगाए गए।

उपलब्ध हिंदी साहित्य में कला की बहुत सामग्री है। चित्र, शिल्प, वास्तु सबका वर्णन यथास्थान मिलेगा। वस्त्रों के नाम, गहनों के नाम, अस्त्र-शस्त्रों के नाम आदि का उल्लेख साहित्य से अधिकाधिक संकलित करना चाहिए। चित्रों का भंडार तो साहित्य की कुंजी से ही ठीक ठीक खोला जा सकता है। नायक-नायिका, राग-रागिनी, ऋतु, बारहमासा, अष्टयाम आदि के सहस्रों चित्रों को काव्य के साथ जोड़ दें तो उन्हें वाणी मिल जाती है। कृष्ण-लीला के राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों की व्याख्या की सामग्री सूर के काव्य में है। सूरसागर, बिहारी-सतसई, केशव की रसिकप्रिया, रामायण, भागवत आदि ग्रंथों के भावों को चित्रकारों ने चित्रों में मूर्त रूप दिया है। उस अमूल्य निधि को ठीक तरह जानकर साहित्य का अंग बनाकर देखना होगा। चित्र और साहित्य दोनों एक ही सांस्कृतिक प्रेरणा से जन्मे। अतएव उनमें आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार का गहरा संबंध है।

पृथिवीपुत्र

[श्री मैथिलीशरण गुप्त]

[मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' के प्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवादकर्ता श्री ए० जी० शिरफ ने कविवर मैथिलीशरण गुप्त की 'पृथिवीपुत्र' शीर्षक कविता के उत्कृष्ट भाव से प्रभावित होकर तथा उसे विश्वकाव्य की वस्तु मानकर उसका अंग्रेजी रूपांतर प्रस्तुत किया है। मूल कविता कवि की 'पृथिवीपुत्र' नामक पुस्तक में संगृहीत है तथा अनुवाद अंग्रेजी की 'आर्ट एँड लेटर्स' (इंडिया सोसाइटी, लंडन) नाम की अंग्रेजी पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। मूल कविता और अनुवाद कवि और अनुवादक की अनुमति से 'पत्रिका' के पाठकों के परिचयार्थ यहाँ उद्धृत हैं।—सं०]

माताभूमि और पृथिवीपुत्र

माताभूमि

पुत्र-गर्व-गौरव से गरिमामयी हूँ मैं ;
मेरा यह इतना विशाल क्रोड़ उसके
एक क्रीड़ा कूर्दन के योग्य अब है कहाँ ?
जल-थल-व्योम में अबाध गति उसकी !
मंगल-निवासी बंधुओं से भेंट करके
सारे ग्रह-लोक घूमने को वह व्यग्र है !
बाष्प और विद्युत हैं किंकर-से उसके ;
उसके समक्ष खड़ी अचला-सी चंचला !
हाथ में रसायन है और सिद्धि साथ है।
भौतिक विभव ऐसा देखा कब किसने ?
लोहहयारूढ़ यंत्र माया-तंत्र उसके ;
सचा ऐंद्रजालिक-सा आज वह कौतुकी !
कर रहा नित्य नए आविष्कार अपने ;
सिद्ध-सी हुई है महाशक्ति उस शाक्त को !
किंतु वाममार्गियों का रक्षक है राम ही।
राम, मेरी संतति की कोई गति क्यों न हो
सीता के समान उसे और किसे सौंपूँ मैं ?
आया वह, कैसे कहूँ, आज कहाँ जाने को।

EARTH AND HER SON

(Translated from Maithilisaran Gupta, by A. G. Shirreff)

Sri Maithilisaran Gupta (born 1886) attained early fame as a nationalist poet by his Bharat Bharati. The present work, Prithiviputra, was published last year. A competent Indian critic writes, "When I first read this poem, I said, 'This belongs to world poetry.'" That I agree with this judgment is my excuse for attempting a translation.

Earth

Mother Earth am I, who watch with pride
The prowess of my progeny;
My lap no longer can provide,
Wide as it is, a playground fair
For one who is in three elements free—
Free in water and land and air,—
And now is tip-toe poised to spring
Through interplanetary space
From orbit to orbit, visiting
The farthest kinsmen of our race.
Lightnings and vapours are vassals to serve him;
Fortune makes stable her wheel to preserve him;
Life's elixir, philosopher's stone,
All that this world can give is his own;
Steeds that are tireless with sinews of steel
Toil for their master with shaft and wheel;
Many inventions he has sought out,
And magic is his beyond all doubt.
God grant his fancies may not stray
To magic of the left-hand way!
Thou who didst fashion him of my dust,
To Thee I commit him; accept my trust!
See where he comes, but whither going
That is what I would fain be knowing.

पृथिवीपुत्र

अब, नई यात्रा का मुहूर्त्त मेरा आ गया।

मातभूमि

बैठ मेरे बच्चे तू, डिठौना तो लगा दूँ मैं,
लेकर प्रदीप्त-स्नेह मैंने जो बनाया है।
अन्य भूत-दृष्टि-बाधा व्यापे नहीं तुझको,
तेरे सिर यों ही एक प्रेत चढ़ा बैठा है!

पृथिवीपुत्र

नाम मिटा डालूँगा स्वयं मैं जरा-मृत्यु का
अपने प्रयोगों से, परंतु क्या सदैव ही
बच्चा ही रहेगा अंब, पुत्र तुझ पृथ्वी का ?

मातभूमि

अर्थ इसका तो यही, मैं मातृत्व छोड़ दूँ;
ठीक ही है, अब तो तू व्योमचारी हो गया!

पृथिवीपुत्र

मेरी बात समझे बिना ही रुष्ट हो गई!
छूटे नहीं तेरे व्यर्थ वे संस्कार आज भी
आदिमयुगीन! हाय, भूत-बाधा अब भी ?

मातभूमि

ये संस्कार मेरे भले तेरे युग-भार से,
जब भी न जाऊँ मैं तलातल-वितल में!
और सच कह तू, क्या बच्चा नहीं अब भी
सर्वथा अबोध! मारा-मारी करता हुआ
डोलता है, खेलता है गोलियों से अभी भी!

Son

Mother, my hour is come to start
On a new journey.

Earth

Ere you depart,
Sit by me, child, while I weave a charm
To guard you from all ghostly harm.
This mark I print your brows above,
Emblem of a mother's love,
Will ward off every deadly shape—
Save One from whom is no escape.

Son

Is it Death that you speak of,—death and decay ?
Trust me to deal in my own way
With these and destroy them. You do ill
To treat me as a baby still.

Earth

So, Earth must renounce a mother's right
Now that in air you take your flight !

Son

What, you are angry ? But you miss
My meaning, Mother. It was this,—
You are old, old, old, as old as Time.
A brave new age requires no spell
To guard it against the powers of hell,
Those outworn phantoms of your prime.

Earth

To powers of hell though you pay no heed,
My ancient spells you yet may need.
You still are a child for all you say,
And your mind is set on toys and play;
Why, even now at a base you stand
To throw that marble you hold in your hand.

पृथिवीपुत्र

(हँसकर)

गोलियाँ कहाँ माँ, देख, अब यह गोला है !

माताभूमि

गोली नहीं गेंद सही ।

तेरे स्थूल रूप-सा !

आप भी तो गोल है तू !

माताभूमि

किंतु क्या है इसमें ?

पृथिवीपुत्र

आप निज गोलक में क्या-क्या धरे बैठी तू,
ज्ञात नहीं; तो भी सुन, मेरे इस गोले में
मेरा नया आविष्कार ।

माताभूमि

आवश्यकता तुझे
इसकी हुई क्यों ?

पृथिवीपुत्र

इसे खेल ही समझ तू ।
मेरे इस कंदुक की एक ही उछाल में
विश्व का विजय मुझे प्राप्त हुआ रक्खा है !

माताभूमि

तू क्या बकता है अरे, क्या है कह इसमें ?

Son (laughing)

A marble ? No, it is something bigger.

Earth

What is your plaything, then ? A ball ?

Son

You may call it that, for in compass small
It copies the shape of your own wide figure.

Earth

What is in it ? Say.

Son

I will do as you bid,
And tell you, though it still remains
A secret what your orb contains.
In this ball that I hold is hid
The latest of my discoveries.

Earth

And what is the need that it supplies ?

Son

Why, if you count it as a game,
"King of the Castle" might be its name,
For I shall have victory over all
The world with one bounce of this ball.

Earth

What idle folly is this you prate ?
I still am waiting to be told
What lies hid in that ball you hold.

पृथिवीपुत्र

कालानल ! विद्रोही-विपक्षी जहाँ मेरे जो ,
सर्वनाश उनका ! अधिक और क्या कहूँ ,
तेरे उस ज्वालामुखी से भी यह सौ गुना ।
किंवा तू करोड़ों वर्ष आप जिस ज्वाला में
जलती रही थी, वही आ समाई इसमें ।
सिहर उठी तू यह, क्या उसी की स्मृति से ?

माताभूमि

शांत पाप, शांत ताप, शांत बुद्धि-शाप हो !
मान लिया, सविता-सुता मैं जलती रही ;
धो दिया था मेरा दाह मेरी बाष्प-वृष्टि ने ।
मेरी अग्नि-शुद्धि में क्या ऐसी द्वेष-बुद्धि थी ,
जैसी इसमें है भरी ? मुग्ध, तेरी ईर्ष्या ने
खोजा है कहाँ से यह सर्वनाश सहसा ?
बोल, तेरे कौन बंधु लक्ष्य होंगे इसके ?

पृथिवीपुत्र

बंधु नहीं वैरी ! अंब, मेरे विश्व-जय के
यज्ञ-पशु-मात्र !

माताभूमि

उन्हें वैरी भले कह तू
मैं तो उनकी भी प्रसू, तात, जैसी तेरी हूँ ।

Son

What lies hid ? The fire of Fate !—
A fury of flame that shall devour
Every rebel against my power.
Less fierce than this by a hundred-fold
Are the lava-streams from your craters rolled,
For it is compacted of those rays
With which your vitals were ablaze
For many million years. I see
You shudder at the memory.

Earth

God sain you and save you from sin and blame !
Since I was cast out by the Sun, my sire,
I dreed my penance and purged my shame
In tears of vapour and torment of fire.
That fire by which I was purified,
Did not, like yours, from malice spring;
For malice it is and senseless pride
That have brought forth this fearful thing.
How will you use it ? Answer me.
Which of your kinsmen are to be
The targets for this fell device ?

Son

Not kinsmen, foes ! They shall be hurled
Like sheep to the shambles, a sacrifice
To grace my conquest of the world.

Earth

How can you call them foes ? They too
Have life from me, no less than you.

पृथिवीपुत्र

तू तो उनकी भी प्रसू, हिंसक जो मेरे हैं !
जिस दिन जन्म हुआ मेरा, उसी दिन से
मेरे मारने को मुँह खोले खड़े आज भी।
मेरी बुद्धि ने ही मुझे उनसे बचा लिया ;
पत्थर ही मार उन्हें मैंने निज रक्षा की।
अग्नि को सहायक बनाया फिर अपना ;
लोहे के कृपाण और बाण तो थे पीछे के ;
आज मेरे कुत्ते बने व्याघ्र उस काल के ;
मेरे एक अंकुश के वश में द्विरद है।
मैंने ही निकाल विष भीषण भुजंगों का
सिद्धरस-योग बना डाला बहु रोगों का।

और—

माताभूमि

मानती हूँ, बड़ा धूर्त था तू सबमें
किंतु वे सरीसृप वा पशु ही हैं, उनमें
ज्ञान का अभाव है, तू वैज्ञानिक जीव है।
मारता है फिर भी मनुष्य तू मनुष्यों को !

पृथिवीपुत्र

अंब, वे मनुष्य हैं वा बर्बर हैं, वन्य हैं ?

Son

They have life from you, yet it is they
Who injure me in every way.
Since the day that you gave me birth
These other children of the earth
Have lain in wait to overpower me,
With tooth and claw to rend and devour me.
I have saved myself by my sapience;
First, I flung stones in self-defence;
Alliance then with fire I made
And fashioned of iron dart and blade;
The fiercest beasts of prey became
My hounds and answered to their name;
The tusk'd Behemoth I bestrode,
Making him docile to my goad;
In poison fangs I found a store
Of healing medicines, and—

Earth

No more !

You have surely shown yourself to be
The subtlest of my progeny !
But these that you boast to have destroyed,
Or tamed and to your service bound,
Are creatures that crawl upon the ground
Or beasts of the field, of reason void.
You that have reason, how can you plan,
A man, to slay your fellow man ?

Son

Can you call them men, those savages,—
Wild men of the woods ?

माताभूमि

एक दिन तू भी उनसे भी बड़ा वन्य था ;
आकृति तो पलटी है, प्रकृति वही रही
तेरी ।

पृथिवीपुत्र

अंब, मेरी और उनकी क्या तुलना ?
योग्यतम का ही आधिपत्य सदा योग्य है ।

माताभूमि

उनमें भी ऐसे योग्य क्या हो नहीं सकते ,
तेरा यह आविष्कार अणु-सा उड़ा दें जो ?
दूसरों को बार बार वन्य कहता है तू ,
देखे नहीं आरण्यक तूने, यदि देखता ,
भूल जाता दंभ निज नागरिकता का तू ।
किंतु मैंने देखे हैं, इसीसे कहती हूँ मैं ,
देखते थे सबमें वे अपने ही आपको ।
लोभ न था उनको किसी के धन-धाम का ;
भोग में नहीं, वे त्याग में ही तुष्टि मानते ।
किंतु दीखती है आज बाहर से अर्थ की ,
भीतर से काम की ही मुख्यता मनुज में ।
धर्म और मोक्ष दो विनोद उन दोनों के !

Earth

Yon were once as wild,
Ay, wilder than the worst of these.
And still a savage you are, my child.
All that is changed is the outer frame;
Your inner nature is the same.

Son

What comparison can there be
Between barbarians and me?
I am far the abler, and thereby
Can rightly claim supremacy.

Earth

Yes, you are able, it is true,
But others may be able too,—
Able to shatter and atomize
The invention that you value most.
That you have culture is your boast,
And these your kinsmen you despise
As men of the woods, but, had you seen
The forest dwellers of olden time,
As I beheld them in my prime,
Abandoned would that boast have been.
They lived not for themselves but others:
They thought of all men as their brothers:
They sought not power or wealth: in giving
They found delight, not in receiving.
You differ from them in thought and deed:
The human aims that now are rife
Are the lust of the flesh and the pride of life;
The higher aims of an earler creed,
Piety here and bliss hereafter,
Are themes today for scornful laughter.

पृथिवीपुत्र

तो क्या कहती है फिर पीछे लौटने को तू ?

माताभूमि

ऐसा करना न तेरे हाथ है न मेरे ही ;
खेत भला किंतु बिना नींव के निकेत से ।

पृथिवीपुत्र

जैसे सही, मान गई भित्ति से भवन तू ;
मेरा इसी भाँति हुआ क्रमिक विकास है ।

माताभूमि

विकसित ईशु से भी दो सहस्र वर्ष तू
आगे !

पृथिवीपुत्र

हाँ, जुडास से सहस्रों गुना सभ्य मैं ।

माताभूमि

मैं तो देखती हूँ, लाख-लाख गुना तुझमें
विकसित गृध्र वही, साधनों के साथ है !

पृथिवीपुत्र

अंब, कुछ कह तू, परंतु एक सबका
शासक हूँ मैं ही, तुझे शीघ्र दिखा दूँगा मैं ।

Son

Would you have me go back and begin anew ?

Earth

That neither you nor I can do.
Yet better to couch on the bare ground
Than, where foundations are unsound,
In a high-storeyd house to dwell.

Son

Houses of clay, as you know well,
Are built up slowly, wall by wall;
My uplift, too, has been gradual.

Earth

Sure, twenty centuries since Christ
For uplift should have well sufficed !

Son

They have sufficed, for am I not
More civilized than Iscariot
A thousand Times ?

Earth

And to what good,
If, with the progress I behold in you,
The Judas vulture-thirst for blood
Is multiplied a million-fold in you ?

Son

Say what you will, you soon shall see
That I am the whole world's lord and master.

माताभूमि

पर मैं करूँगी गर्व कैसे उस जय का ?
एक केतु पूँछ फटकार कर नभ में
किसको डराता नहीं अपने उदय से ?

पृथिवीपुत्र

युद्ध से ही युद्ध को समाप्त कर दूँगा मैं।

माताभूमि

एक के अनंतर अपेक्षा एक युद्ध की ;
देखती मैं आ रही हूँ, ज्ञात नहीं कब से।
एक सदुद्देश्य कहके ही सब जूझे हैं ;
किंतु एक इति में जुड़ा है अथ दूसरा !
शासक का नाम रख त्रासक ही होगा तू ;
भय से जो बाध्य होंगे साध्य होंगे क्या कभी ?
अनुगत होंगे घात करने को पीछे से !
तेरे पहले भी हुए कितने विजेता हैं ;
किंतु जनता ने उन्हें नेता कहाँ माना है ?

पृथिवीपुत्र

छोडूँगा नहीं मैं कहीं कुत्सित-कदर्य को।

माताभूमि

कुत्सित-कदर्य किसे कहता है, तू भला ?
एक दृष्टिकोण से ही देखा नहीं जाता है।
होता नहीं नष्ट कर देने योग्य मल भी ;
उसका भी सार बना लेने में बड़ाई है,
वृद्धि पावे जिससे हमारी शस्य-संपदा।
कुत्सित-कदर्य स्वयं तू ही न हो पहले ;
इधर उठाता और ढाता है उधर तू।

Earth

Can I glory in such a victory ?
No glory, but terror and disaster,
That star portends which bursts and spreads
Its meteor glare above men's heads.

Son

The war that I wage shall end all war.

Earth

How often have I seen of yore
A new war press on an old war's traces !
And those who wage war still lay claim
To wage it for some righteous aim,
Till some fresh aim the first replaces.
The sceptre that you seize will be
An iron rod of tyranny.
No ruler can lead on the right track
Subjects whom terror must control:
And if they follow, their only goal
Will be to stab him in the back.
Many a conqueror have I seen
Before your day, but none has been
As leader revered by the human race.

Son

I shall leave nothing mean or base
In all my realm.

Earth

But what is due
For extirpation as base and mean
Must still depend on the point of view;
Ordure, though common and unclean,
Is worth preserving when it yields
A richer foison from my fields.
"Base," "mean" are terms I might employ
For you, whose pride is to destroy.

तो भी कहता है, अब बालक नहीं हूँ मैं !
बालक भला था, आज पागल हुआ है तू।
अथवा मैं पागल भी कैसे कहूँ तुझको,
तेरे सब तंत्र आज सीधे षडयंत्र हैं।
नाम कुछ और, हाय काम कुछ और है !

पृथिवीपुत्र

तो क्या चाहती है तू, बता दे यही मुझको।

माताभूमि

तुझको बड़े से बड़ा देखा चाहती हूँ मैं।
मेरे जात सारे जंतुओं में मुख्य तू ही है ;
किंतु छोटा होकर ही कोई बड़ा होता है।
मिथ्या दर्प छोड़ने का साहस हो तुझमें ,
तो व्यक्तित्व अपना समष्टि में मिला दे तू ,
देश, कुल, जाति किंवा वर्ग-भेद भूल के।
जा तू, विश्व-मानव हो, सेवा कर सबकी।
भीति नहीं, प्रीति यथा रीति तेरी नीति हो
उठ, बढ़, ऊँचा चढ़ संग लिए सबको ;
सबके लिये तू और तेरे लिए सब हैं।
नाश में लगी जो बुद्धि, विलसे विकास में ;
गर्व करूँ मैं भी निज पुत्रवती होने का !

You say you are no more a child;
A child you were, but now I see
In all your thoughts and deeds the wild
Derangement of insanity.
I am sad for this, but yet more sad
To think that your schemes,—sheer wickedness,
Beneath a cloak of cleverness,—
Brand you as rather bad than mad.

Son

Tell me, Mother, what is your will?

Earth

To see you greater and greater still.
But of my teeming family
Though you are chief, and occupy
The highest order, you must be
Exalted by humility.
You must have the courage to lay aside
All pretensions of false pride:
Your private will you must enrol
In the militia of the whole:
All distinctions you must efface
Of caste and class, of land and race,
And as citizen of the world must be
The servant of humanity:
Not fear but love, not might but right
Must rule your thoughts and deeds aright.
So rise to your full stature, stride
The unimagined heights to reach
With all creation at your side,
Each for all and all for each.
Those powers of mind that were bent upon
Destruction as their baneful aim
Shall vaunt a worthier victory won,
And I be proud that I can claim
To be the mother of such a son.

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र

संकलन

तथा

संस्मरण-श्रद्धांजलियाँ
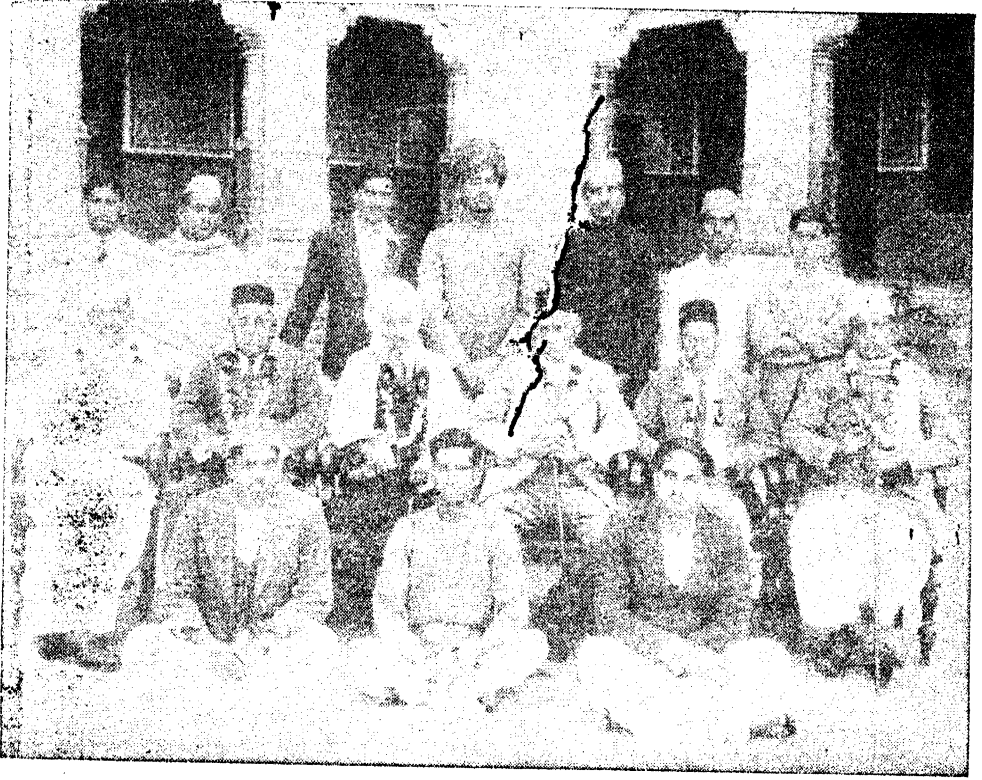
आचार्य मिश्र जब सेंट्रल हिंदू कालेज में प्राध्यापक थे।

बाईं ओर से कुर्सी पर बैठे हुए—श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री रामचंद्र शुक्ल, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री श्यामसुंदरदास (हिंदी विभाग के अध्यक्ष), डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, श्री केशवप्रसाद मिश्र।

अपनी सहज मुद्रा में
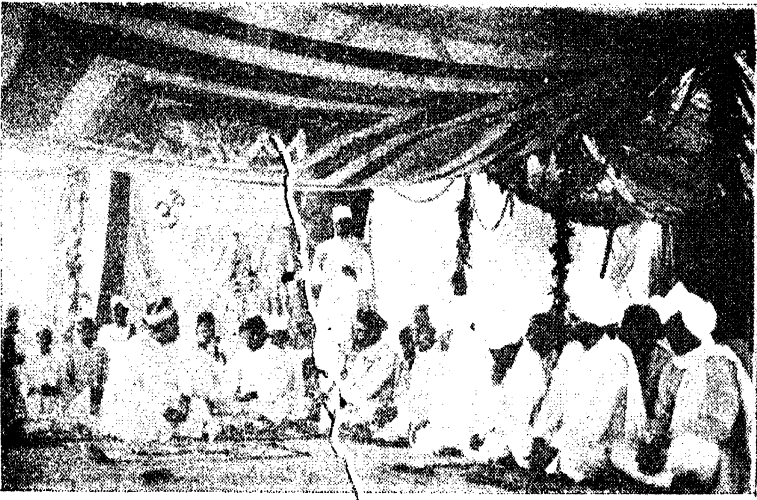
राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की स्वर्णजयंती के अवसर पर आचार्य मिश्र अभिनंदन पढ़ रहे हैं। उनके बाईं ओर गुप्त जी तथा सामने दाहिनी ओर काशी-नरेश महाराज आदित्यनारायण सिंह आसीन हैं।
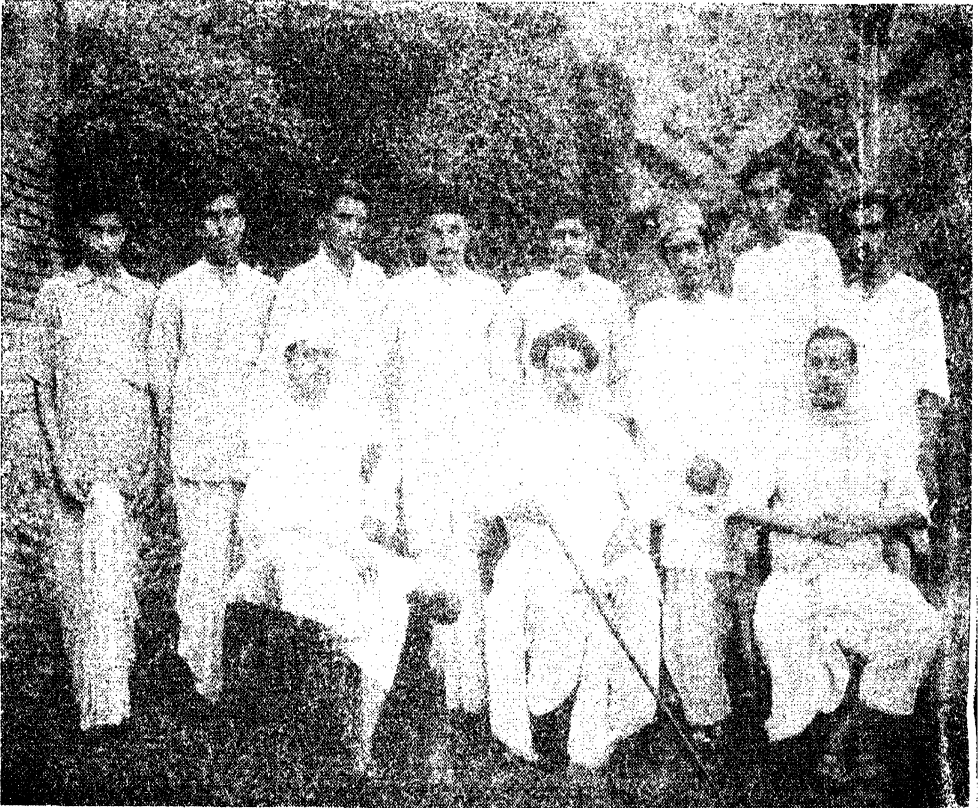
उक्त अवसर पर गुप्तजी के साथ तुलसी-मीमांसा-परिषद् के सदस्यों का चित्र। बाईं ओर से खड़े—श्री रमाशंकर, श्री वृषकेतु उपाध्याय, श्री शिवनारायण लाल, श्री मधुसूदनप्रसाद मिश्र 'मधुर', श्री कृष्णानंद, श्री पद्मनारायण आचार्य, श्री कमलाकर अवस्थी 'अशोक', श्री अभयप्रसाद उपाध्याय। कुर्सी पर बैठे हुए—श्री रायकृष्णदास, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री केशवप्रसाद मिश्र (परिषद् के अध्यक्ष)।

संकलन

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की कुछ रचनाएँ नमूने के रूप में यहाँ उद्धृत हैं, जो अपनी अल्प मात्रा में भी यह ज्ञापित करने में पूर्णतया समर्थ हैं कि संस्कृत, हिंदी एवं अंग्रेजी तीनों भाषाओं में उनके सरस भावों तथा गंभीर विचारों को व्यक्त करने में उनकी लेखनी कितनी शक्त और सफल रही। संस्कृत तथा हिंदी के पद्य केवल उनका इन दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार ही नहीं प्रकट करते, अपितु उनकी विशिष्ट काव्य-प्रतिभा एवं सहृदयता का भी पूर्ण परिचय देते हैं। 'उच्चारण' तथा '१'—केवल ये दो निबंध भी लेखक को उच्च कोटि का निबंध-लेखक होने का यश प्रदान करते हैं। 'स्वागत-भाषण' स्वागत-भाषण होने पर भी अत्यल्प शब्दों में हिंदी काव्यधारा के प्रति उनकी ठोस और संतुलित आलोचना-दृष्टि का परिचायक है। इसके बाद के दोनों लेख उनकी प्रसन्न-गंभीर विचारधारा तथा उनकी तीव्र किंतु संयत एवं आकर्षक तर्कशक्ति के स्पष्ट द्योतक हैं।

आशंसा

कियच्चिरं भारति! भारतं तव प्रसादमासादयितुं प्रतीक्षताम्।
पुना रसज्ञासु निषिच्यतां सुधा यया बुधाः स्युर्विविधाऽबुधा अपि ॥ १ ॥
भवन्तु वल्मीकभवा भवान्तरे गिरश्च कल्याणकरीः किरन्तु ते।
यथा शरै रामधनुर्विनिर्गतैः शिरांसि भूमौ विलुठन्तु रक्षसाम् ॥ २ ॥
पुनश्च पुत्राः पितृशासने स्थितास्तृणाय मत्वा निजसौख्यसंपदः।
जिगीषया यान्तु विदेशमम्भसां निधिं च मथ्नन्तु बलैर्महोर्जितैः ॥ ३ ॥
पुनः शबर्यस्तु जनेन मानिता लभेत गृध्रोऽपि निवापसत्क्रियाम्।
न ना निषादोऽपि विषादमुद्वहेत्तिरस्कृतः किन्तु पुरस्कृतो भवेत् ॥ ४ ॥
भवन्तु मित्राणि न केवलं नराः स्ववानरा अप्यनुकूलचारिणः।
यथा जयः स्यात् सकले महीतले पुनः पुनर्भारतभूमिजन्मनाम् ॥ ५ ॥
सहस्रशः सन्तु विशालबुद्धयो विवेकिनः सत्यवतीसुताः पुनः।
यदीयवाग्वीर्यनवीकृता जना भवन्तु सर्वे दृढकर्मयोगिनः ॥ ६ ॥
पुनः कलं कूजतु कालिदासवाग् वदावदानानि च बाणवाणि! नः।
दलन्तु भूयो भवभूतिभाषितानुभावभूम्ना हृदयानि भूभृताम् ॥ ७ ॥
पुनर्गृहं स्वर्गसमानतां व्रजेत् प्रवर्धतां बन्धुषु हार्दमच्छलम्।
समादरः स्यादुचितः कुलस्त्रिया विनाशमभ्येतु कलेर्विडम्बनम् ॥ ८ ॥

न मानभङ्गः पुरुषस्य जातुचिन्न धर्षणं स्यान्महिलाकुलस्य नः।
न कोऽपि निक्षेप्तुमलं बलाधिकः प्रसह्य संरोषकषायितां दृशम् ॥ ९ ॥
भवन्तु भूयो वृषभा धुरन्धराः प्रमोदमेदस्वि च दोग्धृ धैनुकम्।
निकामवृष्टिः फलिना कृषिस्तथा समृध्यतात्सत्फलभोगयोग्यता ॥१०॥
न धर्मभीरुत्वमपेतसाहसं विवेकविश्रान्तमर्मीप्सितं भवेत्।
जनाः पुनर्धर्मविधानकोविदा भजन्तु लोकद्वयसिद्धिहेतुताम् ॥११॥
तपस्विता तिष्ठतु सिद्धिकामुके सुशिष्यवर्गे विनयादिभूषिता।
यथा विहायानुकृतिं परस्य स प्रवर्त्तयेदुन्नतिनूत्नपद्धतिम् ॥१२॥
स्वयं प्रदुग्धां गुरुमण्डली धियं स्वशिष्यवत्सोत्सुकतामुपागता।
न बुद्धिपण्या वणिजो भवन्तु ते न चेतरो वृत्तिमिमां कदर्थयेत् ॥१३॥
अधीत्य विद्यामिह शिक्षिता जनाः समस्तबुद्धीन्द्रियकर्मपेशलाः।
स्ववृत्तिमुत्सृज्य नितान्तगर्हितां स्ववृत्तिमालम्ब्य विहर्त्तुमीशताम् ॥१४॥
परोपकारैकपरायणाः परात्परे निमग्नाश्च भवन्तु लिङ्गिनः।
न पूपसेयात्रपयस्यभक्षणात् पिचण्डिला दारधनापहारकाः ॥१५॥
मधु क्षरन्त्यः प्रवहन्तु सिन्धवः प्रजायतां नो मधुमान् वनस्पतिः।
पुरेव भूयान्मधुमच्च पार्थिवं रजः परानन्दरसज्ञताऽस्तु नः ॥१६॥

(संस्कृतसौरभम्, ई० १९३२)

शुभाशंसा

वाच्यवाचकविशेषपेशलो लक्ष्यलक्षकविचारपारगः।
व्यंग्यबोधनविधुर्निधीयतामब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ १ ॥
श्यामसुन्दरविभूतिभूषितो राकचन्द्ररचितालिमालिकः।
किं नदीनपदलाञ्छनो भवेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ २ ॥
मातृवाक्प्रणयिधीरनीरदैर्यत्समृद्धिमुपजीव्य दीव्यते।
प्रत्नूत्ननिजरत्नदः स्फुरेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ ३ ॥
मातृमन्दिरकपाटकुञ्चिकापुञ्जरक्षणविशालपेटकः ।
सद्विनेयकुलपुत्रगो लसेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ ४ ॥
चञ्चलामपि विवेकमन्थरामिन्दिरामतिशयानमुज्ज्वलम्।
बुद्धिरत्नमुपढौकयञ्जयेदब्दलक्षमिह शब्दसागरः ॥ ५ ॥

(कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, ना० प्र० सभा, सं० १९८५)

मेघदूत

मंद मंद अनुकूल पवन यह तुझको सीधे बहा रहा,
तेरा सगा पपीहा बाएँ पिहक रहा चहचहा रहा।
तो अवश्य प्रियदर्शन ! तेरा नभ में बहुत करेंगी मान,
पाँत बाँधकर उड़ीं बगलियाँ गर्भाधान समय को जान ॥ ९ ॥

दिन गिन-गिनकर धीरज धरती पतिव्रता भावज तेरी,
जीती ही दिखलाई देगी जो-म, लगी तुझको देरी।
कुसुम-समान हृदय रमणी का जो वियोग में कुम्हलाता,
आशा-रूप-वृंत के कारण गिरते गिरते रुक जाता ॥१०॥

छत्रक उपजाकर धरती को शस्यशालिनी जो करता,
श्रुतिसुख सुन वह तेरा गर्जन जब हंसों का मन भरता।
कमलनाल के मृदुल दलों का संबल तब वे ले-लेकर,
मानसगामी नभ में होंगे हरगिरि तक तेरे सहचर ॥११॥

जिसके ऊपर रघुनायक के वंदनीय चरणों की छाप,
उस प्रियबंधु तुंग गिरिवर से मिलकर बिदा माँग तू आप।
समय समय पर ही तुझको पा जो चिर-विरह-जन्य तत्काल,
उष्ण बाष्पमोचन कर-करके कहता व्यथित हृदय का हाल ॥१२॥

प्रिय पयोद प्रस्थान योग्य पथ बतला दूँ पहले तुझको,
(श्रवण-योग्य संदेश कहूँगा फिर जो कहना है मुझको।)
उस पथ में थकने पर करना गिरिवर-शिखरों पर विश्राम,
और क्षीण होने पर पीना सरिता-सलिल सरस गुणधाम ॥१३॥

'कहीं वायु गिरि-शिखर उड़ाए तो यह नहीं लिए जाता ?'
यों तू चकित मुग्ध सिद्धों की बधुओं से देखा जाता।
पथ में दिङ्नागों की भीषण सूँड़ों का हरते अभिमान,
सरस-निचुलवाले इस थल से उत्तर को करना प्रस्थान ॥१४॥

बाँबी के ऊपर से सम्मुख देख निकलता आता है,
रत्नों के द्युति-मंडल सा यह इंद्रधनुष छवि पाता है।
इससे रुचिर साँवली सूरत वह तेरी मन भाएगी,
मोरपंखधर गोपवेशकर हरि की याद दिलाएगी ॥१५॥

जलद ! गाँव की बारी भोरी तुझे जान कृषि का आधार,
नेह भरी भोली चितवन से देख करेंगी तेरा प्यार।
नए जुते खेतों से सोंधी माल-भूमि पर घेरा डाल,
चटपट उत्तर को चल देना वहाँ बिताकर थोड़ा काल ॥१६॥

("मेघदूत", भारत-कला-भवन, काशी, सं० १९९२)

मधुमती भूमिका

मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक-संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता, इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपरप्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता रहता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेदबुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूर्खता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से सह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्विक-शील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदार-चित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुंब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्रचित्त व्यक्ति अपने पराए का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिये दुःख पाते हैं, क्योंकि "भूमा वै सुखं नाऽल्पे सुखमस्ति"।

जब तक सांसारिक वस्तुओं का अपरप्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनंदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परंतु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे

केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्ताचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।

योगी अपनी साधना से इस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती भूमिका को स्पर्श करता है तब समस्त वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार उसके लिये स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। पातंजल सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास कैसे सुंदर शब्दों में इसका वर्णन करते हैं—

मधुमतीं भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते; वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

अर्थात्—मधुमती भूमिका का साक्षात् करते ही साधक की शुद्ध सात्विकता देखकर देवता अपने अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं—इधर आइए, यहाँ रमिए, इस भोग के लिये लोग तरसा करते हैं, देखिए कैसी सुंदरी कन्या है, यह रसायन बुढ़ापा और मौत दोनों को दबाता है। यह आकाशयान, ये कल्पवृक्ष, यह पावन मंदाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सराएँ ये दिव्य श्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह वज्र-सा शरीर एक आप ही ने तो अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न इस देवप्रिय अक्षय, अजर, अमरस्थान में।

इसी दिव्य भूमिका में पहुँचकर क्रांतदर्शी वैदिक कवि ने कहा था—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। (ऋ० १।६०।६)

योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है, प्रातिभज्ञान[१]-संपन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः उस भूमिका तक हुआ करती है।

१—Benedetto Croce ने इसी प्रातिभ ज्ञान को Intuitive Knowledge कहा है। इसका वर्णन 'प्रातिभाद्वासर्वम्' ३।३३ तथा 'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्' ३।५४ इन पातंजल सूत्रों पर व्यास के भाष्य और विज्ञानभिक्षु के वार्तिक में देखना चाहिए।

साधक और कवि में अंतर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यही रसास्वाद की अवस्था है, यही रस की 'ब्रह्मास्वादसहोदरता' है।

बड़े ही गूढ़ अभिप्राय से प्रकाशकार ने 'माधुर्यं........द्रुतिकारणं' कहकर मधुमती के पुत्र माधुर्य को चित्तद्रुति का कारण बतलाया है। चित्त की द्रुति अथवा द्रवीभाव है क्या ? चित्त स्वभावतः कठिन होता है। उसकी कठिनता इसी में है कि वह अपने को किसी भाव से आविष्ट नहीं होने देता, किसी भाव के संचार के लिये उसमें अवकाश नहीं मिलता। जब इस प्रकार की कठिनता चली जाय, जब शोक, क्रोध, जुगुप्सा आदि से उत्पन्न दीप्ति (तमतमाहट) मिट जाय, जब विस्मय, हास, भय आदि से उत्पन्न विक्षेप भी न रहे, उस समय आवरण हटाकर रति आदि भावों के आकार में भासमान आंतरिक आनंद-ज्योति के जग उठने पर जो सहृदय पुरुष के हृदय की आर्द्रता होती है, जो अश्रुप्रवाह या पुलकावली का संचार हो उठता है वही तो चित्त की द्रुति है। यह भी रसानुभूति की ही अवस्था है। माधुर्य से इसका संबंध बतलाकर मम्मट ने मधुमती की ओर ही संकेत किया है, पर खुले शब्दों में नहीं।

संस्कृत साहित्य में मुझे ऐसे दो उदाहरण मिले हैं जहाँ अपरप्रत्यक्ष की अवस्था में भी रससंचार का वर्णन है। एक तो साक्षात् क्रौंचवध देखने से महर्षि वाल्मीकि के चित्त में लौकिक संकोचक शोक न उत्पन्न होकर उस अलौकिक विकासक शोक का उत्पन्न होना जिसके आवेश में उनका प्रातिभ ज्ञान जाग उठा और उन्होंने—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं अगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इस छंदोमयी दैवी वाणी का आकस्मिक उच्चारण कर डाला। इस वाग्ब्रह्म के प्रबोध का वर्णन कालिदास, भवभूति तथा आनंदवर्धन ने "श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः" आदि कहकर ऐसे ढंग से किया है कि वह शोक महर्षि के परप्रत्यक्ष का विषय ही जान पड़ता है। दूसरा सीता-परित्याग के पश्चात् पुनः पंचवटी में स्वयं

गए हुए रामचंद्र में, संगमकालीन दृश्यों का अपरप्रत्यक्ष होने पर भी, लौकिक शोक न होकर उस करुण रस का संचार होना जिसका निर्देश भवभूति ने—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

कहकर स्पष्ट ही कर दिया है।

इन उदाहरणों में भी परप्रत्यक्ष की अवस्था माननी चाहिए। महर्षि वाल्मीकि और भगवान् रामचंद्र दोनों ही ऐसे व्यक्ति थे जो परम सात्विक कहे जा सकते हैं। उनकी चित्तवृत्ति एक प्रकार से सदा ही मधुमती भूमिका में रमी रहती होगी। अतः उनका शोक आत्म-संबंधी या पर-संबंधी परिच्छिन्न शोक नहीं है जिससे कि वह दुःखात्मक हो, अपितु वह व्यक्ति-संबंध-शून्य अपरिच्छिन्न शोक था जो स्थायी भाव होकर रस के रूप परिणत हो सका।

कवि के समान हृदयालु वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बंधुत्व के बंधन से बँधा है। वही मेघदूत के पर्वतों को मधुमान् और नदियों को 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' के रूप में देख सकता है।

(वही, भूमिका)

स्वागत भाषण

[नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में हुए अखिल-भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अट्ठाईसवें अधिवेशन (सं० १९९९) के कविसम्मेलन में सम्मिलित कविवरों की सभाजना]

हे भारती के संभावित सुपुत्ररत्न
हे मूक हृदयों के वावदूक प्रतिनिधि
हे विश्वस्रष्टा के समानधर्मा कविगण !

मैं आपलोगों का समस्त आतिथेयवृंद की ओर से सबहुमान स्वागत करता हूँ। वंदना करता हूँ। सिर आँखों पर लेता हूँ।

सहस्रों वर्ष पूर्व इसी भारतवर्ष के क्रांतदर्शी—ज्ञानसाधनों की पहुँच के बाहर की प्रत्येक वस्तु का प्रातिभ साक्षात्कार करनेवाले—कवियों ने जिन ज्योतिर्मय भावों के प्रथम दर्शन किए थे, उन्हीं भावों की अमर अंतरात्मा किसी न किसी भूमिका में किसी न किसी कलेवर में आज तक अपनी झलक से हमारी अंतर्दृष्टि की पलक खोलकर अपनी आनंदरूपता का आभास इस प्रकार देती चली आ रही है जिससे हमारा जीवनरस शुष्क और पर्युषित न होकर अब तक आर्द्र और प्रत्यग्र

बना है। यह बड़े सौभाग्य की बात है। समय समय पर उस अंतरात्मा का चोला अवश्य बदलता रहा है पर उसकी अच्छेद्यता और अदाह्यता, अशोष्यता और अचल सनातनता सदा वर्तमान रही है और जब तक भारतीय परिसर को गंगा यमुना की पावन धारा आप्लावित करती रहेगी, वह इसी प्रकार वर्तमान रहेगी।

भारत की भारती कभी वशिष्ठ और विश्वामित्र के कंठ से फूटकर सरस्वती में अवगाहन करती हुई विश्वकल्याण का पाठ पढ़ाती, कभी वाल्मीकि और व्यास की रसना पर बैठकर भव्य विभूतियों की भावना जगाती, कभी कालिदास और भवभूति की वाचा को सांस्कृतिक सुधाबिंदुओं से सींचकर उज्ज्वल सौंदर्य की स्फूर्ति देती हुई भावुकों के हृदय आप्यायित करती, कभी सूर और तुलसी की साधना से सिद्ध-रसायन बनकर निराश तथा संतप्त हृदयों को आश्वासित और शीतल करती अपनी अविनश्वर सत्ता का साक्ष्य देती रही है।

ब्रजरज में लिपटी उत्तरमध्यकालीन कवियों की वाणी उस अखंड परंपरा से विच्युत होती हुई नितांत संकीर्ण और आविल होकर आत्मविस्मृति के गर्भ में गिर गई—ऐसा समझना भारतीय भावनाओं के आविर्भाव-तिरोभाव को न समझना है। भारत की व्यापक दृष्टि कभी अनेकों में एक को देखती और कभी एक में अनेकों की झाँकी लेती—

'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'।

उन कवियों की श्यामरंग होकर श्यामरंग में समाई दृष्टि को यदि पिछली दृष्टि कहें तो क्या हानि? हाँ, उनको तो कवि कहना भी ठीक नहीं, जो उस त्रिलोकसुंदर की ओट में विलासिता का नग्न नृत्य दिखाकर भारतीय भावना को पंकिल करते हैं।

आधुनिक कविगण, जिनकी रचना छायावाद, रहस्यवाद या अव्यक्तवाद के के नाम से निर्दिष्ट होती है, ऐसे ही हैं जो अनेकों में एक की भावना रखते हैं। उन्हीं को 'लुक छिप कर चलनेवाले लाज भरे सौंदर्य' की सर्वत्र झलक मिलती है, उन्हीं की 'करुणार्द्र कथा चातक की चकित पुकारों' में सुन पड़ती है और वे ही सभी से 'मौन निमंत्रण' पाते और 'अरुण कोरों में उषा विलास' देखते हैं। कभी वे 'नीरभरी दुख की बदली' से तादात्म्य स्थापित करते हैं तो कभी 'बादल में आए जीवनधन' से मिल बैठते हैं।

कुछ कवि ऐसे हैं जो सच्चिदानंद की व्यक्त सत्ता को व्यक्त पदावली में, कुछ व्यक्त सत्ता को अव्यक्त पदावली में, कुछ अव्यक्त सत्ता को व्यक्त पदावली में और कुछ अव्यक्त सत्ता को अव्यक्त पदावली में व्यक्त करते हैं।

मैं इनमें से आदिम दो को व्यक्तवादी और अंतिम दो को अव्यक्तवादी या रहस्यवादी समझता हूँ। इनके कला-सौष्ठव का तारतम्य अपने-अपने वर्ग की क्रम-संख्या के अनुसार समझना चाहिए।

उस परम कवि की अघटित-घटना-पटीयसी प्रभुता का यह प्रेयस्कर प्रभाव है जो आज प्रायः सभी प्रकार के कविवरेण्य इस सम्मेलन की शोभा बढ़ाकर हमें अपने वाक्सुधा-सागर में डुबकी लगाने और अपने कर्म के अनुसार मुक्ताफल या जलशुक्ति पाने का अवसर प्रदान कर रहे हैं।

कहा जाता है कि आजकल कविता का स्रोत व्यथित जनता की व्यथा-कथा से विमुख होकर ऐसे वितथ पथ पर चल रहा है जो न दीन से संबद्ध है न दुनिया से। [illegible]त्री की तान पर नीरव गान गाने से न किसी के प्रति किसी की अनुकंपा जागती है और न कोई किसी का उपकार करने पर ही उतारू होता है। यह अभियोग आपाततः सत्य प्रतीत होने पर भी वस्तुतः कवित्व की मर्यादा के प्रतिकूल है। कवि ईश्वर के समान सर्वांतर्यामी होकर भी तटस्थ रहता है। प्रज्ञा-प्रासाद पर आरूढ़ होकर वह भूमिष्ठ जीवों के प्रति यथापात्र मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की प्रेरणा करता है। उसकी करुणा का पात्र वर्गविशेष नहीं, किंतु दुःख मात्र है, चाहे वह दुःख सार्वभौम सम्राट् का हो चाहे किसी अकिंचन बुभुक्षित का। ऐसा न कर यदि कवि विषम दृष्टि धारण करे तो उसका ईश्वर-प्रतिनिधित्व चला जाय।

इसके अतिरिक्त आजकल ऐसे भी कवि या पद्यकार बहुत से हो गए हैं जो वर्ग-विशेष या जाति-विशेष का पक्षपात करते हैं। अतः इस परिमित परिचर्या का भार उन्हीं के हाथ में छोड़ दिया जाय तो बहुत अच्छा।

अंत में मैं पुनः आपलोगों का स्वागत करता हूँ और इस बात पर अपनी असमर्थता प्रकट करते आंतरिक वेदना का अनुभव करता हूँ कि मैं राजा न हुआ, नहीं तो आपको पट्टबंध से अलंकृत करके ब्रह्मरथ पर बैठाता और आप उसमें जुतता।

आप महानुभावों का विधेय

केशवप्रसाद मिश्र

स्वागताध्यक्ष, कवि-सम्मेलन

१

काले पाख की काली रात को कारा की कालकोठरी में जो जन्म ले उसे कृष्ण न कहें तो क्या शुक्ल कहें ? भले ही वह अपने कर्मों के मान से आगे चलकर चंद्र बन जाय ! "गौर कृष्ण" होकर पुजे !

वाह रे आप की नटखटी! आपने तो दुनिया सिर पर उठा ली है ! बित्ता भर के बित्तन सवा हाथ की दाढ़ी ! नन्हें से तो आप हैं पर सबको परेशान कर रखा है। किसी की मटकी फोड़ी तो किसी का कूँड़ा गिराया ! किसी की नैनी ले भागे तो किसी की छाछ फैला दी ! कभी आप चुपके से बछड़ा छोड़ देते हैं तो कभी धौरी की टाँगों में सिर डालकर बेखटके ऐन चूसने लगते हैं। न डरें किसी डायन से, न सहमें किसी दानवा से ! अच्छा है ! आज खूब सूझेगी। क्या करे माँ बेचारी ! तंग आकर उसने कमर में रस्सी बाँधी है ! दामोदर जी नमस्कार !

धन्य गोपाल धन्य ! भारत के प्राण गोधन की आप न रक्षा करें तो कौन करे ? बन में गाएँ स्वच्छंदता से चर रही हैं। कोई रोक-टोक नहीं ! चाहे झाड़-झंखाड़ के झुरमुट में छुप जायँ चाहे चौड़े धाड़े हरी दूब ही टूँगें। उनका मन ! उनकी मनमानी ! किसी की ताब नहीं कि उनका बाल बाँका करे। साँझ हुई। 'गोसंघ' लेकर घर लौटना है। ग्वाले गाएँ समेट रहे हैं। सब आ गईं ? और तो आईं पर लाली का पता नहीं ? अँधेरा छा रहा है। जंगल में श्वापदों का राज्य होगा ! किसका साहस है कि लाली को ढूँढ़ने जाय ? गोविंद जायँगे गोविंद। धन्य गोविंद !

वाह, आपकी आँखों में कैसा नूर है ! कैसी दिव्य ज्योति है ! कैसा जादू है ! एक बार की चितवन चित्त चुरा लेती है ! माधुर्य और तेज का, सतर्कता और विस्रंभ का, उल्लास और गांभीर्य का, विलोलता और स्थैर्य का, कातरता और पारुष्य का ऐसा योग, ऐसा सहविहार कहाँ देखने में आता है ? पुंडरीकाक्ष के माने भी तो यही हैं।

शरत्काल की धवल राका खिली है, समस्त सृष्टि में *उन्मदिष्णुता* जाग उठी है। हिमांशु के निरावरण करों का स्पर्श पाकर प्रकृति पुलकित हो रही है। रूपवती गोपिकाओं का उद्दाम यौवन केलिलालसा से निर्मर्याद हो रहा है। उस वंशीधर त्रिलोकसुंदर के संग ही उसे वे चरितार्थ करना चाहती हैं। उधर मदन भी मोहन के मोहन का ऐसा सुअवसर हाथ से निकल जाने देना नहीं चाहता। शीलनिधान गोपियों का यह प्रणयानुरोध स्वीकार करते हैं। रास रचा जाता है। नटवर खुल

खेलने के लिये तैयार खड़े हैं। गलबहियाँ पड़ जाती हैं। पैर थिरकने लगते हैं। लालसा तृप्त होती है। रात बीत जाती है। हे अच्युत! आप गोपीमोहन तो हैं ही, मदनमोहन भी हैं।

जन, जनन-मरण का खिलौना जन, कर क्या सकता है? साधारण से साधारण संकट ही में उसके हाथ-पैर फूल जाते हैं। इस मांसपुद्गल में कैसा सत्त्व और क्या सार! इसकी सब कामनाएँ, सारे मनोरथ, समस्त उत्साह और संपूर्ण साहस जहाँ के तहाँ रह जायँ यदि आप इसके अर्दन[1] न हों; समय समय पर इसे हाँका न करें। वस्तुतः जन की बागडोर जनार्दन के हाथ है।

गोपेश्वर! आपने सदा गाएँ ही दुहीं। धौरी, काली, भूरी, लाली, सभी का स्वच्छ कुमुदवर्ण क्षीर एक रूप! एक रस! एक सत्त्व! जब चाहा जिसको पिलाया। आज या तो गाएँ ठाँठ हो गई हैं या दूध का रंग बदल गया है। अंधी जनता आश्चर्य करती समझती है कि मेरी काली गाय सफेद दूध कहाँ से देगी? हे गोपाल-नंदन! अब आप कब सब गाएँ दुहकर समझदार लोगों को एक सा अमृत दूध पिलाएँगे।

दुनिया दुरंगी है। समस्त विश्व द्वंद्व की प्रचंड थपेड़ से व्यथित हो रहा है। कोई ऐसा मार्ग नहीं जिसपर सब-के-सब सुख-शांति से चलकर मनुष्यता देवी को विकसित होने का पूरा-पूरा अवकाश दे सकें। किसी से कुछ जोग-जुगुत पूछना चाहिए। कौन है जो इन प्रबल विरोधियों के उच्छृंखल वेगों का योग कराकर एक ऐसा समंजस ऊर्ज उत्पन्न करे जिससे विश्वजनीन कल्याण संपन्न हो? यों तो नेता सभी हैं, पर कर्मकुशल *योगेश्वर* कृष्ण के सिवा इस योग की साधना कोई नहीं कर सकता।

धर्मराज की राजसूय-सभा बैठी है। बड़े बड़े पुरुष, सुपुरुष, अतिपुरुष और पुरुषाभास भी विराजमान हैं। प्रथमपूज्यता का प्रश्न उपस्थित है। निर्णय विवाद-ग्रस्त हो रहा है। आजन्म ब्रह्मचारी सकल-शास्त्र-निष्णात परम आप्त कुरुप्रवीर भीष्म पितामह निर्णय देते हैं—"चक्रपाणि कृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं, इन्हीं की प्रथम पूजा होनी चाहिए।"

'केशव कहि न जाय का कहिए।'

("गीताधर्म", अधिक भाद्रपद १९९४)

१—तुल० Urge.

उच्चारण

यदि मनुष्य में विवक्षित शब्दों के उच्चारण की शक्ति न होती तो वह निरा पशु ही रहता। न उसका ज्ञान ही बढ़ता और न उसकी मनुष्यता ही किसी काम की होती। न कोई भाषा रहती न कोई साहित्य। न छंदों का अवतार होता न गानविद्या की सृष्टि। सभी की "अंतर्गुडगुडायते बहिर्न निःसरति" वाली दशा हो जाती। संकेतों और इंगितों से, अक्षिनिकोच अथवा पाणिविहार[1] से, कुछ साधारण प्राकृत भाव भले ही व्यक्त कर लिए जाते, पर प्रतिभा में प्रतिबिंबित, हृदय में जागरित असाधारण भाव जहाँ के तहाँ विलीन हो जाते। विधाता की सारी कारीगरी मिट्टी हो जाती। अतः अभिलपनशक्ति को ईश्वर-दत्त एक वर समझना चाहिए।

सबका उच्चारण एक सा नहीं होता। बोली भी एक सी नहीं होती। उसके देशाश्रित, जात्याश्रित भेद तो होते ही हैं, ग्रामाश्रित और व्यक्त्याश्रित भेद भी होते हैं। सब अवधवासियों की बोली अवधी है सही, पर वहाँ के ठाकुरों की बोली में जो ठसक होगी उसका उनके परिजनों की बोली में सर्वथा अभाव पाया जायगा। किसी के आने पर अयोध्या प्रांत का निवासी जहाँ "के हैं ?" पूछेगा, वहाँ हमारे बैसवाड़ी भाई गरजकर बोलेंगे—"को आय ?" हमारे देखते देखते 'वाजपेयी जी' को मजूरों ने 'बाँस बेइल महराज' बना डाला। संस्कृत *नवक* बहुत दिनों तक तो *नोखा* था और 'नोखे की नाइन बाँस की नहरन' में अब तक दिखाई पड़ जाता है; पर आजकल उसने 'अ' की अगाड़ी लगाकर *अनोखा* रूप रचा है। भोजपुरी के '*एहिजाँ चहुँपलीं*' और पंजाबी के 'त्वाडा *मतबल* की ?' पर चाहे कोई छिछोड़ हँसोड़ खीसें काढ़े, किंतु *हिंस* ने हजारों वर्ष से *सिंह* बनकर जो अपनी करतूत छिपाने की चेष्टा की है उसे कौन रोक सकता है ! जिसे कानों से सुनने और आँखों से देखने की प्रार्थना हम देवों से किया करते थे[2], उस *भद्र* के दो बेटे हुए, एक *भला* और दूसरा *भद्दा*। बेचारे बुद्धू के सत्तू को फत्तू कहने पर सब हँसते हैं; पर

१—अंतरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यंते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च। महाभाष्य—२।१।१। अर्थात् आँख मटकाने और हाथ हिलाने से, बिना शब्दप्रयोग के ही, बहुत से भाव प्रकट किए जा सकते हैं।

२—भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः...यजुर्वेद २५।२१

सारा जापान फ़िफ्टी (Fifty) को सिफ्टी कहता है तो कोई नहीं हँसता। *उपाध्याय* घिसते घिसते *झा* रह गए; पर उसी ऋग्वेद के राजा राजा ही बने हैं। अस्तु।

मनुष्यों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों में भी बोली के भेदक कारण अपना काम करते हैं। पहाड़ी मैना सुन-सुनकर टपाटप हमारी बोली बोलने लगती है; पर यहाँ की सिरोही मौत के दिन तक सिवा टें टें करने के और कुछ जानती ही नहीं। हिमालय के कौवों की बोली इतनी टर्री नहीं होती जितनी यहाँवालों की। यहाँ का देशी लाल लाहौरी लाल की शहनाई का सुर भर सकता है, पर स्वयं नहीं बजा सकता। और तो और, एक ही कंपनी के बनाए हार्मोनियमों और एक ही कारीगर के साजे सितारों की बोल भी एक सी नहीं होती।

बोली ही नहीं, सबके पढ़ने का ढंग भी निराला होता है। इसके उदाहरणों की आवश्यकता तो नहीं थी; पर कुतूहलवश आज से हजार वर्ष पहले किस प्रांत के वास्तव्य किस ढंग से पढ़ा करते थे इसका उल्लेख राजशेखर के शब्दों में किया जाता है—

बनारस से पूर्व के मगध आदि संस्कृत तो अच्छा पढ़ लेते हैं; पर प्राकृत उनके मुँह से नहीं निकलती, प्राकृत बोलने में उनकी वाणी कुंठित सी हो जाती है। कहते हैं, सरस्वती एक दिन ब्रह्मदेव से फरियाद करने लगीं—ब्रह्मन्, मैं आपको इत्तला देती हूँ, आप मेरा इस्तीफा ले लीजिए। या तो बंगाली गाथा (प्राकृत कविता) पढ़ना छोड़ दें या कोई दूसरी सरस्वती बनाई जाय?[3] बंगाली ब्राह्मणों का पढ़ना न अतिस्पष्ट होता है न श्लिष्ट। न उसे रूक्ष कह सकते हैं न अतिकोमल। न गंभीर ही न अतितीव्र ही। न गुड़ मीठा न गुड़ तीता। चाहे कोई रस, रीति वा गुण हो कर्णाटक जब पढ़ेंगे तब गर्व से अंत में टंकारा अवश्य देंगे। गद्य, पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो, द्रविड़ कवि गाकर ही पढ़ेगा। संस्कृत के शत्रु लाट (गुजराती) प्राकृत बड़ी लटक से पढ़ते हैं क्योंकि ललित आलाप करते करते उनकी जिह्वा पर सौंदर्य की मुहर सी लगी होती है। सुराष्ट्र (सोरठ—गुजरात काठियावाड़) और त्रवण (पश्चिमी राजपुताना) आदि के लोग बहुत ही अच्छी तरह संस्कृत में भी अपभ्रंश का पुट दे देकर पढ़ते हैं। शारदा के प्रसाद से

३—× × × × × × ×। ब्रह्मन् विज्ञपयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया। गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥ × × × ×........—काव्यमीमांसा।

काश्मीरी सुकवि तो होते हैं, पर उनका पढ़ना कानों में गुर्च की पिचकारी देना है। उत्तरापथ के कवि, चाहे कैसे ही सुसंस्कृत क्यों न हों, जब पढ़ेंगे तब नाकी देकर। जिसमें प्रत्येक ध्वनि ठिकाने की होती है, वर्ण स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं, यतियों का विभाग रहता है, वह पांचाल (रुहेलखंड) के कवियों का गुणनिधि तथा सुंदर पाठ कानों में मानो शहद बरसाता है। उसका कहना ही क्या! लकारों की लड़ी और रेफों की फर्राहट के साथ ऐंठ-ऐंठकर बोलना शोहदों का अच्छा लगता है, भव्य काव्यज्ञों का नहीं।[४]

इस प्रकार दो बातें विदित होती हैं। एक यह कि कंठ तालु आदि उच्चारण-स्थानों की समानता होते हुए भी सबके उच्चारण अथवा पाठक्रम एक से नहीं होते और दूसरी यह कि भाषा में परिवर्त्तन उत्पन्न करनेवाला सबसे बड़ा कारण यही अशक्ति अथवा प्रमाद-जन्य उच्चारण है।

इस देश में उच्चारण को व्यवस्थित रखने का उद्योग बहुत दिनों से होता आया है। वेद के छः अंगों में शिक्षा प्रधान अंग है। पाणिनि आदि मुनियों ने उच्चारण विषयक अपने अपने अनुभवों की पृथक् पृथक् शिक्षा दी है। शिक्षा वेद की नाक है।[५] उच्चारण ठीक नहीं हुआ तो समझना चाहिए कि वेद की नाक कट गई।

एक दिन पाणिनि भगवान् अपने आश्रम में विराजमान थे। उनके आस-पास सभी जीव-जंतु सहज वैर भूलकर सुख से विचरते थे। अकस्मात् उनकी दृष्टि एक शेरनी पर पड़ी। वह अपनी दाढ़ों में पकड़कर अपना बच्चा ले जा रही थी। बच्चा खूब प्रसन्न था। न वह गिरता था और न उसे दाँत ही चुभते थे। ऋषि निरीक्षण कर रहे थे, बोल उठे—वाह! क्या सफाई से बच्चे को उठाया है! क्या ही अच्छा हो यदि उच्चारण करनेवाले भी इसी शेरनी की तरह वर्णों को न तो काट खायँ और न मुँह से बिखर जाने दें।[६]

४—ललल्लकारया जिह्वं जर्जररफाररेफया। गिरा भुजंगाः पूज्यन्ते काव्यभव्यधियो न तु॥
—काव्यमीमांसा, ७

५—शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य × × × ×। पा० शि०, ४२

६—व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्। भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद् वर्णान् प्रयोजयेत्॥ पाणिनिशिक्षा, २५

अनुनासिक या गुन्ना को संस्कृत में रंग भी कहते हैं। स्वर के उच्चारण में रंगत लाने के लिये इसका उपयोग होता है। मुनि ने सूरत की किसी महिला को अपने ढंग से 'तक्रँ' कहते सुना था, अतः अपनी शिक्षा में यह भी लिख गए कि रंग बोलना तो बस सौराष्ट्रिका नारी से सीखना चाहिए।[७]

आजकल जिस प्रकार अँगरेजी के उच्चारण और स्वर-संचार (Accentuation) पर विशेष ध्यान दिया जाता है, वेदपाठ में उससे किसी प्रकार कम ध्यान नहीं दिया जाता था। किसी प्रकार का अपपाठ उपेक्षणीय नहीं माना जाता था। हजारों वर्ष पहले एक बड़े ब्रह्मज्ञानी थे। धर्म तो मानो उन्हें प्रत्यक्ष था। वे परा और अपरा दोनों विद्याओं के पारगामी विद्वान् थे। कोई ऐसा वेदितव्य विषय नहीं जो उन्हें विदित न हो, कोई ऐसा तत्त्व नहीं जिसकी उपलब्धि उन्हें न हुई हो। किंतु एक बात थी। वे यद्वा नः तद्वा नः के स्थान पर यर्वाणः तर्वाणः बोला करते थे। इस तकिया कलाम के वे ऐसे आदी थे कि लोगों ने उनका नाम यर्वाणः तर्वाणः रख छोड़ा था। बेचारे इसके लिये बदनाम थे।[८] हमारे क्वींस कालेज के परलोकगत प्रोफेसर हरिचरण नर्मा (Prof. H. C. Norman) calculation को विचित्र ढंग से 'कालकुलेशन' कहा करते थे। अतः विद्यार्थिमंडली में वे भी उसी नाम से प्रख्यात थे। उच्चारण में एक अशुद्धि करनेवाले को 'एकान्यिक', दो अशुद्धिवाले को द्व्यन्यिक एवं एकादशान्यिक द्वादशान्यिक आदि कहते थे। पाणिनि ने इस प्रयोग (मुहावरे) के लिये दो सूत्र पृथक् ही रचे हैं।[९] अँगरेजी में स्वर-संचार की भूल केवल वक्ता को हीन और कवि को निष्क्रिय बनाती है, पर प्राचीन काल में यहाँ तो वह प्राणों पर आ पड़ती थी। बेचारा इंद्रशत्रु वृत्र पुरोहित जी की की इसी भूल से निर्मूल हो गया था। हमारी बोली में भी स्वरसंचार का महत्त्व कुछ कम नहीं है। 'चल' कहने पर हमारा मित्र चलने लगता है, पर 'चल' कहते ही उसकी त्योरी बदल जाती है। आज से प्रायः बाईस सौ वर्ष पहले, पतंजलि देव के समय, यदि कोई विद्यार्थी उदात्त का अनुदात्त कर बैठता तो चपत खाता

७—यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते। एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः......॥ वही २६

८—एवं हि श्रूयते—'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञाः विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः।' ते तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते।............—महाभाष्य, प्रथम पस्पशाह्निक।

९—कर्माध्ययने वृत्तम्। अष्टाध्या० ४।४।६३। और बह्वच्पूर्वपदाट्ठञ्। वही, ४।४।६४

था।[१०] हाँ, प्रसंगात् एक बात याद आ गई। काश्मीर के राजा जयापीड के महामंत्री दामोदर गुप्त (सं० ८११-८४२ वि०) ने काशी के तत्कालीन वेदाध्यापकों की एक मीठी चुटकी ली है। उन्होंने लिखा है कि काशी में नूपुरों की ऐसी झंकार होती है कि वेदाध्यापक शिष्यों की अशुद्धियाँ सुन नहीं पाते।[११] चलिए बेचारे विद्यार्थी चपत खाने से बचे!

उच्चारण में अशक्ति और प्रमाद के कारण ही परम पावन वैदिक भाषा बिगड़ते बिगड़ते आज क्या की क्या हो गई! भर्तृहरि ने निर्गुण वक्ताओं को कोसते हुए देववाणी की इस दुर्दशा पर गरम आँसू बहाए हैं।[१२] शल्क का छिलका या छिकला, वल्मीक का बाँबी या बिमौट, मनीषा का मंशा, विद्युत् का बैजा, अविधवात्व का अहिवात, तोक का खोका (बं०), दुर्या (वै०) का डेरा, सपर्य (वै० पूजा करना) का सपरना (बुंदेल० नहाना), पराके (वै० दूर) का फरके (पूर्वी० अलग), प्रष्ठ का बिड़िया और संज्ञा का सान आदि किसने किया? वैदिक भाषा अति प्राचीन है। बहुत से परिवर्तन भुगत चुकी है। उसे छोड़िए। अभी कल की आई अँगरेजी इस प्रकार बदल चली है कि बड़े बड़े विद्वान् मूलान्वेषण में गोते खा जाते हैं। 'लिबड़ी बरताना' लेकर भागे, सब बोलते हैं; पर यह नहीं जानते कि यह लिबड़ी बरताना Livery Baton का बेटा है।

यदि उच्चारण की भ्रष्टता रोकने के उपाय न होते रहें तो कोई भाषा अपनी पूर्ण आयु न भोग सके। बीच ही में लोग उसका अंगभंग कर डालें। जिस भाषा में असवर्ण-संयोग अधिक होगा उसके विकृत होने की अधिक आशंका रहेगी और उसकी विकृति रोकने का प्रयत्न भी अधिक करना पड़ेगा। किसी वर्ण के उच्चारण करने में कितना प्रयत्न करना पड़ता है इसका बोध निरंतर अभ्यास के आवरण में छिपा रहता है। पाणिनि मुनि का मत है कि वर्णोच्चारण के पूर्व अंतःकरण, संस्कार रूप से अपने में वर्तमान अर्थों में से कुछ को अपनी वृत्ति बुद्धि के द्वारा

१०—एवं हि दृश्यते लोके—य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति अन्यत्वं करोषीति। वृद्धिरादैच् १।१।१ का भाष्य।

११—यत्र च रमणीभूषणरवबधिरितसकलदिङ्नभोभागे।
शिष्याणामाचार्यैर्नावद्यं वार्यते पठताम्॥ कुट्टनीमत, ८

१२—पारम्पर्यादपभ्रंशा निर्गुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागताः × × × ×—वाक्यपदीय, १।१५५
दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः × × × × × वही, १५६

किसी प्रासंगिक विषय के अनुकूल बनाकर उन्हें अभिव्यक्त करने की इच्छा मन में उत्पन्न करता है। उस इच्छा को लेकर मन शरीर की अग्नि को छेड़ता है। कायाग्नि भभककर वायु को प्रेरित करती है। ताप से स्फीत होकर वायु मूर्धा की ओर बढ़ती और उससे टकराकर लौटने के समय मुख के कंठ तालु जिह्वामूल आदि स्थानों पर आघात करती है। तब कहीं वर्ण मुँह से बाहर आते हैं।[13] यदि कहीं वे वर्ण भिन्न भिन्न स्थानों से उच्चार्य होने पर संयुक्त हुए तो और आफत है। ऐतरेयारण्यक में वाणी और प्राण का बड़ा घनिष्ठ संबंध बतलाया गया है। लिखा है—अध्ययन तथा भाषण के समय प्राण वाणी में रहता है। वाणी उस समय प्राण को चाटती रहती है। चुप रहने और सोने के समय वाणी प्राण में लीन रहती है। प्राण उस समय वाणी को चाटता रहता है।[14] भला सोचिए तो ऐसे क्लेशसाध्य काम में कौन यथाशक्य सौकर्य न चाहेगा। इसी लिये तो हरिश्चंद्र ने लिखा है—"सिर भारी चीज है इसे तक्लीफ हो तो हो, पर जीभ बिचारी को सताना नहीं अच्छा।"

इस उच्चारण-सौकर्य, मुखसुख अथवा Euphony के आधार पर ही संधि-नियमों की सृष्टि हुई है। भाष्यकार पतंजलि को मुख-सुख का बड़ा ख्याल रहता है। जब किसी वर्ण की सार्थकता प्रकारांतर से नहीं दिखलाते तो यही कह दिया करते हैं कि अमुक वर्ण मुख-सुख के लिये है। मुख-सुख ही के लिये प्रसिद्ध निषेधार्थक In, pure के पहले Im हो जाता है और Cup + board कबर्ड उच्चारित होता है। अँगरेजी व्याकरण में चाहे इसके लिये नियम न हों, पर प्रधानतः वैज्ञानिक तुरी (करघे) में बुने गए हमारे पाणिनि बाबा के सूत्र यहाँ भी आ बँधेंगे।[15]

१३—आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ पा० शि० ६

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णाञ्जनयते × × ×॥ वही, ९। एवं नागेशभट्टकृत उसकी व्याख्या (शब्देन्दुशेखर, संज्ञा प्रकरण)।

१४—तद् यत्रैतदधीते वा भाषते वा वाचि तदा प्राणो भवति। वाक् तदा प्राणं रेलिह। अथ यत्र तूष्णीं वा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा वाग् भवति। प्राणस्तदा वाचं रेलिह। ऐ० आ० ३।१।६।१४

१५—नश्चापदान्तस्य झलि ८।४।२४; अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८; और झलां जशोऽन्ते ८।२।३९

स्वर और व्यंजन के उच्चारण में कितने और कैसे दोष होते हैं उनका विवेचन प्रातिशाख्यों में भली भाँति किया गया है। कुछ स्वर-दोषों का उल्लेख पतंजलि देव ने अपने महाभाष्य के प्रथम पस्पशाह्निक में भी किया है। जैसे—

संवृत, कल (उचित से अधिक मृदु), ध्मात (अधिक श्वास लेने के कारण ह्रस्व भी दीर्घवत् लक्ष्यमाण), एणीकृत (संदिग्ध, जैसे 'ओ है अथवा औ'), अंबूकृत (व्यक्त होने पर भी ऐसा जान पड़े मानो मुँह में ही है), अर्धक (दीर्घ ह्रस्ववत्), ग्रस्त (जिह्वामूल में ही अवरुद्ध), निरस्त (निष्ठुर), प्रगीत (गाया हुआ सा), उपगीत (गाए हुए-से समीपवर्ती वर्ण से अभिभूत), क्ष्विण्ण (काँपता-सा), रोमश (गंभीर), अविलंबित (वर्णांतर मिश्रित), निर्हत (रूक्ष), संदष्ट (बढ़ाया सा), विकीर्ण (वर्णांतर पर फैला हुआ सा)। शौनक ने अपने ऋक् प्रातिशाख्य में वर्णों के स्थान, प्रयत्न, गुण आदि का वर्णन करके उक्त ग्रंथ के चतुर्दश पटल में स्वर और व्यंजन दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। उनमें से प्रत्येक दोष का यहाँ निर्देश कर इस लेख को अधिक एकदेशी बनाना मुझे अभीष्ट नहीं। अतः कुछ ही का उल्लेख कर इस प्रसंग को समाप्त कर देने का विचार है। प्रायः लोग उत्स को उस्त, स्नान को अस्नान, ऋषि को रुषि जैसा, ऐयेः और वैयश्वस्य को अय्येः, वय्यश्वस्य (जैसे 'है' के हिमायती उर्दूवाले वैर को वयर और चौर को चवर), शुनःशेप को शुनःश्येप (जैसे अपढ़ कभी कभी निंदा को निंद्या), ज्येष्ठ को जेष्ठ, दीर्घायु को दीरिघायु, स्वस्तये को स्वस्तए, भुवना को भुअना, सिंह को सिंघ बोला करते हैं। शौनक के मत में ये सब महादोष हैं अतएव वर्जनीय हैं।

इस प्रकार शुद्ध उच्चारण की उपादेयता और अशुद्ध उच्चारण की हेयता का निदर्शन हो चुका। जिस प्रकार लेख में अक्षरों की सुंदरता वाचक पर तत्काल अपना प्रभाव डालती है उसी प्रकार भाषण में उच्चारण की शुद्धता श्रोता को अनुकूल बना लेती है। अतः चाहे किसी भाषा का हो, उच्चारण यथाशक्य शुद्ध होना चाहिए।

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे
शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनंतमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥—(महाभाष्य)

(कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, ना० प्र० सभा, सं० १९८५)

क्या संस्कृत नाते में ग्रीक और लैटिन की बहिन है ?

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि कुछ प्राचीन भाषाओं में समानता देखकर उनका पारिवारिक संबंध स्थिर किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने इन भाषाओं के सामान्य लक्षणों के आधार पर इनकी जननी एक भाषा की कल्पना की है जिसका नाम हिंद-यूरोपीय ऊर्स्प्रोख (भारोपीय मूल भाषा) रख लिया है। इस आदिम भाषा के बोलनेवाले आर्य (या आधुनिक कल्पना के अनुसार 'विरोस्'=वीर) पहले कहाँ रहते थे, इसकी भी लगे हाथ कल्पना कर डाली है। पर यह पिछली कल्पना अभी शंका के पंक से निर्लिप्त नहीं हो सकी है और इसके विषय में "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" है।

ठेठ पश्चिम यूरोप से पूर्व भारत के असम प्रदेश तक फैले इस परिवार में जो कुछ वाङ्मय उपलब्ध है उसमें हमारा ऋग्वेद निर्विवाद प्रचीनतम माना जाता है। इस परिवार की अन्य किसी भाषा में कोई ऐसा ग्रंथ प्राप्त नहीं जो प्राचीनता और उच्चारण-शुद्धि में ऋग्वेद की बराबरी कर सके। वंदना कीजिए उन वेदपाठी ब्राह्मणों की, जिन्होंने अपने ही देशवासियों से उत्तरोत्तर उपेक्षित होते रहने पर भी वेदों के बिंदु-विसर्ग तक की रक्षा कर रक्खी है। अभी उस दिन एक प्रतिष्ठित सहाध्यापक मित्र के घर पर ऋग्वेद का आश्चर्यमय यथातथता के साथ पाठ सुना था। बहुत से मित्र पोथी खोले बैठे थे। उनमें से प्रत्येक कान खोलकर सुनता था और इस ताक में था कि कहीं न कहीं कुछ अंतर पकड़ में आए, पर वेदपाठियों की वाणी में एक लहजे का फर्क भी सुनने में न आया। जिस प्रकार पूर्वज आर्य सहस्रों वर्ष पहले पढ़ा करते थे वही पाठपरंपरा आज भी ज्यों-की-त्यों अखंड जीवित है। इस परंपरा की अक्षुण्णता का प्रमाण पतंजलि से लीजिए जैसा उन्होंने आज से बाईस सै वर्ष पहले स्वतः देखा था—

एवं हि दृश्यते लोके। य उदात्ते कर्त्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति—अन्यत्त्वं करोषीति।

[व्यवहार में यों दिखाई पड़ता है। जो उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त कर बैठता है, वेद की खंडिका (एक अंश) का अध्यापक उसे चपेटता है—हैं, तू अन्यथा कर रहा है!]

इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल से आज तक सांगोपांग सुरक्षित वैदिक भाषा के रहते कुछ जर्मन वैयाकरणों ने पूर्वोक्त आदिम मातृभाषा की कल्पना कर

डाली और उसे यूरोप की प्राचीन भाषाओं के साथ साथ हमारे आर्यावर्त की संस्कृत की भी जननी ठहरा दिया। यह कल्पित भाषा भले ही ग्रीक लैटिन आदि की जननी मानी जाय, मेरा कोई विरोध नहीं, पर इसका यह दावा कि वैदिक संस्कृत भी मेरी बच्ची है, मुझे बिलकुल झूठा मालूम पड़ता है। इस लेख में इसी का विचार किया जायगा।

इस कल्पना के हिमायती पाश्चात्य और उनके अनुयायी हमारे देशी विद्वान् यह मानते हैं कि 'आदिम मातृभाषा के स्वर वर्ण, विशेषकर संध्यक्षर तो ग्रीक को रिक्थक्रम में मिले, पर व्यंजनों की गठरी संस्कृत के ही हाथ लगी।'

इन कल्पकों के अनुसार मातृभाषा के समानाक्षर (अखंड स्वर) निम्नलिखित थे—

ʌ, a; ɛ, e; ɔ, o; ə; ɪ, i; ʊ, u.
[अ, आ; ए̆, ए; ओ̆ ओ; अ; इ, ई; उ, ऊ]

अब इन स्वरों में से पहले ह्रस्व 'ए̆' और ह्रस्व 'ओ̆' को लीजिए और इस बात की परीक्षा कीजिए कि संस्कृत में इनकी क्या स्थिति है। क्योंकि हमारी परंपराप्राप्त देवनागरी वर्णमाला में इन ध्वनियों को व्यक्त करने के लिये कोई वर्ण नहीं मिलते, इससे प्रतीत होता है ये ध्वनियाँ संस्कृत के लौकिक और वैदिक दोनों रूपों में से किसी में भी वर्तमान न थीं। पतंजलिकृत महाभाष्य की निम्नलिखित पंक्ति इस विषय से विशेष संबंध रखती है—

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—"सुजाते ए अश्वसूनृते" (सा० वे० १।५ १, ४, ३), "अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्" (१।६,१,२,३), "शुक्रं ते ए अन्यद् यजतं ते ए अन्यद् इति (१।१, २, ३, ३); पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्, नैवहि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारोऽस्ति।

[अजी देखिए तो सात्यमुग्रि और राणायन की शाखाओं के सामवेदी ह्रस्व 'ए̆' और ह्रस्व 'ओ' पढ़ा करते हैं—"सुजाते ए अश्व सूनृते" इत्यादि। ठीक, पर यह तो उनकी अपनी शाखाओं की निजी विशेषता है। क्योंकि न तो लैकिक व्यवहार में और न किसी दूसरे वेद में ही ह्रस्व 'ए̆' या ह्रस्व 'ओ̆' मिलता है]

महाभाष्य में सामवेद की जिन शाखाओं का निर्देश है उनमें से केवल राणायनीय शाखा इस समय उपलब्ध है। इस शाखा के सामवेदी भी दक्षिण-

भारत में ही अवरुद्ध हैं और संभवतः दूसरी शाखा के सामवेदी भी वहीं होंगे, या रहे होंगे; क्योंकि दोनों का निर्देश साथ ही साथ है। दक्षिण-भारत में बहुत प्राचीन काल से द्रविड़-भाषा-भाषियों का निवास है। इस समय प्रचलित तामिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम् आदि द्रविड़ भाषाओं में 'ए' और 'ओ' का ह्रस्व उच्चारण भी होता है और इन ह्रस्व ध्वनियों के व्यंजक वर्ण भी इनकी वर्णमालाओं में पाए जाते हैं। अतः प्रतीत होता है कि जिस समय अगस्त्य ऋषि ने इन द्रविड़भाषियों में वेदाध्ययन का प्रचार किया उसी समय से इनको सामगान में भी अपनी अभ्यस्त ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' ध्वनियों के उच्चारण की व्यवस्थित छूट दे दी गई। यों ये ध्वनियाँ संस्कृत में सर्वथा अविद्यमान हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि वेदकालीन आर्यावर्त के अंतराल की आधुनिक बोलियों तक में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' ऐसे स्थलों में भी नहीं पाए जाते जहाँ ध्वनि-विधान के अनुसार उनकी सत्ता होनी चाहिए। इसका वास्तविक कारण यही है कि बोलियों ने भी अभी तक अपनी वैदिक परंपरा का निर्वाह कर रक्खा है।

किंतु आदिम मातृभाषा के इन कल्पकों ने संस्कृत में उनकी अनुपलब्धि का और ही कारण खोज निकाला है। उनका कहना है कि भारोपीय आदिम भाषा के अ, ए, ओ (ह्रस्व या दीर्घ) संस्कृत में केवल 'अ' (ह्रस्व या दीर्घ) में परिणत हो गए हैं। उदाहरण के लिये उनकी कल्पना इस प्रकार है—

भारोपीय भाषा—अपो, ग्रीक—अपो, संस्कृत—अप; भारो०—नेभोस्, ग्री०—नेफोस्, लैटिन—नेबुला, सं०—नभस्; भारो०—धे, ग्री०—टिथेमि, सं०—दधामि; भारो०—ओचुस्, ग्री०—ओकुस्, सं०—आशुः; भारो०—ओमोस्, ग्री०—ओमोस्, सं०—आमः; भारो०—दोनोम्, लै०—डोनुम्, सं०—दानम् इत्यादि।

इन उदाहरणों पर दृष्टि डालते ही यह पता चल जायगा कि आदिम मातृभाषा में उन्हीं स्वरों की कल्पना की गई है जो ग्रीक या लैटिन में स्वरूपतः पाए जाते हैं। अर्थात् मातृभाषा के स्वर वर्ण यूरोप की आकर भाषाओं के आधार पर पर ही कल्पित किए गए हैं, संस्कृत के आधार पर नहीं। इसलिये ऋग्वेद का 'मधु' ग्री० मेथु, स्लाव मेदु, लिथुआनियन मेदुस् का विकृत या विकसित रूप है, मूल रूप नहीं, क्योंकि यूरोपीय भाषाओं के स्वर मातृभाषा के अधिक निकट हैं।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि जब मातृभाषा के स्वर कल्पित ही हैं तो उनकी कल्पना ग्रीक, लैटिन आदि के अनुसार ही क्यों की गई, संस्कृत के अनुसार

क्यों न की गई ? इसका उत्तर कल्पकों ने एक नियम बना कर दिया है। उस नियम को तालव्य-विधान या Law of palatalization कहते हैं। उसका उत्थान और स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

यह निश्चित है कि संस्कृत का 'अ' कभी तो मौलिक 'अ' का प्रतिनिधि है—जैसे सं० अजति, ग्री० अगेइ; कभी मौलिक 'ए' का—जैसे सं० अस्ति ग्री० एस्ति; और कभी मौलिक 'ओ' का—जैसे सं० पति ग्री० पोसिस्। इस विधान से साक्षात् संबद्ध एक और विधान है। यथा—मौलिक कंठ्य और ओष्ठकंठ्य ध्वनियाँ संस्कृत में कभी (१) कंठ्य ध्वनि के रूप में और कभी (२) तालव्य ध्वनि के रूप में पाई जाती हैं। जैसे (१) सं० कर्कट, ग्री० कर्किनोस्; सं० युगम्, ग्री० जुगोम्; और (२) सं० च, ग्री० ते, लै० क्वे; सं० ज्या, ग्री० बिओस्, लिथुआनियन गिय। इस प्रकार मौलिक क, ग, घ, ध्वनियों का संस्कृत में कभी क, ग, घ के रूप में और कभी च, ज, ह के रूप में पाया जाना तालव्य-विधान के ही अनुशासन का फल है। इस विधान के अनुसार मौलिक कंठ्य ध्वनि भारतीय भाषा में तालव्य ध्वनि में परिणत हो जाती है यदि इ, ई या ए, अथवा अ या आ, जो मौलिक ए का स्थानापन्न हो अथवा य् (व्यंजन)—इनमें से कोई ध्वनि उस कंठ्य ध्वनि से अव्यवहित परे वर्तमान हो। परंतु इसके विपरीत यदि कंठ्य ध्वनि का परवर्ती उ, ऊ, या ओ अथवा मौलिक ओ, अ या किसी व्यंजन का प्रतिनिधि अ या आ हो तो वह ज्यों की त्यों रहती है, उसे तालव्यादेश नहीं होता।

अब इस तालव्य-विधान की थोड़ी परीक्षा कीजिए। इस विधान के अनुसार आप के परिचित च का अ मौलिक नहीं, किंतु विकृत या विकसित है, क्योंकि उसका मूल रूप ए है जो ग्रीक या लैटिन शब्द में स्पष्टतः वर्तमान है। यदि यह तालव्य ध्वनि यहाँ अपने रूप में न सही, विकृत अ के रूप में भी वर्तमान न होती तो भला मूल क्वे (लै० que) की 'क़' ध्वनि संस्कृत में 'च्' कैसे बन जाती! इसपर साधारण बुद्धि का मनुष्य भी पूछ सकता है कि जिस लैटिन शब्द में स्वतः तालव्य ध्वनि ए वर्तमान है उसमें इसने 'क़्' को 'च्' में क्यों न बदल दिया, संस्कृत ही में क्यों इसने अपनी करामात दिखलाई ? इसी तरह ग्रीक ते का 'त्' क्यों न बदलकर 'च' हो गया ? संभवतः उत्तर मिलेगा कि लैटिन तो केंटुम् (Centum) वर्ग की भाषा है, उसमें 'क़्' होना ही चाहिए। पर इस जबरदस्ती का कुछ ठिकाना

है ! आप लैटिन और ग्रीक के स्वरों को मौलिक मानेंगे तालव्य-विधान के नियम के आधार पर, पर जब वही नियम लैटिन और ग्रीक पर लगाया जायगा तो आप कहेंगे कि यह नियम लैटिन और ग्रीक पर इसलिये नहीं लगेगा कि उसमें तालव्य विधान की प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती। अर्थात् जो कुछ लैटिन या ग्रीक में दिखाई पड़े उसे तो मौलिक मान लीजिए और जो कुछ अन्यत्र उसके विपरीत दिखाई पड़े वह उसका (लैटिन या ग्रीक का) विकार मानिए। फिर तो यह अंधेरनगरी का फाँसी का फंदा हुआ। अगर यह फंदा ग्रीक या लैटिन के गले में नहीं आता तो डाल दो इसे संस्कृत के गले में ! फिर भी, यदि यह फंदा सवत्र संस्कृत के गले में फिट होता तो भी एक बात थी। हमें अवश्य यह विचार करना पड़ता कि क्या कारण है जो संस्कृत शब्दों में सर्वत्र हम उसी स्थल पर कंठ्य के स्थान में तालव्य वर्ण पा रहे हैं जहाँ तालव्य-विधान में निमित्त रूप में निर्दिष्ट वर्णों की सत्ता रहती है। पर बात ऐसी नहीं है। हम सैकड़ों ऐसे उदाहरण पाते हैं जहाँ किसी निमित्त का केवल अभाव ही नहीं, किंतु अनिमित्त मानी गई ध्वनियों की सत्ता होने पर भी स्वतंत्रता से तालव्य-विधान होता है।

[अपूर्ण एवं अप्रकाशित]

Dr. KEITH ON APABHRANSA

A prolific and voluminous writer as Dr. Keith is known to be, he may well be called the Hemacandra of Scotland. No branch of Sanskrit literature has escaped his untiring and ever-busy pen and no topic contained in the Vedas down to the Vetâla-pañcavimsatikâ has been denied appreciation, of course in the language and style so peculiar to him. Of his latest achievement, A History of Sanskrit Literature, he has devoted the first part to the investigation of the languages, and just like his great predecessor, he has written on the Apabhramsa language also.

In his verdict on Apabhramsa he has mainly touched on two points: firstly, that the scheme constructed by Sir

G. Grierson for the derivation of modern vernaculars from the various local Apabhramsas is merely a theoretical scheme and will not stand investigation, for the evidence of texts and even of the literature proves clearly that Apabhramsa has a different singification, and secondly, that the essential fact regarding Apabhramsa is that it is the collective term employed to denote literary languages, not Sanskrit or Prâkrit, (देशभाषा). Relying on the authority of Dandin he has laid special stress on the term Apabhramsa being applied to the idioms of Âbhîras, etc., appearing in poetry, for it were they who infused into Prâkrit a measure of their own vernacular and sought to create a literature of their own by producing Apabhramsa and spreading it along with their civilization as a literary language from the Panjab to Bihar.

As regards the first point it can safely be admitted that unless and until sufficient materials are at hand, it would be rather risky to support the view of Sir G. Grierson. But his hypothesis is sure to gain ground at last, for the reasons so far furnished and materials so far supplied by scholars seem quite favourable to it.

Dr. Keith has, however, modified his sweeping remarks against the hypothetical scheme by admitting a considerable amount of resemblance to Apabhramsa in old Gujarâtî, but denying the same in other cases.

But it would not be out of place here if I present some substantial matter in support of the hypothesis so summarily dismissed by Keith, which every student of philology also will, I am sure, have some hesitation in explaining away

with any show of cogency. The language which I speak at home is a patois of the so-called Eastern Hindî, assumed by Grierson to have been derived from Ardhamâgadhî Apabhramsa, and is one spoken in and around Benares.

I propose now to convert some of the Apabhramsa verses cited as examples in the Apabhramsa section of the Prâkrit Grammar of Hemacandra into the patois and to point out some Ardhamâgadhî traits in the conversion. This, I hope, will go a long way towards convincing my readers of the soundness of the scheme under discussion, and will plainly show that Apabhramsa elements are not only to be found in those western languages alone, which Keith has been at pains to connect somehow or other with Âbhîras, but in the eastern languages also, and that Apabhramsa was so popularly used for some time that its traits are still noticeable in its offshoots:—

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मनोरथ पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करत म अच्छि ॥७५॥

दिनवाँ (For the use of दिन see दिणयरु खयगालि—६२ हे० व्या०; अज्जु विहाणउँ अज्जु दिणुं—कुमारपालप्रतिबोध) जायँ झटपटय पड़यँ मनोरथ पाछ। जवन (cf. कवणुगुणु—हे० व्या० ८४) बाटय (From Skt.* √वर्त्त् to exrist, अपभ्र० वट्ट, cf. मग्गेहिं तिहिंवि पवट्टइ Ibid. २५) तवन मानय, होई करत मत (Skt. मा तावत्) रह (cf. सुरसरि सिरमह रहइ, प्राकृतपिंगल १११).

N. B.—Wherever I have used words in the conversion not derived from those in the text, I have referred to their original sources, of course in the Apabhramsa language.

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेणवि मुंडिअउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥७६॥

आछत (cf. जं अच्छइ हे० व्या० ७५) भोग जे छोड़य (cf. बाह बिछोडवि Ibid. १६२) तेह कन्ताक बलि (कयल) जावँ (cf. बलि किज्जउं सुअणस्सु Ibid. १३) तेकर (cf. जसुकेरएं हुंकारडएं Ibid. १३६) दैवय (से) मूँडल जेकर (cf. १३६) खल्लड सीस.

पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥८४॥

पूत भइले (See रंभा मंजरी–११) कवन गुन, अवगुन कवन मुअले (प्रा० पिं० १६०) जेकरे (See above) बापेक भुँइयाँ चाँपल जाय अउरे (से).

ओ गोरी मुहनिज्जिअउ बद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहवियतणु सो किवँ भवंइ निसंकु ॥६३॥

ऊ गोरी (के) मुँह (से) जीतल बदरे लुकल मयंक; आनो जे धूसल (Skt. ध्वस्त from √ध्वंस् to be vanquished) से कैसे (Skt. कीदृश) घूमय (See हे० व्या० ४।११७; प्रा० पिं० १६०) निसंक.

साव सलोनी गोरडी नवखी कवि विसगंठि ।
भडु पच्चालिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि ॥१२३॥

सबै सलोनी गोरिआ (cf. गोरी तिम्मइ अज्जु ११५) नोखी कोई बिसकै गाँठ (Mark the dissolution of the compound) भट उलटय (See उल्लट, देशीना. ७,८१) से मरय जेकरे (cf. १३६) न लगय गरे (cf. गलि मनिअडा न बीस १४५).

एक कुडुल्ली पंचहिं रुद्धी
तहं पंचहं वि जुअंजुअ बुद्धी ।
बहिणुए तं घरु कहि किंव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउं अप्पणछन्दउं ॥१२६॥

एक कुडुली पाँच [से] रूँधी तेह पाँचों क बी जुदैजुदा (Skt. युतयुत, √यु to separate; cf. Persian जुदा) बुद्धी । बहिनी, तवन घर कहीं काहे (cf. किह ठिउ सिरि आणन्द ६४) [अ] नन्दय जेहिन कुडुमो छछन्दी (Skt. स्वच्छन्द = अप्पणछन्दउँ).

सिरि जरखंडी लोअडी गलि मनिअडा न बीस ।
तो वि गोट्टडा कराविया मुद्धए उट्ठबईस ॥१४५॥

सिर जरखंडी लुगरी गरे मनिआँ न बीस। तओ गोठे करउलेस ओली (cf. ओली मुंधि म गन्त्रु करि, प्रबंधचिंतामणि) ऊठबईठ (वइस is also a rustic form of the patois).

I think this will suffice to prove clearly what I have said before. For translation of the verses, see Pischel, which I have purposely refrained from giving here, in order to make the comparison clearer and more independent.

I wish now to draw the attention of my readers to some of the words which are used in the verses and the patois, and which are important from the Apabhramsa point of view, my further object being to point out some Ardhamâgadhî traits therein, with a view to prove that the etymological relation of Eastern Hindi with Ardhamâgadhî Apabhramsa is not spurious, but is based on substantial grounds :—

(1) जवन, तवन, कवन in the patois are purely Apabhramsa forms partly noticed by Hemacandra in किमः काइंकवणौ वा८।४।३६७.

(2) वट्टइ, रहइ etc., of Apabhramsa are pronounced as बाटय, रहय etc,, in the patois simply for the reason that इ and य are interchangeable.

(3) Instead of को, जो, सो in the Apabhramsa taught by Hemacandra, the use of के, जे, से in the patois is simply due to Ardhamâgadhî iufluence.

(4) कयल, भयल, मुअल, गयल, मूँड़ल, चाँपल etc., are all past participles having the pleonastic suffix अल peculiar to Mâgadhî Apabhramsa hinted at by Hemacandra in his sûtra 8, 4, 427.

(5) कर in तेकर, जेकर etc., and क in कन्ताक, पाँचोक etc., are derived from केर of Apabhramsa advocated by Hemacandra in 8, 4, 422.

(6) The resemblance between खल्लिहडउ and खल्लड़, चम्पिज्जइ and चाँपलजाय, बद्दलि and बदरे, लुक्क and लुकल, नक्खी and नोखी कुड्डल्ली and कुडुली, कहि and कहीं, अप्पणछन्द and छछंद, लोअडी and लुगरी is quite sufficient to show the genetic affinity of the two languages, and leaves no room for such doubts as Keith has entertained about their relations.

(7) Disappearance of case-endings is a recognized characteristic of Apabhramsa, and instances are not rare even in the above few quotations. When this practice came into vogue, the great syntactical confusion was sought to be avoided by the addition of the new postpositions to the shrunken and worn-out forms of Apabhramsa. For example, take अउरे, पाँचो etc. These, though being themselves inflected forms, require से, क etc., to assert their morphological position in a sentence. This tendency can also be noticed even in Apabhramsa itself. The phrase बप्पी की भुंहड़ी furnishes an instance in point.

(8) The use of र for Mâgadhî ल as evinced in बदरे for बद्दलि, गरे for गलि, etc., is a well-marked tendency now, but perhaps at one time was the rule in central and western Mâgadhî (see Dr. S. K. Chatterji's The Origin and Development of the Bengali Language, para 52).

(9) The pleonstic suffix ड or डड is very common in Apabhramsa. Our patois also has preserved it in मुखड़ा, बछड़ा, लोथड़ा, etc.

(10) The nominative in उ, the commonest feature of Apabhramsa has been confined in the patois to proper nouns only. रामू, ननकू, घसीटू, मँगरू are examples of this.

(11) Compounds like गोरीमुहनिज्जिअउ, परिहविअतणु, etc., are such literary artifices as language is bound to contrive when it begins to put on poetic trammels.

From what has gone before, the reader will see at a glance how closely a thousand year old language is related to its daughter of the day, thereby disproving the segregation advocated by Keith on the strength of meagre evidence. This affinity constitutes internal evidence which is doubtless worth more than a hundred slender hypotheses to the contrary.

The second point remains to be considered now. Dr. Keith says that Apabhramsa is a name given to some literary languages, which were nowhere spoken and were different from Sanskrit and Prâkrit. But this assertion contradicts the same Rudrata on whose authority he has relied so much. Rudrata declares in very plain words that among the languages, the sixth, i. e. Apabhramsa is of many kinds on account of the difference of lands where it was spoken–षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः. Keith has unsuccessfully tried to narrow down the broader sense of the statement by taking देश विशेष to mean only the lands of Âbhîras and Gurjaras, etc., though his conscience itself is not clear, as he, in disagreement with what he says here, has written on page 34 that "But once Apabhrañça had become popular, perhaps through the activity of the Âbhîra and Gurjara princes it spread beyond the west and various local Apabhrañças arose, as is recognized by Rudrata." I cannot quite follow the arguments advanced to connect the Apabhramsa language so exclusively with Âbhîras and Gurjaras.

The term Apabhramsa for the first time appears in the Mahâbhâsya in connection with language, and etymologically it means 'corruption' or 'deterioration' of norm. This

corresponds exactly with the Vibhramsa or Vibhrasta of Bharata, which is nothing but a particular linguistic phenomenon. The word Apabhramsa then, had nothing to do with the Âbhîras, nor had it acquired its later connotation, viz., people's dialect or dialects and vehicle of literature, like the various Prâkrits. When Sanskrit was standardized, any deviation from the norm meant Apabhramsa, and it is what Dandin has expressly told us by शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्.

But, in obedience to philological law, Sanskrit could not maintain its sway for ever, and it began to deteriorate gradually. At this juncture, as the structure of the language was still almost the same and considerable foreign matter had not found its way in, cultured society tolerated this corruption of the vocables at the hands of their own people and gave to the speech the significant name of Prâkrit—'natural', 'common' or 'ordinary' language. In course of time even this less favoured speech became the idol of its votaries in whom it inspired the same respect and zeal as its predecessor. This also died a natural death yielding place to a tongue which not only inherited the legacy reserved for it, but also high-handedly added a large amount of foreign matter to it. This was too much to digest and assimilate and an altogether new language was therefore the result of this surfeit. It began practically to lose its inflectional character हु, हिं, हुं, taking the place of old case-endings. This was doubtless an utter deterioration of the norm, and Âryan people could not help calling it, though indignantly, apabhramsa—'corruption' or 'deterioration.' The investigation whether the foreign matter pertained to

Âbhîras or Gurjaras concerns ethnology more than philology, and does not therefore deserve elaborate discussion here. What can be positively asserted here is that the refined Prâkrits became turbid by the admixture of some very coarse, unrefined and vulgar matter. It was possibly Âbhîras who first thrust their vernacular into Prâkrit. And the disappearance of Sarasvatî (the river as well as the speech), attributable to their abhorrence of it (vide Mahâbhârata, IV, 20, 798), is very significant, in this connection. At first the mixture came to be called आभीरोक्ति or आभीरी after them. There is mention of this आभीरोक्ति in the oldest document (भरत's Nâtyasâstra, 18, 44, Banaras edition, 1929) extant in this field of literature. But when this corruption introduced by Âbhîras or Gurjaras developed into a widespread linguistic phenomenon and was imbibed by almost all the Prâkrits of different countries, the appellation आभीरोक्ति being unsuited to the wider sense, was confined to the proper आभीर dialect. Markandeya in his Prâkritsarvasva has clearly indicated that fact by mentioning आभीरी as different from Apabhramsa. Dandin by saying आभीरादि गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः has only reminded us of the original sense of the term, and nothing more. Had Apabhramsa been from beginning to end connected exclusively with Âbhîras or others, it could not have flourished so much nor comprised so vast a literature as to claim the careful attention of such conservative Sanskrit poeticians as Bhâmaha and Dandin.

Of textual evidence there is an abundance, but I shall cite here only a few examples to show that Dr. Keith's

allegation that Apabhramsa was never a vernacular and that it was different from Sanskrit and Prâkrit is baseless.

Namisâdhu, while commenting upon the same passage of the Kâvyâlamkâra (II, 12) of Rudrata, which has been the basis of Keith's verdict, quoted above, has the following remarks on Apabhramsa:—

तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादवसेयम्।

The importance of the passage lies in the fact that Namisâdhu (1) recognizes Apabhramsa as one of the Prâkrits themselves, (2) names the varieties laid down by others before him as being upanâgara, Âbhîra and grâmya, (3) expressly says that they are many more than three, and, what is most impontant of all, (4) points to the people themselves as the best source to learn it. The last point is most significant as showing that by the time of Namisâdhu, who finished his commentary in 1069 A. D., the Apabhramsa of many dialects had not ceased to be spoken by common people.

In the following quotations there is an express mention of the fact that Apabhramsa was a vernacular:—

देशेषु देशेषु पृथग् विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तुवक्तुम्। लोकेषुयत्स्यादपभ्रष्टसंज्ञं ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥

(Visnudharmottara, Book 3, ch. 7.)

अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप। देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते।

(Ibid, B. 3, ch. 3)

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

(Vâgbhata's Kâvyâlamkâra, 2-3).

'देशोद्देशे स्वदेशगीः'। देशास्य कुरुमगधादेरुद्देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्वस्वदेशसंबंधिनी भाषा निबंधनीया इति इयं दशगाश्च प्रायोऽपभ्रंशे निपततीति।

(Râmacandra's Nâtyadarpana, with his own commentary, Ms. in Baroda, leaf 124, being edited for G. O. Series.)

'भाषाः षट् संस्कृतादिकाः' । भाष्यन्ते भाषाः संस्कृत प्राकृत मागधी शौरसनी पैशाच्यपभ्रंशलक्षणाः ।

(Hemcandra's Abhidhâna-chintâmani, with his own commentary, 2. 199).

(Quite contrary to this, Keith says that "Hemacandra also does not identify Apabhramsa with the vernaculars.")

Besides a Prâkrit work named Kuvalayamâlâ, written in 778 A. D. by a Dâksinya Cinhodyotanâchârya, has recorded many informing and interesting topics concerning the vernaculars of the time. It gives a very lively and vivid description of Apabhramsa, which displays the vivacity and power of absorption of a living and current language—'''अवहंसं'''सक्कयपाय उभयसुद्धासुद्धपयसमतरंगरंगतवग्गिरं णवपाउ सजलयपवाहपूरपव्वालियागरिणइसरिसं समविसम पणयकुवियपियपणइणीसमुल्लाव सरिसंमणोहरं । (Jaisalmer Bhandâr, Palm leaves 57 and 58). i. e., Apabhramsa is now gentle, now rough and turbulent like the mountain rivulet swollen by the rains of the fresh monsoon clouds, is graceful equally with corrupt and uncorrupt words belonging both to Prâkrit and Sanskrit like the playful ripples, is fascinating like the amorous babbling of a lady piqued in a love quarrel.

The above work also contains some lively conversations in the living language of the time, which are very important from the Apabhramsa point of view and leave no room for any objection whatever to the acceptance of Apabhramsa as a vernacular.

In order to differentiate Apabhramsa from vernacular, Keith has resorted to the Kâmasûtra,, which, as he thinks, "In enumerating their (i. e., of hetairai) sixty-four accomplishments, includes knowledge of vernaculars as well as of literary speeches (Kâvyakriyâ)". "Moreover it (Kâmasûtra) preserves the interesting notice that a man of taste would mingle his vernacular with Sanskrit, as is the way with modern vernaculars, not with Apabhrañça."

Unfortunately both the arguments based on the Kâmasûtra are wrong. In the first Dr. Keith has taken the textual term to mean literary speeches, but it never conveys that sense. It always means 'the composition of poems' only,—and can never, therefore, be contrasted with what is meant by 'vernacular.' As regards the second argument, the plausible inference of Keith that Apabhramsa never drew upon Sanskrit, as modern vernaculars do, is nullified by the above quotation from the Kuvalayamâlâ and by Râjasekhara, who expressly says in his Kâvyamîmâmsâ that—

'ससंस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिंगितं पठेत्' (Kavyamimamsa ch. 7, p. 33)

(Apabhramsa should never be recited but by making it more graceful by the intermingling of Sanskrit with it.)

N. B.—I am indebted to the writer of the introduction to the Apabhramsa Kâvyatrayî for utilizing his valuable quotations from MSS.

(Indian Antiquary, Vol. Lix, 1930, pp 1–5)
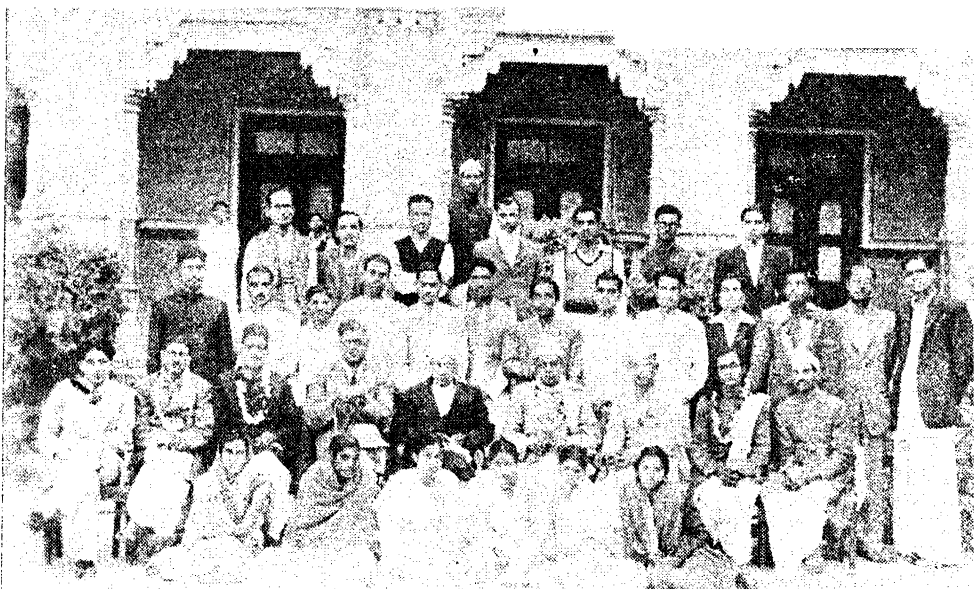
कुर्सी पर बैठे हुए बाईं ओर से—श्री शिवमंगल सिंह "सुमन", डा० श्री कृष्णलाल, श्री विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, डा० यू० सी० नाग, डा० स० राधाकृष्णन, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री पद्मनारायण आचार्य, श्री ओम्प्रकाश गुप्त। (सं० २००४, सेंट्रल हिंदू कालेज)

केशवप्रसाद मिश्र।

Keshava Prasad Misra

आचार्य केशव जी के हस्ताक्षर

संस्मरण-श्रद्धांजलियाँ

मार्मिक भाषातत्त्वज्ञ और उत्तम कवि

मैं श्री केशवप्रसाद जी मिश्र को प्रायः सन् १९२८-२९ से जानता था। मुझे ठीक स्मरण तो नहीं है पर स्यात् उन्होंने रणवीर पाठशाला में ही विद्यासंग्रह किया था। वे सेंट्रल हिंदू स्कूल में अध्यापक थे और अपनी योग्यता के कारण विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक और फिर उसी विभाग के अध्यक्ष हो गए थे। संस्कृत के तो विद्वान् थे ही, अँग्रेजी बहुत अच्छी जानते थे और पाली, प्राकृत आदि अन्य भाषाओं के भी मार्मिक ज्ञाता थे। वे अच्छे भाषातत्त्वज्ञ थे तथा हिंदी में बहुत उत्तम कविता करते थे। खड़ी बोली की कुछ कविताएँ उन्होंने मुझे दिखाई थीं। बहुत सरस थीं। आयु कम पाई उन्होंने, यह दुःख का विषय है। यदि जीते रहते तो हिंदी साहित्य का और उपकार करते।

—(डा०) भगवानदास

असाधारण एवं बहुमुखी-प्रतिभाशील विद्वान्

आचार्य द्विवेदी जी जिस प्रकार हिंदी गद्य को परिष्कृत कर रहे थे उसी प्रकार खड़ी बोली की कविता को भी कवि और कृती प्रदान कर रहे थे। भाई मैथिलीशरण तो उनके निर्माण हैं ही, जो आज भी खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं, कितने ही अन्य कवियों को भी उन्होंने या तो आत्मविश्वास दिलाकर रचना में प्रवृत्त किया या ब्रज भाषा से खड़ी बोली लिखने के लिये प्रेरित किया। परिणामतः कितने ही युवक अच्छी कविता बोलचाल की हिंदी में करने लग गए थे।

प्रसाद जी का युग अभी नहीं आया था, यद्यपि वे भी स्वतंत्र रूप से खड़ी बोली में लिख रहे थे। अतएव गुप्त जी के अतिरिक्त जो दर्जनों कवि सुंदर रचना करने लगे थ उन सबसे परिचित रहना कुछ कठिन सा होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में जब एक दिन द्विवेदी जी महाराज ने खड़ी बोली में मेघदूत के एक सरस अनुवाद की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया तो स्वभावतः मुझे अचरज हुआ। वे काशी आए और जिस समय मुझसे यह चर्चा कर रहे थे उस समय उनके संग

उनके एक स्वजन श्री रुद्रदत्त भी थे, जो उसी सेंट्रल हिंदू स्कूल (बनारस) में काम कर रहे थे जिसमें आचार्य केशवप्रसाद जी संस्कृत अध्यापक थे। द्विवेदी जी महाराज ने उनकी ओर मुखातिब होकर कहा—'रुद्री, कृष्णदास से केशव जी को लाकर मिलाना।' इस प्रकार केशव जी से मेरा पहले-पहल परिचय १६१८ ई० में हुआ। तब वे मेरे लिये हिंदी के एक उदीयमान कविमात्र थे, जिनसे मेघदूत को पूरा कराकर प्रकाशित करने के लिये मैं उत्कंठित हो रहा था।

धीरे-धीरे हम लोगों का परिचय बढ़ा, तब मैंने जाना कि वे मेरे बहुत निकट के व्यक्ति हैं। मेघदूत के मिस मिलना तो द्रविड़ प्राणायाम मात्र था। वे मेरे कितने ही संबंधियों के बहुत निकट व्यक्ति थे। इस प्रकार शीघ्र ही हम घनिष्ठ हो उठे। मैंने तब जाना कि केशव जी को संस्कृत व्याकरण और साहित्य पर असाधारण अधिकार था और उनकी प्रतिभा बहुत ही निखरी हुई थी। पंडिताऊपन उसमें छू न गया था। व्याकरण और साहित्य के साथ-साथ धर्मशास्त्र, वैद्यक और दर्शन का भी उन्हें बहुत विशद बोध था। तिसपर से परम मसृण स्वभाव। इस प्रकार उनकी बातचीत इतनी मनोरंजक और ज्ञानवर्धक होती कि संग छोड़ने का मन ही न होता। दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह और महीनों पर महीने हम लोग साथ बिताने लगे। प्रसाद जी भी प्रायः इस मंडली में रहते, मैथिलीशरण तथा अजमेरी जी भी साल में दो-तीन बार चिरगाँव से आया करते और हम लोगों की खूब घुटा करती। कभी नाव पर, कभी बाग-बगीचे में, कभी गंगा-किनारे शांति-कुटीर में। देखने में जिंदगी बेकारी की थी, किंतु सभी किसी-न-किसी काम में लगे थे।

केशव जी अब संस्कृत की ओर से हिंदी की ओर खिंच रहे थे। भाषाशास्त्र का इतना बड़ा विद्वान् जो संस्कृत के लिये जाने कितना महत्त्वपूर्ण काम करता, काशी-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में खिंच आया और उसके अगाध संस्कृत-ज्ञान का लाभ उसके सहयोगी प्राध्यापकगण उठाने लगे।

कलाभवन भी उन दिनों स्थापित हो चुका था। केशव जी को आरंभ से ही उसमें रस था और १६२२ ई० में कलाभवन को उन्होंने किराए के मकान से निकाले जाते बड़े दुःख के साथ देखा। कौन जान सकता था कि यह पीर उनके हृदय में बराबर बनी रही और १६२८ ई० में जब उन्होंने पाया कि डा० श्यामसुंदरदास नागरीप्रचारिणी सभा में एक संग्रहालय बनाना चाहते हैं तो उन्होंने उनका (डा० दास का) ध्यान कलाभवन की ओर दिलाया और १६२६ में कलाभवन को सभा

में ले जाकर पुनः चालू करा दिया। उन्हीं के इस सदुद्योग का यह परिणाम है कि आज कलाभवन इतना प्रकांड वृक्ष हो उठा है।

अब तक हिंदी का संबंध संस्कृत और प्राकृत से ही माना जाता था। अपभ्रंश का भी पता लग चुका था और यह स्थिर हो चुका था कि हिंदी की जननी प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है। किंतु गुलेरी जी के बाद हिंदी के किसी विद्वान् ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। केशव जी ने अब अपनी बहुमुखी प्रतिभा को एकाग्र करके अपभ्रंश पर लगाया और उसके अंतस् में पैठे। अपने इस अपार ज्ञान को यद्यपि उन्होंने किसी ग्रंथ के रूप में हमें नहीं दिया, फिर भी उनके अनेकानेक शिष्य उनके चलते-फिरते ग्रंथ हैं जो उनके इस ज्ञान-प्रदीप को नित्य जाज्वल्यमान रक्खेंगे।

—(राय) कृष्णदास

'दिसापामोक्ख' आचार्य

आचार्य केशवप्रसाद जी का प्रथम परिचय मुझे १९४० ई० के लगभग हुआ, जब मैं रायकृष्णदास जी के यहाँ काशी आकर ठहरने लगा। प्रथम दर्शन से ही उनके अगाध पांडित्य की छाप मुझपर पड़ी। मेरे मन ने तुरंत कहा—ये वह व्यक्ति हैं जिन्होंने शास्त्रों को केवल पढ़ा नहीं, गुना है। केशव जी की सूक्ष्मान्वेषी दृष्टि वस्तु के मर्म तक पहुँचती थी। साहित्य और व्याकरण की विस्तृत वीथियों में उनका नागावलोकन—भरपूर दृष्टि—देखकर चित्त को आश्वासन मिलता था। शास्त्र तो अनेक व्यक्ति पढ़ते हैं, किंतु उसका रस लेनेवाले व्यक्ति बिरले ही होते हैं। केशव जी अपने मन पर भारी-भरकम पोथों का बोझा नहीं ढोते थे। वे अपनी पैनी समीक्षा से शास्त्र को तेजस्वी बनाते और तब बाल-सूर्य के आतप की भाँति उसके प्रकाश का आनंद लेते; अथवा चंद्रमा की ज्योत्स्ना की भाँति उससे औरों को आनंदित करते। कई बार भाषाविज्ञान की गुत्थियों को लघु प्रयत्न से समझाते हुए मैंने उन्हें सुना। उनकी व्याख्या-शैली में रस बरसता था, मन विषय को आगे बढ़कर जानने के लिये आकुल हो उठता था। यों तो केशव जी अनेक विषयों में पारंगत थे, किंतु भाषाशास्त्र के तो वे आसमुद्र चक्रवर्ती थे। आज यह कसक बनी हुई है कि क्यों नहीं मैंने उनके इतने समीप आकर भी इस शास्त्र का कुछ ब्रह्मदाय उनसे प्राप्त किया। यह मेरी ही उपेक्षा रही। समय पर अधिक विश्वास किया, सोचा कि केशव जी हमारे बीच में चिरजीवी रहेंगे। इसी लिये उनके उठ जाने का शोकप्रद समाचार जब मुझे मिला तो मन में गहरी व्यथा हुई।

अंतिम बार जूलाई १९५० में मैंने उनके दर्शन किए, उस समय वे शरीर से अस्वस्थ हो चुके थे। काशी-विश्वविद्यालय में भारत-कला-भवन के नए भवन की नींव रक्खी जानेवाली थी। सुहृद्वर राय कृष्णदास जी की आज्ञा से उसके लिये संस्कृत ताम्रपत्र का लेख रचकर मैं उसे संशोधन के लिये श्री केशव जी के पास ले गया। अपने शयन-कक्ष में ही उन्होंने धैर्यपूर्वक उसे सुना और रख लिया। अगले दिन मूल्यवान् संशोधनों के साथ वह लेख उन्होंने भेज दिया। मुझे सदा प्रसन्नता रहेगी कि कलाभवन के लिये इस रूप में उनका भी आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

केशव जी, प्राचीन शब्दों में कहें तो, "दिसा पामोक्ख" आचार्य थे, जिनका यश दूर-दूर से छात्रों को अपनी ओर खींचता था। उनका पांडित्य और ज्ञान आकाशवर्षी मेघों के जल की भाँति छात्रों और मित्रों के लिये सदा सुलभ था। मौखिक व्याख्यानों के द्वारा वह ज्ञान-सत्र केशव जी के जीवन पर्यंत चलता रहा। आज हृदय अपनी इस हानि पर दुःखी होता है कि लेख रूप में भाषाविज्ञान की वह अमूल्य निधि उनके साथ ही शेष हो गई।

—(डा०) वासुदेवशरण अग्रवाल

पवित्र ज्ञान-साधक

पं० केशवप्रसाद जी से मेरा परिचय बहुत पुराना था। जब कभी मैं काशी आता था, उनके दर्शन का प्रयत्न अवश्य करता था। उनसे मिलना मानसिक गंगा-स्नान के समान होता था। उनके अत्यंत सौम्य-प्रसन्न मुख से जो वाणी निकलती थी वह सचमुच ही गंगा के समान पवित्र होती थी। उनका अध्ययन गंभीर था और वह विशुद्ध ज्ञान-पिपासा का फल था। पंडित जी किसी और उद्देश्य से अध्ययन नहीं करते थे। उनसे बहुत कम जाननेवालों में भी मैंने यशोलिप्सा का ऐसा प्राबल्य देखा है जो दंभ की सीमा तक पहुँच जाता है। परंतु पंडित जी की ज्ञान-साधना में एक प्रकार की पवित्रता थी जो दूसरे को शांति देता है और प्रेरणा देती है। ज्ञान को उन्होंने प्राचीन भारतीय पंडित की दृष्टि से ही देखा था—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

पंडित जी की रुचि नाना शास्त्रों में थी, परंतु संस्कृत के ज्ञान-भांडार की ओर उनका सहज आकर्षण था। कोई भी बात चलाइए, वे घूम-फिरकर संस्कृत के महान् साहित्य की ओर चले आते थे। इस साहित्य के प्रति उनका अत्यंत गंभीर आकर्षण था। पुराने आचार्यों के विचारों के प्रति उनकी श्रद्धा कभी उचित मात्रा से भी

अधिक हो जाती थी। वे नए विचारों को ग्रहण करने में झिझकनेवालों में नहीं थे, परंतु नए का 'नयापन' वे सहज ही नहीं स्वीकार करते थे। प्राचीन ज्ञानभांडार में सचमुच यह बात है या नहीं, पहले इसका संधान कर लेना वे उचित समझते थे और प्रायः वे इस प्रकार की बात कहते थे जिससे जान पड़ता था कि इसका कुछ-न-कुछ बीज संस्कृत के ज्ञानभांडार में हैं। भाषाशास्त्र के तो वे गिने-चुने विद्वानों में से थे, परंतु इस शास्त्र में भी वे हर बात को न तो नया आविष्कार मानने को तैयार थे और न हर नए पंडित की नई स्थापना को आँख मूँदकर स्वीकार करने के पक्ष में थे। 'शिक्षा' नामक वेदांग का उन्होंने जमके अध्ययन किया था और कई आधुनिक भाषाशास्त्रीय सिद्धांतों के बीज उन्होंने इस शास्त्र में खोज निकाले थे। कभी-कभी वे भाषाशास्त्रीय सिद्धांतों को उस रूप में स्वीकार करते थे जिस रूप में प्राचीन भारतीय आचार्यों ने संकेत किया है। ऐसे किसी तत्त्व का उद्घाटन करते समय उनकी आँखें चमक उठती थीं—वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में उनका मन रम जाता था।

मुझे कोई ऐसा अवसर याद नहीं है जब पंडित जी से बातचीत के प्रसंग में पाणिनि महाराज न आ गए हों। पाणिनि की पद्धति पर उनका विशेष अनुराग था। वे महाभाष्य और काशिकावाली परंपरा के तो बहुत भक्त थे, किंतु भट्टोजि दीक्षित की पद्धति को नापसंद करते थे। महाभाष्य में या काशिका में आए हुए उदाहरणों का अर्थ-विचार प्रायः पंडित-समाज में उपेक्षित रह गया है। पंडित जी ने इन उदाहरणों के अर्थों पर खूब मनन किया था। उन्होंने अपने एक प्रिय शिष्य पं० राधारमण जी को इस कार्य में प्रवृत्त भी किया था। इन उदाहरणों का अर्थ कितना मनोरंजक और ज्ञानवर्धक है, यह बात पंडित जी से बात करने पर स्पष्ट होती थी।

पंडित जी संस्कृत व्याकरण के निष्णात विद्वानों में से थे। उसमें उनका मन खूब रमता था। इसका प्रसंग उठते ही वे आत्माराम हो जाते थे। बीमारी की अवस्था में भी वे घूम-फिरकर इसी विषय पर आ जाते थे। कभी मैं रोकना चाहता तो कहते, नहीं मुझे कोई कष्ट नहीं हो रहा है। सचमुच ही व्याकरण और भाषाशास्त्र की बातों से उन्हें आराम मिलता था। वे ऐसे अवसर पर अपने आपको और अपने कष्टों को एकदम भूल जाते थे।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य का भी उन्होंने बड़ा गंभीर अध्ययन किया था। परंतु मेरे साथ जब कभी वे बात करते थे तो घूम-फिरकर पाणिनि के

व्याकरण पर आ जाते थे। अपभ्रंश की चर्चा करते मैंने उन्हें केवल एक बार सुना है; सो भी मेरे एक विद्यार्थी के लिखे एक लेख की त्रुटियों को बताने के उद्देश्य से। ऐसा जान पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य उनका वैसा प्रिय विषय नहीं था जैसा पाणिनि व्याकरण या भाषाशास्त्र। हिंदी साहित्य की भी चर्चा वे कम ही करते थे। मैं जब जब उनसे मिला, तब तब उन्हें संस्कृत के गाढ़ अनुरागी के रूप में ही पाया। संस्कृत के साहित्य के किसी अंग की चर्चा छिड़ते ही वे मगन हो जाया करते थे।

कम लोग जानते हैं कि पंडित जी ने आयुर्वेदीय ग्रंथों का भी मंथन किया था। उन्हें इस चिकित्सा-पद्धति पर बड़ा विश्वास था। अपने रोगों का निदान और चिकित्सा वे स्वयं कर लेते थे। गुग्गुलु के प्रयोगों पर उनका बड़ा भारी विश्वास था। मैं भी वातरोगी था और जब कभी वातरोग का प्रसंग उठता था—और समानधर्मा रोगियों में अपने रोग की चर्चा किसी-न-किसी बहाने हो ही जाया करती है—तो मुझे गुग्गुलु-सेवन की सलाह देते थे। गुग्गुलु-सेवन के लिये वे प्रातःकाल चाय भी लिया करते थे। इस अनुपान के चुनाव के कारण पंडित जी की विवेकबुद्धि पर मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई थी!

एक बार बातचीत के प्रसंग में मेरे मुह से 'प्रज्ञापराध' शब्द निकल गया। पंडित जी बहुत प्रसन्न हुए। बोले, आपको यह शब्द कैसे मालूम हुआ। उनके प्रश्न से मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, मैं तो इस शब्द को बहुत दिनों से जानता हूँ। मेरे परिवार में कई अच्छे वैद्य हैं। उनके मुख से मैंने यह शब्द सुना होगा। पंडित जी को बहुत आनंद आया और वे चरकसंहिता में प्रयुक्त हुए अर्थगर्भ शब्दों पर विचार करने लगे। देर तक वे इस विषय पर जमे रहे। फिर बोले, आखिर चरक भी तो पतंजलि के ही एक रूप हैं। मैंने विनोद करते हुए कहा—अब आप फिर पाणिनि की ओर लौट रहे हैं। पंडित जी ने इस विनोद का खूब रस लिया। देर तक हँसते रहे।

अलंकारशास्त्र में भी उनकी बड़ी गति थी। पर उसके भी व्याकरणवाले अंश की ओर उनका झुकाव अधिक था। नाट्यशास्त्र का उन्होंने बड़ी सावधानी से अध्ययन किया था।

जब कभी पंडित जी के असाधारण पांडित्य की याद आती है तभी मनमें बड़ी वेदना होती है। मैंने कई विद्यार्थियों से कहा था कि पंडित जी की बातों को

नोट कर लिया करो और उन्हें बाद में दिखाकर संशोधन करा लो। पर यह बात हो नहीं सकी। अंतिम दिनों में उनकी इच्छा ग्रंथ लिखने की थी। पर विधाता को यह मंजूर नहीं था। वे बड़ी जल्दी महाकाल के दरबार में बुला लिए गए। विशाल ज्ञान का भांडार सदा के लिये हाथों से निकल गया।

पंडित जी सच्चे अर्थों में तपस्वी थे। मौन साधना का ऐसा उदाहरण कम मिलेगा। सब प्रकार के प्रपंचों से दूर रहकर ऐकांतिक निष्ठा के साथ अध्ययन और अबाध भाव से विद्यार्थियों को वितरण—ये ही दो कार्य उन्होंने अपने जीवन में किए। उनकी स्मृति मात्र से हृदय में प्रेरणा का संचार होता है। वे आदर्श अध्यापक थे—सहज ज्ञानी, अकातर दानी और सदा ग्रहण करने को तत्पर।

—(डा०) हजारीप्रसाद द्विवेदी

दुर्लभ पुरुषरत्न

श्री काशीपुरी के भदैनी (भद्रवनी) महाल में ब्राह्मणों की प्राचीन बस्ती है। इसमें घृत कौशिक गोत्रीय मिश्र घराना अत्यंत प्रतिष्ठित है जिसमें एक से एक बड़े विद्वान् होते चले आए हैं। इसी घराने के एक महापुरुष पेशवा के यहाँ राजवैद्य थे। उनके विषय में सुना जाता है कि वे छः महीने पहिले मृत्यु संबंधी भविष्यवाणी कर दिया करते थे और कभी अंतर नहीं पड़ता था। मैंने पं० भगवतीप्रसाद मिश्र को देखा है जिन्हें इस वंश का भूषण कहना चाहिए। बड़े अनुभवी पीयूषपाणि वैद्य थे। श्री केशवप्रसाद मिश्र इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र थे।

केशवजी मेरे बाल्य सखा थे। ये महात्मा बचपन में बड़े चंचल और बहुरंगी थे, खेल में ही अधिक चित्त देते थे; पर स्मरण-शक्ति उस समय भी बड़ी प्रखर थी। तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था में यकायक उनमें परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। उनकी प्रवृत्ति विद्याभ्यास की ओर हुई। फिर तो खेलकूद एकदम बंद हो गई। एकांत में बैठकर लघुकौमुदी कंठ करते दिखाई पड़ते। थोड़े ही दिनों में संस्कृत में पद्यरचना करने लगे। मुझे वह बात आज भी नहीं भूलती जब म० म० पं० शिवकुमार शास्त्री के पुत्र के विद्या-विहीन होने की चर्चा हो रही थी और ये महात्मा अकस्मात् बोल उठे थे—'पुत्रः शिवकुमारस्य सूर्यस्येव शनैश्चरः'। बड़े बूढ़े सभी हस पड़े। सबने इनकी प्रतिभा की प्रशंसा की। उस समय इनकी अवस्था चौदह-पंद्रह वर्ष से अधिक न थी। पं० देवीदत्त जी वैयाकरण-केसरी तथा पं० योगेश्वर झा जी से इन्होंने व्याकरण का अध्ययन किया। अंग्रेजी में भी इन्होंने

अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। प्राकृत, पाली तथा विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन किया था।

इनकी विद्या जैसी थी, मैं कहूँगा कि वैसी ख्याति इनकी नहीं हुई। कारण यही था कि इन्होंने कभी अपनी ख्याति के लिये प्रयत्न नहीं किया। बड़े ही नम्र और विनयी थे। शत्रु तो इनका कोई था ही नहीं। इनके चमत्कृत गुणों को देखकर कहना पड़ता है कि इस काल में ऐसे पुरुषरत्न दुर्लभ हैं।

—**विजयानंद त्रिपाठी**

आदर्श मानव

जो कोई भी व्यक्ति आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के निकट संपर्क में गया होगा वह उनसे प्रभावित हुए बिना न रहा होगा। उनमें कौन-सी विशेषता थी जिसका प्रभाव लोगों पर पड़ता था? सर्वप्रमुख स्थान उनके स्वाध्याय का है जिसके कारण अन्य गुण उनमें स्वतः एकत्र हो गए थे। वे उसी प्रकार तपःस्वाध्याय-निरत रहते थे जैसे एक तपस्वी को होना चाहिए। इन पंक्तियों के लेखक को उसके जीवनकाल में संस्कृत वाङ्मय के सभी विषयों का इतना बड़ा मर्मज्ञ अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

आचार्य की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। जिस प्रकार वे कुशल अध्यापक थे उसी प्रकार प्रभावशाली वक्ता और सिद्धहस्त लेखक भी। छात्रावस्था में जब वे सांगवेद विद्यालय (नगवा, काशी) में अध्यापन-कार्य भी किया करते थे तब उसी विद्यालय के वार्षिकोत्सव में उनके संस्कृत भाषण से मुग्ध होकर स्वर्गीय म० म० पं० शिवकुमार शास्त्री ने सभापति-पद से उनको साधुवाद देते हुए भविष्य-वाणी की थी कि यह व्यक्ति आगे चलकर संस्कृत वाङ्मय का प्रकांड विद्वान् होगा। कुछ ही दिनों बाद उनकी यह वाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई—'...न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि'।

संस्कृत व्याकरण का अर्थांश इतना सूक्ष्म है कि जो व्यक्ति उस विषय का अध्ययन-अध्यापन निरंतर किया करता है उसी का उसपर अधिकार रहता है। परंतु आचार्य जी को वह विषय इतना स्पष्ट तथा हृदयंगत था कि जब कभी कोई व्यक्ति किसी भी स्थल पर किसी भी प्रकार की शंका करता तो वे बड़ी सुगमता से उसका निराकरण कर दिया करते थे। व्याकरण की चर्चा तो केवल स्थाली-

पुलाक-न्याय से की गई, यों साहित्य, दर्शन, आयुर्वेद, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र तथा वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि सभी विषयों पर उनका पूर्ण अधिकार था।

यों तो संसार में सभी विषयों के एक से एक धुरंधर विद्वान् भरे पड़े होंगे, परंतु आचार्य जी की विशेषता यह थी कि वे दुरूहातिदुरूह विषयों को ऐसी शैली में उपस्थित करते थे कि वे विषय अधिकारी के हृदय में सदा के लिये स्थान कर लेते थे। वे बहुधा कहा करते थे कि—'भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये'। अर्थात् वे पुरुष धन्य हैं जो अपने हृदय के भावों को वाणी द्वारा व्यक्त कर देते हैं।

आचार्य जी को आडंबर में जरा भी रुचि न थी। वे तड़क-भड़क पसंद न करते थे। उनका कहना था—'गुणेषु यत्नः क्रियताम् किमाटोपैः प्रयोजनम्। विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः॥' अर्थात् मनुष्य को गुणोपार्जन के लिये प्रयत्न करना चाहिए, आडंबर से कोई लाभ नहीं होता। बिना दूध की गाय केवल अलंकृत होने से बेंची नहीं जा सकती। उनका विचार था कि मनुष्य को 'अनुल्वणवासाः' होना चाहिए, अर्थात् सभ्य पुरुष का परिधान ऐसा होना चाहिए कि लोगों की दृष्टि हठात् उसपर आकृष्ट न हो।

श्रद्धेय आचार्य जी जिस प्रकार उच्च कोटि के मनीषी थे उसी प्रकार अति विनीत स्वभाव के भी थे। परंतु उनमें आत्म-सम्मान की कमी न थी। मेरी तो धारणा है कि उन्होंने अर्थ-लाभ की दृष्टि से कभी किसी के सामने अपनी दीनता नहीं प्रकट होने दी। वे प्रायः कहा करते थे कि 'वयं नो ते विप्राः प्रतिदिवसमासाद्य कृपणात्। धनं ये याचन्ते परिगणितनक्षत्रतिथयः॥' अर्थात् मैं वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ जो धनिकों के पास जाकर तिथि-नक्षत्र बतलाकर द्रव्य माँगा करते हैं। उनका विचार था कि ब्राह्मण की मानहानि को उसका वध ही समझना चाहिए—'आज्ञा-भङ्गो नरेन्द्राणां विप्राणां मानखण्डनम्। पृथक् शय्या कुलस्त्रीणामशस्त्रविहितो वधः॥' अर्थात् राजाज्ञा की अवज्ञा, ब्राह्मणों की मानहानि तथा कुलांगनाओं का गृह के बाहर वास बिना शस्त्र का वध है। अतः ब्राह्मण को अपनी मान-मर्यादा की रक्षा का सतत ध्यान रखना चाहिए।

जब वे सेंट्रल हिंदू स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे तब वहाँ का अधिकारि-वर्ग उनकी योग्यता तथा कार्यकुशलता से प्रभावित होकर उनकी पद-वृद्धि का

विचार करने लगा। उस अवसर पर आचार्य जी के एक सहयोगी को बड़ी चिंता हुई कि इनके कारण मेरी उन्नति में बाधा पड़ जायगी। अतः अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने इसका विरोध करना प्रारंभ किया। इसकी सूचना आचार्य जी को भी मिली। उस समय वे सज्जन वहाँ उपस्थित थे। आचार्य जी ने बड़ी गंभीर मुद्रा में कहा—

अस्मिन्नम्भोदवृंदध्वनिजनितरुषि प्रेक्षमाणेऽन्तरिक्षम्
मा काक व्याकुली भूस्तरुशिरसि शवक्रव्यलेशानशान।
धत्ते मत्तेभकुम्भव्यतिकरकरजव्यासवज्राग्रजाग्रद्—
ग्रासव्यासक्तमुक्ताधवलितकवलो न स्पृहामत्रसिंहः॥

कोई कौआ वृक्ष की चोटी पर बैठकर शव-मांस का एक टुकड़ा खा रहा था। उस वृक्ष के नीचे एक सिंह विश्राम कर रहा था। इतने में आकाश में मेघगर्जन हुआ। सिंह ने समझा कि दूसरा सिंह गरज रहा है। वह क्रुद्ध होकर ऊपर की ओर देखने लगा। कौआ यह सोचकर कि वह मांस के टुकड़े के लिये ऊपर की ओर देखकर रुष्ट हो रहा है, व्याकुल होने लगा। कौए तथा सिंह की दशा देखकर किसी समझदार व्यक्ति ने कहा कि 'रे मूर्ख कौए, तू व्यर्थ क्यों व्याकुल हो रहा है? यह सिंह तो मत्त गजराज के गंडस्थल को विदीर्ण कर सद्यःप्राप्त गज-मांस का भक्षण करनेवाला है, तेरे मांस के टुकड़े को नहीं चाहता, तू निःशंक भक्षण कर। तात्पर्य यह कि आचार्य जी का चरम लक्ष्य संस्कृत का प्रधानाध्यापक हो जाना नहीं था, प्रत्युत उनका पूर्ण विश्वास था कि 'यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम्। न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते॥' उनसे तो काशी विश्व-विद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष-पद को सुशोभित होना था, प्रधानाध्यापक-पद के लिये वे क्यों चिंतित होते—यद्यपि उस समय भी उक्त पद उन्हीं को प्राप्त हुआ।

संस्कृत भाषा पर उनका सा अधिकार स्यात् किसी का रहा हो। उनके कानों में अपशब्द अनायास काँटे की तरह चुभ जाते थे। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अशुद्धि भी उन्हें तत्क्षण खटक जाती थी। महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री के निधन पर काशी के एक लब्धप्रतिष्ठ कवि महोदय ने शोकांजलि प्रकाशित की थी। उसके एक पद्य में—लेखक को वह स्मरण नहीं—'दैव' शब्द का प्रयोग पुंलिंग में हो गया था, परंतु अपेक्षित अर्थ में उसे नपुंसक लिंग का होना चाहिए था। जब

आचार्य जी ने उसे पढ़ा तो उन्होंने कहा कि यह अशुद्ध है। इसकी सूचना कवि महोदय को प्राप्त हुई तो पहले बड़े अप्रसन्न हुए और उपेक्षा से कह दिया कि वे क्या अशुद्धि निकाल सकते हैं? परंतु बाद में उनको ज्ञात हुआ कि वास्तव में यह प्रयोग अशुद्ध ही है। तब वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आचार्य जी के निवासस्थान पर आकर उन्हें हार्दिक आशीर्वाद दिया।

इतने गुणों के आकर होते हुए भी आचार्य जी अपनी ख्याति को जीवित रखने में सदैव निश्चेष्ट से रहे। उनका यशःशरीर तो उनकी शिष्य-परंपरा द्वारा चिरस्थायी रहेगा, परंतु खेद है कि अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता को ग्रंथरूप में प्रकाशित करने की ओर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया। संतोष केवल इस बात से होता है कि भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी हुई उनकी सैकड़ों टिप्पणियों की पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं और आशा की जाती है कि कभी न कभी उनका तारतम्य ठीक करके प्रकाशन भी हो जायगा और इससे भी लाभ अवश्य होगा।

—राधारमण

स्वाध्याय एवं सहृदयता की मूर्ति

तप, स्वाध्याय और चिंतन के प्रतिभाधर विग्रह श्री केशवप्रसाद मिश्र की जन्मभूमि काशी है। काशी में भी काशी का वह भाग जिसे शस्त्र और शास्त्र के, प्रतिभा और प्रेरणा के आकर अनेक नरपुंगवों ने अपने आविर्भाव से वीर-विद्वत् परंपरा का एक छोटा-सा तीर्थ बना डाला है। भारत में दुर्मद अँगरेजी राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह का प्रथम खड्ग उठानेवाली वीर-शिरोमणि महारानी लक्ष्मीबाई भी भद्रवनी (भदैनी) के उसी मुहल्ले में उत्पन्न होकर उसका गौरव बढ़ा गई हैं। देश के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने जिस ठाँव बैठकर राम-चरितमानस की रचना की, उसी पुण्य ऐतिहासिक पड़ोस में संवत् १६४२ विक्रमाब्द की मधु कृष्णा सप्तमी को केशव जी ने जीवन में पहला चरण रखा। इनके पूर्वज इस मुहल्ले के बहुत प्राचीन निवासी थे। वे गोस्वामी जी से भी कुछ पूर्व अथवा उसके आसपास यहाँ आ चुके थे, क्योंकि तुलसीदास जी के मित्र टोडर के प्रसिद्ध पंचनामे पर, जिसपर महाकवि के हस्ताक्षर हैं, इनके पूर्वजों के भी नाम हैं। इनके पूर्वजों का आदि स्थान बस्ती जिलांतर्गत धर्मपुरा है। वहाँ से वे पहली बार भदैनी में आकर उस जगह बसे जहाँ पंपिंग स्टेशन है। जब वह भूमि वाटरवर्क्स

की सरकारी योजना में चली गई तब लाचार होकर परिवार-समेत वहाँ चले आए जहाँ आजकल उनका घर है।

केशव जी के पिता का नाम श्री भगवतीप्रसाद मिश्र था। वे काशी के एक अच्छे वैद्य थे। केशव जी के जीवन के आरंभिक चौदह वर्ष खेलकूद में बीते। कहा जाता है बचपन में उनकी पतंग उड़ाने में बड़ी अभिरुचि थी। इसके लिये उन्हें अनेक बार डाँट-फटकार भी सुननी पड़ती थी। चौदह वर्ष की आयु में उन्होंने पढ़ना आरंभ किया। संस्कृत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के विद्वान् पं० यागेश्वर झा ने उन्हें व्याकरण का ठोस आरंभिक अध्ययन कराया। उसके बाद क्रम से जयनारायण स्कूल और राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (क्वींस कालेज) में शिक्षा प्राप्त की। घर की आर्थिक स्थिति पुष्ट न होने के कारण उच्च शिक्षा प्राप्त करने से कुछ पूर्व ही जीवोपाय के अर्थ उन्हें नौकरी करनी पड़ी। घर के अध्ययन के सहारे उन्होंने इंटरमीडियट बोर्ड से आइ० ए० की परीक्षा पास की। वेदांत, साहित्य, दर्शन आदि विविध विषयों का अध्ययन जिन आचार्यों के सन्निकाश में किया उनमें श्रीमाधवाचार्य, श्री रामशास्त्री, महामहोपाध्याय श्री गंगाधरशास्त्री, तथा श्री दामोदरलाल गोस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्हें ज्ञान की, विद्या की, भूख थी। जहाँ भी ज्ञानोपलब्धि का अवसर दिखाई पड़ता, वहीं वे पहुँच जाते। स्वयं बिना किसी गुरु के सहारे उन्होंने बँगला, गुजराती, पाली, फारसी, जर्मन, ग्रीक, फ्रेंच तथा लैटिन आदि भाषाओं का भी अध्ययन किया।

अध्यापन-कार्य का श्रीगणेश केशव जी ने काशी-विद्यापीठ के प्रथम संस्कृत अध्यापक अपने गुरु श्री यागेश्वर झा की 'बाल-पाठशाला' में किया। उसके अनंतर कुछ दिन तक श्री शिवकुमार सांगवेद विद्यालय (नगवा) में व्याकरण पढ़ाते रहे। सन् १९१४ से १९१६ तक ये इटावा सनातन-धर्म हाई स्कूल में अध्यापन-कार्य करते रहे। उसके बाद स्थानीय सेंट्रल हिंदू स्कूल में आए, जहाँ बड़ी ही योग्यतापूर्वक इन्होंने लगातार १२ वर्ष २१ दिन तक अध्यापन किया। इनकी अध्यापन-शैली की प्रशंसा महामना मालवीय जी के कानों तक पहुँची और उन्होंने सन् १९२८ में इन्हें विश्वविद्यालय की सेवा करने के लिये बुला लिया। ये हिंदी-विभाग में प्राध्यापक-पद पर नियुक्त हुए और १९४१ तक उक्त पद की शोभा बढ़ाते रहे। इनके पढ़ाने का ढंग अत्यंत सुंदर था। विद्यार्थी इनकी पढ़ाई से सदा प्रसन्न और परितृप्त रहते। अध्यापन-कला की एक ऊँची

परंपरा केशव जी छोड़ गए हैं। वे आदर्श अध्यापक थे—वैसे ही, जैसे वे निष्णात विद्वान् थे। सन् १९४१ से १९५० तक वे हिंदी-विभाग के अध्यक्ष रहे। डा० श्यामसुंदरदास जी ने अपने जीवनचरित में पंडित जी के ज्ञान-गांभीर्य और शील की प्रशंसा की है। वे विश्वविद्यालय की कोर्ट, सिनेट, सिंडिकेट आदि विभिन्न सभाओं के सदस्य तथा फैकल्टी ऑव आर्ट्स के डीन भी थे। काशी विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टर की सम्मानित उपाधि देकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय भी दिया; पर हंत! अस्वस्थता ने उन्हें उपाधि-वितरण-उत्सव में जाने से वंचित रखा और विश्वविद्यालय की वह डिग्री कागज पर ही धरी रह गई! तब तक पंडित जी गंगाधर-धाम पहुँच गए!

पंडित जी प्रचार तथा आत्म-विज्ञापन से बहुत दूर रहते थे। यही कारण है कि उनकी सेवाओं से समाज उतना परिचित नहीं है जितना होना चाहिए। नाम और यश की लिप्सा से वे कभी ग्रसित न हुए। उन्होंने साहित्य की नीरव साधना की। भाषाशास्त्र के गिने-चुने विद्वानों में उनकी गणना की जा सकती है। शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में उनकी सूझ बड़ी निर्विकल्प थी।

सन् १९२३ में उन्होंने कालिदास के मेघदूत का पद्यबद्ध अनुवाद किया, जो साहित्य में अनूठा है। ऐसा अनुवाद उस कृति का अब तक नहीं हुआ है। उसकी भूमिका में रस-सिद्धांत की जो एक स्थापना 'मधुमती-भूमिका' नाम से की गई है वह साहित्यशास्त्र की स्थापनाओं के इतिहास में एक बड़ी घटना मानी जाती है। उनके 'उच्चारण' तथा '?' (प्रश्न-चिह्न) नामक निबंध साहित्य की मूल्यवान् निधियाँ हैं। उनके सफल निबंधकार होने के वे प्रमाण हैं। 'इंडियन ऐंटीक्वेरी', जिल्द ५९ सन् १९३० में 'डाक्टर कीथ ऑन अपभ्रंश' नामक लेख भी इस प्रसंग में उल्लेख के योग्य है। उनकी एक पुस्तक है 'हिंदी वैद्युत शब्दावली'। यह एक अँगरेजी-हिंदी कोश है। वैद्युत शब्दावली का प्रकाशन १९२५ ई० में हुआ था। पंडित जी की हिंदी-सेवा तो अनुकरण की वस्तु रही। शिष्योपशिष्यों की परंपरा की उत्तरोत्तर संवर्द्धमान एक लड़ी वे छोड़ गए हैं। उसमें ज्ञान और प्रज्ञा के अगणित प्रसून खिलते जायँगे। वे विद्या-वितरण के विनिर्मुक्त केंद्र थे—स्वयं एक संस्था। उनका घर भगवती वीणापाणि का एक साधनालय था। उन्होंने बड़े बड़े ग्रंथों और पाठ्य पुस्तकों के दोनों छोरों पर अर्थ-स्थापना संबंधी जो नोट लिखे हैं वे सिद्धांत और अर्थोन्मेष के परमोपयोगी

सूत्र हैं। उनके आधार पर विमर्श और अर्थप्रबोध के प्रामाणिक ग्रंथ प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

केशव जी का भाषण साहित्य-माधुर्य का अखंड प्रवाह, प्रांजलता और प्रसादपूर्ण ओज का स्वच्छ निर्झर, होता था। वे अत्यंत तन्मय होकर विषय से एकरस होकर बोलते थे। विचारों के वैभव से पूर्ण उनकी वाणी से (वक्तृता में) काव्य की सरसता झरती थी। वे साहित्य बोलते थे। उनका हृदय बड़ा विमल था। राग-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा से कोसों दूर रहते। निंदा-कुत्सा से योजनों दूर। रहन-सहन सीधा-सादा था। मन, वाणी, भाषा और वेष "मनसा धवलम्, वचसा धवलम्, वपुषा धवलम्" के अनुसार नितांत स्वच्छ और उज्ज्वल। श्वेत खादी का कुरता तथा देशी सिल्क का दुपट्टा धारण करते थे। कभी-कभी बंद गले का कोट भी। सहज हास से भरा सौम्य और शांत मुखमंडल, जिसपर उद्वेग की रेखाएँ कभी खिंच ही न पाईं। आत्मविश्वास, शील और सुसंस्कृत अभिरुचि के वे एक आदर्श नागरिक थे। संगीत और कला से बड़ा प्रेम था। पक्षियों में लाल और कबूतर जिलाने, उन्हें खिलाने-पिलाने में, उनके चहकने और कूजने में बड़ा रस लेते थे। कविताएँ उन्होंने थोड़ी ही की हैं। 'सरस्वती' तथा 'इंदु' में बहुत पहले छप चुकी हैं। 'दरिद्र विद्यार्थी' तथा 'शिवा जी का उत्तर' शीर्षक रचनाएँ भाषा और भाव की दृष्टि से बड़ी प्रभावशालिनी हैं। मुगल सुंदरी को कुछ क्षण तक एक-टक निहारने पर जब महाराज छत्रपति शिवा जी को उस सुंदरी ने ताना दिया कि आप जैसे युग-शूर को यह शोभा नहीं देता, तो महाराज ने जो उत्तर दिया उसे केशव जी के ही शब्दों में सुनिए—

> "कहीं आप सी मेरी माता होतीं यदि शोभा की धाम
> तो मैं होता नहीं वीर ही, किंतु रूप में भी अभिराम।"
> सुनकर इस उदार उत्तर को राजनंदिनी उठी पुकार,
> "धन्य धन्य हो! धन्य शिवाजी! धन्यवाद है बारंबार॥"

सरस्वती की शक्ति के दो रूप हैं—एक कवि, दूसरा सहृदय। पंडित जी सहृदय की एक मूर्तिमती परिभाषा थे। अभिनवगुप्त ने ऐसे ही विद्वान् सहृदयों की ओर इस पंक्ति में संकेत किया है—"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरेऽवर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।"

उनकी उस सहृदयता का परिचय तथा रसास्वादन का लाभ जिन्हें हुआ है वे आज भी उसकी मीठी स्मृति से पुलकित हो उठते हैं। महामना एवं शुक्ल जी आदि के संस्मरण इनकी लेखन-शैली की विशिष्टता के द्योतक हैं। श्री महावीर-प्रसाद द्विवेदी पर लिखा गया लेख भी अपूर्व है।

पंडित जी के बंधुओं और मित्रों की गणना उँगलियों पर की जा सकती है। पाँच भाइयों में ये ज्येष्ठ थे। पहले के घनिष्ठ मित्रों में श्री श्यामबिहारी भटेले, तदनंतर श्रीराधाकांत जी और पंडित रामदहिन मिश्र के नाम उल्लेख योग्य हैं। स्वर्गीय श्री जयशंकरप्रसाद, श्री रामचंद्र शुक्ल और बाबू राधेकृष्णदास से तथा श्री राय कृष्णदास, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री श्रीनिवास जी, और डाक्टर धीरेंद्र वर्मा से बड़ी मित्रता थी। नागरीप्रचारिणी पत्रिका के विद्वान् संपादक-मंडल के पंडित जी प्रमुख सदस्य रहे।

पंडित जी का विवाह संवत् १९६३ ई० में हुआ था। उस समय उनकी आयु उन्नीस वर्ष की थी। उनके एक ही पुत्र हैं श्री महावीरप्रसाद मिश्र। उन्होंने पिता की भक्ति में कई हजार पुस्तकों का उनका भांडार 'श्री केशव-स्वाध्याय-मंदिर' को दान दिया है। पुस्तकालय और स्वाध्याय-मंदिर के लिये पीछे की सारी भूमि भी दे दी है। साहित्यिक साधना के नाम पर चिंतन की प्रेरणा और स्वाध्याय की सामग्री अनुशीलन करनेवालों को मिलती रहे और काशी में लोकप्रिय विद्वद्-गुरु-परंपरा सदा की भाँति प्रतिष्ठित रहे, यही उनके जीवन का लक्ष्य और संदेश है। ऐसा ही जीवन उन्होंने आचरित किया। स्वाध्याय के वे दृढ़व्रती थे। शिष्टता और मर्यादा के प्रतीक थे। उनकी महत्ता यह है कि उन्होंने अनेक साहित्यकार बनाए, अनेक विद्वानों और कवियों को प्रेरणा के सूत्र दिए। एक ऐसी परंपरा की सृष्टि की जिसकी छाया में अहरहः अप्रबुद्ध हृदयों के क्षितिज पर ज्ञान का अरुणोदय होगा। उनका सारा जीवन रोग और पारिवारिक विपन्नताओं से संघर्ष में ही बीत गया। जब उनपर विजय पाई, जब इस योग्य हुए कि अपने विचार-वैभव का कोष लुटा सकें, तब भगवान के घर उनकी आवश्यकता बढ़ गई। उनकी अधिकांश मंगलमयी विचार-विभूतियाँ उनकी भौतिक चेतना के संग-संग भूतभावन में निलीन हो गईं।

—राजेंद्रनारायण शर्मा

भारती के अनन्य साधक

आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र भारती के अनन्य 'साधक', परिपक्क 'सिद्ध' और सम्मानित 'सुजान' थे। हिंदी का आधुनिक युग उनके कृतित्व से पुष्ट और समृद्ध हुआ है। आचार्य के उस कृतित्व का विचार करने के लिये कई बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं। वे साहित्य-सेवा को साधना मानते थे। इसी से साथियों और शिष्यों के साथ अभेद-भाव से भाषा और साहित्य की सेवा में लीन रहते थे। कोश, व्याकरण, इतिहास, आलोचना और साहित्य सभी के निर्माण में पंडित जी का सहयोग विद्यमान है। उस युग के धुरंधर बाबू श्यामसुंदर दास, पंडित रामचंद्र शुक्ल महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझा, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, महाकवि जयशंकर प्रसाद, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० कामताप्रसाद गुरु आदि केशव जी के इस 'योग' का बहुत मान करते थे।

पंडित जी जिस प्रकार मौन सेवा में आनंद लेते थे, उसी प्रकार उन्हें अपने संबंध में भी मौन रहना अच्छा लगता था। दो बार ऐसे अवसर आए जब उनसे आग्रह किया गया कि वे अपना परिचय प्रकाशित हो जाने दें, पर उन्होंने दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। साथियों से कहा कि सेवक का सच्चा परिचय दो ही ढंग से मिलता है---एक तो उस परंपरा द्वारा जिसे वह अपने उत्तराधिकारियों को दे जाता है, और दूसरे उसकी उन सरल कृतियों द्वारा जो उसकी शुद्ध और प्रबुद्ध भूमिका का फल होती हैं।

लिखने के संबंध में पंडित जी ने 'सत्याय मितभाषिणाम्' तथा 'आपरितोषाद् विदुषाम्' इन दो सूत्रों को अपनाया था। उनका मत था कि सत्य को व्यक्त करना हो तो कम लिखना चाहिए और जो लिखा जाय वह ऐसा होना चाहिए कि उससे विद्वानों का परितोष हो। इसी से उन्होंने लिखा तो बहुत कम, पर जो लिखा वह हिंदी की निधि बन गया।

हिंदी शब्दसागर का संपादन—हिंदी शब्दसागर काशी नागरीप्रचारिणी सभा की ऐतिहासिक कृति है। उसमें आचार्य के मौन सहयोग का विश्लेषण न कर केवल प्रकट और प्रत्यक्ष को देखा जाय तो भी उनका कृतित्व स्पष्ट हो जाता है। बड़े शब्दसागर के दूसरे संस्करण में व्युत्पत्ति-भाग का संशोधन-कार्य उन्हें सौंपा गया था। मुझे भी सभा की ओर से इस कार्य में गुरु जी का साथ देने का आदेश

मिला था। उन्होंने दो जिल्दों पर कुछ टिप्पणियाँ की थीं और कुछ विचार और कुछ सुझाव सभा को लिख भेजे थे। उदाहरण के लिये केवल दो शब्दों पर लिखी हुई टिप्पणियाँ यहाँ दी जाती हैं—

(१) 'अहिवात' (पृ० २०२) पर कोष्ठक में व्युत्पत्ति लिखी है—(सं० अभिवाद्य प्रा० अहिवाद)। पंडित जी ने काटकर लिखा है 'अविधवात्व'। पंडित जी ने अर्थविचार और ध्वनिविचार दोनों की परंपरा दिखाकर इस व्युत्पत्ति का समर्थन किया था। कालिदास में 'अविधवा' शब्द का विध्यात्मक अर्थ है, निषेधात्मक नहीं। और वह मंगलवाचक अर्थ आज भी हिंदी के इस तद्भव शब्द में जीवित है।

(२) 'साध' (पृ० ३५०६) की व्युत्पत्ति लिखी हुई है 'उत्साह'। पंडित जी ने काटकर लिखा है 'श्रद्धा'। उन्होंने इस शब्द का भी मनोरंजक भाषावैज्ञानिक इतिहास सुनाया था। मुझे अच्छी तरह स्मरण है, दो दिन इसी एक शब्द के चिंतन में बीते थे। प्राचीन काल में श्रद्धा के कई अर्थ होते थे—(१) गर्भिणी की इच्छा, (२) आत्मा की इच्छा, इत्यादि। आज देशभाषाओं में भी वह अर्थ-परंपरा जीवित है। इसी लिये पंडित जी कहा करते थे कि हिंदी का कोश पूर्ण तब होगा जब अन्य प्रांतीय भाषाओं की परस्पर तुलना वाली प्रक्रिया अपनाई जाय।

कुछ शब्दों पर पंडित जी ने दूसरे प्रकार की टिप्पणियाँ दी हैं। कहीं प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है और कहीं पुनर्परीक्षण करने के लिये संकेत बना दिया है। इन टिप्पणियों से हिंदी शब्दसागर के संशोधन में लाभ उठाया जा सकता है। संक्षेप में पंडित जी ने कुछ बातें स्थिर की थीं। यथा—उनका पहला सूत्र था 'अर्थं नित्यं परीक्षेत'। पहले अर्थ स्थिर होने पर ही शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित की जा सकती है, अतः शब्दसागर में दिए हुए अर्थों का पुनर्परीक्षण होना चाहिए। इसके लिये भी पहले एक सर्वांगपूर्ण हिंदी पुस्तकालय का होना अत्यावश्यक है। दूसरी आवश्यक बात वे यह समझते थे कि प्रत्येक शब्द के साथ उसकी विभाषा (ब्रज, अवधी, खड़ी, राजस्थानी) का नाम अंकित होना चाहिए। इसी प्रकार, जो शब्द साहित्य से नहीं लिए गए (यथा पारिभाषिक और व्यावहारिक शब्द) उनपर विशेष टिप्पणी चाहिए। इत्यादि। उनका निश्चित मत था कि इस पद्धति से सभा में एक स्वतंत्र कोश-विभाग नित्य कार्य करता रहे, तभी राष्ट्रभाषा का यह शब्द-सागर-मंथन संभव होगा।

पदावली का निर्माण—पंडित जी ने शब्दों की व्युत्पत्ति खोजने में जिस प्रकार मनोयोग से काम किया उसी प्रकार शब्दावली के निर्माण में भी पथप्रदर्शक का कार्य किया। इस कार्य द्वारा वे सदा साहित्यिकों तथा संस्थाओं की सहायता किया करते थे। सन् १९२५ में उन्होंने हिंदी वैद्युत शब्दावली प्रस्तुत की थी, जो उनकी एक महत्त्वपूर्ण देन है। अब तो सभी लोग वैज्ञानिक पदावली का महत्त्व समझ रहे हैं। इस शब्दावली की भूमिका में पंडित जी ने 'नामकरण' तथा शब्दनिर्माण पर भी विचार प्रकट किए हैं। उनका यह काम जीवन भर चलता और आगे बढ़ता गया। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत पदावली में उनका उल्लेखनीय योग रहा। सामान्य व्यवहार की पदावली में भी पंडित जी का इतिहास अंकित है। यथा, प्रायः सूचनाओं में छपता था 'आप की उपस्थिति प्रार्थनीय है'। पंडित जी ने इसे सुधार कर 'प्रार्थित' शब्द चलाया। ऐसे शब्दों के तो वे आकर माने जाते थे। स्वर्गीय जायसवाल जी कहा करते थे कि केशव जी 'जंगम शब्द-सागर' हैं।

पंडित जी का सबसे अधिक महत्त्व दिखाई पड़ता है उनकी उस पदावली में, जो हिंदी को साहित्यालोचन और भाषाविज्ञान के क्षेत्र में मिली। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं स्वर्गीय डा० श्यामसुंदरदास के साथ इन क्षेत्रों में काम किया था, अतः उसे ज्ञात है कि उस आरंभिक युग में पारिभाषिक पदावली का निर्माण आचार्य केशव जी की सहायता से हुआ था। एक एक शब्द के लिये पंडित जी अनेक ग्रंथ देखते और अनेक दिन लगा देते। यों तो स्वाध्याय और शब्द-निर्माण उनका नित्य का कर्म था, पर अपने इस शिष्य की सहायता करने के लिये वे चौबीस घंटे प्रस्तुत रहते थे।

पंडित जी का सिद्धांत था कि जो पारिभाषिक शब्द विदेशी भाषा से हिंदी में अनुवाद द्वारा लिया जाय उसकी पूरी अर्थपरंपरा पहले अच्छी तरह समझ ली जाय और जो हिंदी प्रतिशब्द स्थिर किया जाय उसकी भी परंपरा के निर्वाह का पूरा ध्यान रखा जाय, जिससे अपनी भाषा और भाव-संस्कृति की हानि न हो। उदाहरण के लिये, 'अलौकिक' और 'पारलौकिक' शब्द हिंदी में एक ही अर्थ देने लगे थे, पर पंडित जी ने इनपर बहुत विचार करके स्थिर किया कि अलौकिक का अर्थ है 'इंद्रिय-लोक से परे' और 'पारलौकिक' का अर्थ है 'दूसरे लोक से संबंध रखनेवाला'। इसी लिये साहित्यालोचन में 'सुपर-सेंसुअस' (Super-

sensuous) का अनुवाद किया गया 'अलौकिक', और 'सुपर-नेचुरल' (Super-natural) का अनुवाद हुआ 'पारलौकिक'। इसी प्रकार रस, संवेदन, साधारणीकरण, आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि शब्दों के अनुवाद में पंडित जी ने बहुत मंथन किया। वे कहते थे कि ये हमारी सांस्कृतिक परंपरा के भंडार हैं। इनका अज्ञान अथवा अपरिचय दुहरी हानि करता है . गलत अनुवाद करके एक ओर हम अपनी भाषा का अर्थ-गांभीर्य कम कर देते हैं और दूसरी ओर हम पश्चिम की ज्ञान-निधि को समझने में कच्चे सिद्ध होते हैं।

इतिहास—बाबू श्यामसुंदर दास जी हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास प्रस्तुत कर रहे थे। उस समय पंडित जी जिस मनोयोग के साथ इतिहास का अध्ययन और विवेचन करके उनकी सहायता करते थे उसका उल्लेख स्वयं लेखक ने किया है। आचार्य शुक्ल जी के इतिहास को केशव जी ने सहृदय और मर्मज्ञ की भाँति ध्यान से परखा था। जब मैं बाबू साहब के साथ हिंदी भाषा और साहित्य का संशोधन और परिवर्धन करने में दत्तचित्त था तब केशव जी ने कहा कि शुक्ल जी की जीवन-दृष्टि प्रत्यक्षवादी है। इसी का फल था कि बाबू श्यामसुंदरदास के इतिहास तथा साहित्यालोचन में परोक्षवादी और आध्यात्मिक दृष्टि को प्रधानता मिली। इसी दृष्टि के कारण आचार्य शुक्ल जी के विचारों से भिन्न विचार इस इतिहास में मिलते हैं—विशेष कर कला, रस, रहस्य और प्रकृति के संबंध में। आचार्य केशव जी का कहना यह था कि मानव-जीवन में यदि शरीर का ठोस अस्तित्व है तो आत्मा की सत्ता उससे भी अधिक महत्त्व की है। अतः साहित्य में मानस की भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का स्थान और मान होना चाहिए।

नागरीप्रचारिणी सभा ने जब आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास लिखवाने की योजना आचार्य केशव जी के सामने रखी तो वे बहुत प्रसन्न हुए कि इसी बहाने मैं अपने 'सत्परामर्श' द्वारा हिंदी की सेवा कर सकूंगा। उनसे परामर्श, संपादन और भूमिका-लेखन की प्रार्थना की गई थी। 'सत्परामर्श' शब्द द्वारा उन्होंने सब कुछ कह दिया था। परामर्श देने में उन्हें युग-निर्माण का आनंद आता था और लेखकजन परामर्श में ही उनसे सार ग्रहण कर लिया करते थे।

भारतीय इतिहास-परिषद् की ओर से जब सर यदुनाथ सरकार के संपादकत्व में इतिहास लिखा जा रहा था उस समय भी पंडित जी के परामर्श का सुफल मैंने देखा था। अंग्रेजी भाषा में अंकित करके सुयोग्य लेखक

होने का यश तो उनके इस शिष्य को ही मिला था, पर उसमें दृष्टि और शक्ति किसी आचार्य की छिपी हुई थी। उस ग्रंथ में केवल एक खंड 'अकबर युग में हिंदी साहित्य' नाम का लिखा गया था। जिन मर्मज्ञों ने उसे पढ़ा उन्होंने कहा कि इसी ढंग पर पूरे हिंदी साहित्य का इतिहास अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत होना चाहिए। यह भी आचार्य केशव जी की एक कामना थी। थोड़े में कहें तो पंडित जी ने इस क्षेत्र में भी अपने स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहित करने का यत्न किया। पश्चिमी आलोचक भक्ति और रीति की कविता को ठीक नहीं समझ सके थे। पंडित जी चाहते थे कि इनका स्वतंत्र आलोचन हो। इसी प्रकार रहस्यवाद के प्रति भी पंडित जी का विशेष झुकाव था। और सबसे बड़ी बात यह थी कि वे उत्तरोत्तर बढ़नेवाले आधुनिक साहित्य के प्रति बहुत अधिक सहृदय थे।

व्याकरण—व्याकरण उनका सबसे अधिक प्रिय विषय था। संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, हिंदी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के व्याकरणों का अध्ययन-अध्यापन उनके स्वाध्याय का अंग था। नीरस व्याकरण का अध्ययन उन्हें प्रिय था। इसी प्रेम ने उन्हें भाषाविज्ञान की ओर प्रवृत्त किया और उनकी स्वाभाविक सरसता ने ऐसे कठिन विषय को भी विद्यार्थियों के लिये सरल और सरस बना दिया। वे व्याकरण के निर्माण में योग देने का बराबर प्रयत्न करते रहे। संस्कृत व्याकरण के मर्मज्ञ तो वे पहले से ही माने जाते थे, पिछले दिनों में हिंदी भाषा-विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र में भी वे प्रमाण पुरुष माने जाते थे। पं० कामता-प्रसाद गुरु का व्याकरण बनने के समय पंडित जी केवल सुझाव और आलोचना से तृप्त हो जाते थे। पढ़ाते समय कहा करते थे कि उस व्याकरण पर अंग्रेजी और मराठी व्याकरणों का प्रभाव अधिक है, हम लोगों को हिंदी का स्वतंत्र व्याकरण बनाना चाहिए। उन्होंने विद्यार्थियों से व्याकरण-विषयक अनेक प्रबंध लिखाए जिनसे उनकी चिंतनधारा का परिचय मिल सकता है। वे चाहते थे कि हिंदी के स्वाभाविक और स्वतंत्र विकास को ध्यान में रखकर वैज्ञानिक दृष्टि से सामग्री का संचयन किया जाय, न संस्कृत व्याकरण उसपर लादा जाय और न अंग्रेजी। पंडित जी के प्रति एक श्रद्धांजलि होगी हिंदी का अभिनव व्याकरण प्रस्तुत करना।

आलोचना की दृष्टि—केशव जी ने आलोचना पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा, तो भी इस क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। उन्होंने कुछ भूमिकाओं, भाषणों तथा निबंधों द्वारा ही अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। छायावाद, रसवाद,

प्रातिभ ज्ञान आदि पर उनका मत किसी से छिपा नहीं है। उन्होंने छायावाद का अर्थ किया था सौंदर्यवाद की शाश्वत प्रवृत्ति। रसवाद समझाने के लिये उन्होंने मधुमती भूमिका की स्थापना की थी। इसी प्रकार रहस्यवाद और प्रकृति संबंधी विचार भी बीच बीच में स्पष्ट हो गए हैं। पूरी विचारधारा सामने आने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य केशव जी ने दो भिन्न छोरों पर बैठकर काम किया, तो भी उनका समन्वय सफल हो गया। रस के क्षेत्र में वे अभिनवगुप्ताचार्य की परंपरा का पुनर्जागरण करना चाहते थे। वे आचार्य शुक्ल जी के रसमीमांसा वाले सिद्धांत से व्यापक दृष्टि से सहमत नहीं थे। इसी लिये उन्होंने यह मत प्रकट किया था कि रस का मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान नहीं (द्रष्ट० 'आदर्श और यथार्थ', भूमिका)। इस प्रकार रस का शुद्ध परंपरावादी दृष्टिकोण अपनाकर भी वे आधुनिक युग के इहलोकप्रधान छायावादी साहित्य का भी मान करते थे। संक्षेप में उनका मत यह था कि साहित्य के नाम-रूप अनंत होते हैं, अतः अलौकिक और आध्यात्मिक साहित्य के साथ ही लौकिक और युगानुरूप साहित्य का पूरा महत्त्व मानना चाहिए। इसी कारण पंडित जी ने हिंदी के क्षेत्र में दोनों ओर से आदर पाया। प्राचीन परंपरावादी उन्हें शुद्ध आनंदवादी मानते थे और नवीन छायावादी उन्हें अपना श्रेष्ठ आचार्य। उनका विश्वास था कि शुद्ध रूप में प्रत्येक वस्तु साहित्य में कल्याणकर होती है। सहृदय को—शुद्ध हृदय से उस शुद्ध कल्याणांश को ही ग्रहण करना चाहिए। इसी लिये जीवन भर उन्होंने 'सहृदय' शब्द का महत्त्व समझाया और स्वयं भी ऐसा सहृदयता का जीवन बिताया कि उनकी दो पंक्तियों ने भी इस युग के लेखकों और विचारकों को प्रभावित किया। आज यदि पूर्व और पश्चिम—प्राचीन और नवीन—की मिली हुई परंपरा और उत्तरोत्तर बढ़नेवाली प्रगति का समन्वय करना हो तो पंडित जी का आलोक हमें सदा मार्ग दिखाएगा।

पंडित जी की चिरपोषित इच्छाओं में एक यह भी थी कि साहित्य का एक शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया जाय। उनका स्थिर मत था कि रस का दृष्टिकोण इतना शुद्ध और व्यापक है कि उसके द्वारा साहित्य के विषय में सभी भ्रमों का निराकरण और सभी वादों का समन्वय किया जा सकता है। पंडित जी के बिखरे लेखों के आधार पर साहित्यालोचन की एक व्यवस्थित भूमिका प्रस्तुत की जा सकती है।

कामायनी की व्याख्या—सभी जानकार जानते हैं कि कामायनी की व्याख्या को दृढ़ भूमिका पर रखने का श्रेय केशव जी को है। प्रसाद ने कामायनी को लिखा था, पर उसे पढ़ाया और लोकप्रिय बनाया आचार्य केशव जी ने। साहित्य की व्याख्या के संबंध में पंडित जी के कुछ सुनिश्चित मत थे। वे कहा करते थे कि चाहे रस-पद्धति से चला जाय अथवा आधुनिक व्याख्यात्मक आलोचना के मार्ग से, पर मर्म व्याख्या का एक ही है। वह है सहृदय की निर्दोष दृष्टि। जिस दृष्टि से कवि ने लिखा है उसी दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयास करना चाहिए। उनका मत था कि साहित्यकार की संस्कृति और श्रुत का ज्ञान भी व्याख्या में सहायता करता है। वे यह भी कहा करते थे कि काव्य समग्र और जटिल जीवन की अखंड और सरल अभिव्यक्ति है; अतः प्रत्येक सहृदय को उसमें अपना अर्थ निकालने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है।

कामायनी पढ़ाने के प्रसंग में केशव जी ने पुस्तक पर ही प्रारंभ में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का संक्षेप लिख दिया है और कुछ स्थलों पर टिप्पणियाँ भी दी हैं जिनसे प्रसाद की दृष्टि को समझने में महत्त्वपूर्ण, सहायता मिलती है। आचार्य की इन टिप्पणियों के अनुसार कामायनी की एक व्याख्या प्रस्तुत करना हम लोगों का काम है। इस व्याख्या से अनेक लाभ हो सकते हैं—छायावादी साहित्य की व्याख्या-पद्धति में स्थिरता, जन-जीवन से 'कामायनी' का संपर्क, 'कामायनी' के मूल्यांकन में स्पष्टता आदि। पंडित जी की व्याख्या में श्रुत और अभ्यास की गरिमा के साथ यह विशेषता रहती थी कि वे 'कामायनी' को एक ही साथ आख्यान और प्रतीक दोनों मानते थे। वे वाच्य और व्यंग्य के इस अखंड संबंध को स्पष्ट करने के लिये स्वाध्याय-गोष्ठी में एक अंग्रेजी वाक्य का प्रयोग किया करते थे—'It is legend and symbol both', अर्थात् 'कामायनी' आख्यान और प्रतीक दोनों है।

रामचरितमानस की नई व्याख्या—इस युग के विद्वान् रामचरितमानस को चरितप्रधान काव्य मानकर उसका आलोचन कर रहे थे। आचार्य केशव जी ने नई दृष्टि सामने रक्खी और अपने निबंध ('रामचरितमानस के सिद्धांत, साधन और साध्य') में यह सिद्ध किया कि 'गोस्वामी जी का रामचरितमानस भक्ति-प्रधान ग्रंथ है, चरितप्रधान नहीं'। इसी प्रकार उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि 'रामचरितमानस के कथन-श्रवण से उत्पन्न भक्ति का फल मन का विश्राम है', न कि लोकसंग्रह। आज के अनेक अध्ययनशील व्यक्ति पंडित जी की इन बातों को

पर्याप्त महत्त्व देने लगे हैं। पंडित जी यह भी कहा करते थे कि 'मानस का अध्ययन भाषाविज्ञान की दृष्टि से पहले होना चाहिए, तभी व्याख्या स्वस्थ और सुलझी हुई होगी'।

उच्च कोटि का निबंध साहित्य—पंडित जी ने निबंध तो थोड़े ही लिखे हैं, पर हैं वे बहुत ऊँची कोटि के। कुछ निबंध व्यक्तिप्रधान निबंध के सभी गुणों से पूर्ण और कुछ विषयप्रधान साहित्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं तथा कुछ निबंध संस्मरण के सफल चित्र उपस्थित करते हैं। पहले प्रकार के उदाहरण हैं 'उच्चारण' और '?' शीर्षक निबंध। दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं 'मानस के सिद्धांत, साधन और साध्य' और 'मधुमती भूमिका और रसास्वाद'। तीसरे प्रकार के उदाहरण हैं 'कर्ता प्रसाद', 'द्विवेदी जी का आचार्यत्व' और 'आचार्य शुक्ल जी की स्मृति में'। इस प्रकार के संस्मरण लिखने में पंडित जी बहुत कुशल थे। उन्होंने पंडित शिवकुमार शास्त्री तथा महामना मालवीय जी पर भी संस्मरण लिखे हैं। इन संस्मरणों से उनकी विदग्धता का पूरा परिचय मिलता है। इन लेखों में केवल संस्मरणीय का ही चित्र नहीं मिलता, संस्मरणकर्ता का भी व्यक्तित्व स्पष्ट सामने आ जाता है।

पंडित जी के निबंधों का आलोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें विस्तृत जानकारी, शिष्ट और सौम्य शैली, साहित्यिक भाषा, व्यंग और विनोद, व्यक्तिगत पुट तथा प्रभाव का स्थायित्व आदि शुद्ध निबंध के सभी गुण मिलते हैं।

द्विवेदी-युग के निबंध-लेखकों में हमें दो ही व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जिन्हें हम विद्वत्ता और रसिकता की समन्वय-मूर्ति कह सकते हैं—एक पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी और दूसरे आचार्य केशवप्रसाद मिश्र। इन दोनों ही लेखकों के निबंध हिंदी की अक्षय निधि हैं।

पंडित जी की भूमिकाएँ—निबंधों के अतिरिक्त पंडित जी ने कई ग्रंथों की भूमिकाएँ भी लिखी हैं और उनके द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों और विचारकों को स्फूर्ति दी है। यद्यपि उन्होंने उन्हें सूत्र रूप में ही लिखा है तथापि उनमें रस, मधुमती भूमिका, रस का मनोविज्ञान, छायावाद आदि अनेक विषयों पर अपना स्थिर मत प्रकट किया है और उसका युग की विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा है। जिन पुस्तकों में ये भूमिकाएँ लिखी गई हैं उनमें से कुछ ये हैं—(१) मेघदूत (हिंदी अनुवाद); (२) आदर्श और यथार्थ; (३) शांतिप्रिय द्विवेदी द्वारा संकलित

'परिचय'; (४) काव्यालोक; (५) वैद्युत शब्दावली; (६) गद्यभारती; (७) पदचिह्न और लोकगीत इत्यादि। इन भूमिकाओं में सुचिंतित एवं मौलिक विचार तो मिलते ही हैं, साथ ही अनेक स्थल शुद्ध साहित्य का आनंद देते हैं।

अन्य रचनाएँ—केशव जी ने बहुत छोटे वय में ही 'हर-वंश-गुण-स्मृति' नामक प्रबंध-काव्य संस्कृत में लिखा। आगे चलकर इनके श्लोक इतने सुंदर माने जाने लगे कि उनमें से कई एक शिलालेखों पर लगाए गए। कालिदास के मेघदूत का हिंदी (खड़ी बोली) में अनुवाद तो उनका भारत-प्रसिद्ध है। उन्होंने संस्कृत पढ़नेवालों के लिये 'संस्कृतसरणिः' नाम की पुस्तक दो भागों में लिखी जो अपने ढंग की अनूठी है और भाषावैज्ञानिक ढंग से संस्कृत सीखने के लिये बहुत उपादेय है। छात्रों के हितार्थ उन्होंने कई संग्रह भी प्रस्तुत किए, जिन सबमें उनका स्वस्थ दृष्टिकोण लक्षित होता है—यथा संस्कृतसौरभ, रसायन, गद्य-भारती आदि।

सफल वक्ता और अध्यापक—केशव जी वक्ता भी बहुत अच्छे थे और उनके भाषण बड़े सारगर्भित होते थे। उनके फैजाबाद सम्मेलन वाले भाषण का उल्लेख निराला जी ने अपने लेख में किया है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के काशी-अधिवेशन के कवि-सम्मेलन में दिया गया उनका स्वागत-भाषण (प्रस्तुत अंक, पृ० ३७१ पर उद्धृत) उनकी समकालीन साहित्य की स्वस्थ आलोचना-दृष्टि सामने रख देता है। नागरीप्रचारिणी सभा (काशी) में 'साधारणीकरण' पर उनका महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुआ था। उनके भाषणों में विचार-सामग्री के साथ ही प्रेरक शक्ति भी रहती थी। इसी प्रकार उनके सफल अध्यापन ने भाषाविज्ञान के अध्ययन और आधुनिक साहित्य के स्वस्थ आलोचन की परंपरा स्थिर कर दी। उदाहरणार्थ, सन् १९३८ में अनेक विद्वान् कहा करते थे कि 'कामायनी' का जानकार 'प्रसाद' के निधन के उपरांत कोई नहीं बचा, पर आज केशव जी के अध्यापन ने स्थिति बदल दी है।

प्रसन्न व्यक्तित्व—उक्त सभी क्षेत्रों में पंडित जी के समर्थ और सफल होने का रहस्य था उनका प्रसन्न व्यक्तित्व। वे प्रसन्नात्मा थे। उनकी वाणी में दूध की मिठास थी। उनके व्यवहार में आकर्षणपूर्ण शिष्टता थी। इसी विशिष्टता ने उन्हें अग्रणी और पथदर्शक बनाया।

उपसंहार—पंडित जी की अनेक रचनाओं का उल्लेख हमने ऊपर किया है। परंतु सबसे मुख्य तत्त्व की चीजें जो थे हमें दे गए हैं वे दो हैं—शब्द की उपासना और भारती का स्वाध्याय। भारती के वे दो मुख्य अर्थ करते थे—(१) भारत की राष्ट्रभाषा, (२) भारत की प्राचीन विद्या, जिसे आजकल के विद्वान् अंग्रेजी में 'इंडॉलजी' (Indology) कहते हैं। पंडित जी इन दोनों ही विषयों के प्रेमी थे। उन्होंने ऋग्वेद के इस शब्द को फिर से हिंदी में प्रतिष्ठित किया और अपनी अनन्य उपासना (सम्यग्ज्ञान और सुप्रयोग) द्वारा उसे हिंदी का आलोक-स्तंभ बना दिया।

—पद्मनारायण आचार्य

सफल सामाजिक कवि

द्विवेदीकालीन कविता

हिंदी कविता की सुदीर्घ परंपरा में यदि किसी काल की कविता पूर्ण समाजदर्शी होने का धर्मपालन करती है तो वह है द्विवेदी-काल की कविता। यों तो सामाजिक कविता का सूत्रपात भारतेंदु-काल में हो चुका था, परंतु उसको परिपूर्णता इसी काल में मिली। ई० बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों की सामाजिक गति-विधि का पूर्ण प्रतिबिंब इस सामाजिक कविता में है। वह समाज के प्रति जीवित और जागरूक है।

उस समय का भारतीय जीवन श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में 'कुरीतियों का केंद्र', 'सभी गुणों से हीन' और रूढ़ि-जर्जर हो गया था। आर्यसमाज ने सामाजिक पक्ष को लेकर अपना सुधार-कार्य बड़ी सफलता से किया। समाज राज की भित्ति है, अतः समाज का निर्माण करने के लिये प्रत्येक कवि अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग है। कवि समाज के उत्थान का मर्म जानता है और वह सुधार और उन्नति का कविता में अभिनंदन ही नहीं करता, उसकी प्रेरणा भी देता है। इस काल के कवियों का एक हाथ समाज के हृदय पर है, कान जनपथ पर उठनेवाली ध्वनि के साथ हैं और दूसरे हाथ में लेखनी है। हृदय की धड़कन को बायाँ हाथ सुनता है और दायाँ हाथ लिखता है तथा कान से सुनी हुई जन-ध्वनि को भी उसमें अंकित कर देता है। इस प्रकार की है द्विवेदी-काल की समाजपरक कविता।

यथार्थवाद के चित्रण में दो प्रकार से अभिव्यंजना होती है। एक तो वह जिसमें कवि की दृष्टि व्यंग्यात्मक होती है और दूसरी वह जिसमें करुणात्मक होती है—एक से रोष ध्वनित होता है, दूसरी से करुणा। दोनों में वेदना प्रच्छन्न होती है।

सामाजिक जीवन के विविध पक्ष हैं—(१) नैतिक, (२) सांस्कृतिक, (३) धार्मिक (४) आर्थिक और (५) राजनैतिक।

स्वर्गीय केशव जी का कृतित्व

स्वर्गीय पंडित केशवप्रसाद मिश्र इस युग के एक सफल सामाजिक कविताकार थे। हिंदी को उसका न्यायोचित अधिकार दिलाने के संघर्ष के उन दिनों में बड़े-से-बड़े से लेकर छोटे-से छोटे हिंदी-प्रेमी की एक प्रमुख वेदना रही है नागरी का निरादर और हिंदी की हीनता। सभा-समितियों और लोकनेताओं को हिंदी के स्वत्व के अर्जन के लिये अपने प्राणपण से आंदोलन करना पड़ा है। पत्र-पत्रिकाओं में इस आंदोलन की गूँज स्पष्ट है। मिश्र जी की कविता 'हमारी मातृभाषा हिंदी और हमारे एम० ए० बी० ए० सपूत' में अपने देशवासियों की कर्तव्यविमुखता पर रोष ध्वनित हुआ है—

चाहे विदेशी वर्णमाला आपके पीछे लगे,
चाहे बृहस्पति से अधिक हों आप इंगलिश के सगे,
जब तक नहीं निज मातृभाषा प्रीति होगी आपमें,
तब तक नहीं अंतर पड़ेगा देश के संताप में।

समाज की आर्थिक विपन्नता पर भी मिश्र जी ने प्रकाश डाला है और सहानुभूति के साथ विपन्नों से भावात्मक तादात्म्य किया है। दुर्भिक्ष, दरिद्रता, भुखमरी तो उनकी कविता में मुखर ही हो उठी हैं—

सभा-समाज देश की सेवा एवं वाद-विवाद,
जठर पिंड में चारा रहते आते हैं सब याद।
किंतु आज ये सभी वस्तुएँ मुझे दीखतीं भार;
हा! हा! हंत! बिना ही खाए बीत गए दिन चार।

किसान की पीड़ा को वैषम्य से उन्होंने व्यंजित किया है। मातादीन उनकी कविता का नायक है—

जो करता था पेट काटकर सरकारी कर दान;
रहता था प्रस्तुत करने को अभ्यागत का मान।
नहीं हुआ था जिसे धैर्यवश कभी दुःख का भान,
आज वही भूखों मरता है मातादीन किसान।

समाज-वैषम्य की प्रखरता देखिए—

हाहाकार मचा भूखों का है धनिकों के पास,
फिर कैसे ये तोंद फुलाए खाते विषमय ग्रास!

आर्थिक सभ्यता की भर्त्सना भी कितनी तीखी है—

अगर सभ्यता आज भरे ही को है भरना,
नहीं भूलकर कभी गरीबों का हित करना।
तो सौ-सौ धिक्कार सभ्यता को है ऐसी।
जीव-मात्र को लाभ नहीं तो समता कैसी?

('वर्षा और निर्धन' "सरस्वती", अगस्त १६१६)

प्रगतिवादी-कविता-प्रेमी ऐसी पंक्तियों में सरलता से 'प्रगतिवादी' कविता के बीज देख सकते हैं। 'जाड़ा और निर्धन' कविता में भी ऐसे ही यथार्थ चित्र हैं जो आज की 'प्रगतिवादी' कविता के अवतरणों से तुलनीय हैं—

(१) सिर पर सदा घास का बोझा तन पर नहीं एक भी सूत;
हाय, हाय, कंपित होता है जाड़े से भारत का पूत।
छोटे छोटे बच्चे घर पर देख रहे हैं उसकी बाट,
किंतु आज वह दुःखित लौटा विफल हुई है उसकी हाट।

(२) एक दरिद्र कृषक है जिसने किया खेत में दिन भर काम;
किंतु पेट भर रोटी मिलना उसको है जय सीताराम।
आशावश हो वहीं खेत की रखवाली करता है रात,
उस जाड़े में वहीं बिताते अपने दुख की सारी रात।

("सरस्वती", फरवरी १६१५)

—(डा०) सुधींद्र

स्वाध्यायी, सुवक्ता और सुलेखक

सन् १९२३ में मैं सेंट्रल हिंदू स्कूल का प्रधान अध्यापक नियुक्त किया गया। उससे पहले सुना करता था कि हिंदू स्कूल में संस्कृत के एक ऐसे अध्यापक हैं, जो जिस दिन से विद्यार्थी को संस्कृत पढ़ाना शुरू करते हैं उसी दिन से संस्कृत में बोलने का अभ्यास भी कराते हैं। इस प्रणाली को अंग्रेजी में 'डायरेक्ट मेथड' कहते हैं। विदेशी भाषाएँ सिखलाने के लिये तो इसकी उपयोगिता का अनुभव मुझे हो चुका था, पर हिंदू स्कूल में पहुँचकर और आचार्य पंडित केशव-प्रसाद जी का बच्चों को संस्कृत पढ़ाना देखकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि विदेशी भाषा की अपेक्षा इस प्रणाली से संस्कृत पढ़ाना तो और भी सरल है, क्योंकि बच्चों की मातृभाषा में भी तो संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य रहता है। मैं बहुत ही प्रसन्न होता था जब उनकी कक्षा के विद्यार्थी संस्कृत के छोटे-छोटे वाक्यों में आकर मुझसे पूछते थे कि 'क्या हम घर जा सकते हैं?', 'क्या हम स्कूल के बाद खेल की सामग्री ले सकते हैं?' इत्यादि। तभी से मेरे हृदय में केशव जी के लिये आदर का भाव उत्पन्न हुआ।

कुछ दिनों के बाद हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में एक प्राध्यापक की आवश्यकता हुई। स्वर्गीय डा० श्यामसुंदरदास, जो उस विभाग के अध्यक्ष थे, चाहते थे कि केशव जी वहाँ नियुक्त हो जायँ। परंतु महामना मालवीय जी के मन में यह गलत धारणा बैठी हुई थी कि स्कूल में पढ़ानेवाला अध्यापक कालेज में सफल नहीं हो सकता और केवल संस्कृत पढ़ानेवाला हिंदी साहित्य अच्छी तरह नहीं पढ़ा सकता। इसलिये मालवीय जी महाराज ने डा० श्यामसुंदरदास के प्रस्ताव पर बहुत ध्यान नहीं दिया। पर संयोग ऐसा आया कि उन्हीं दिनों स्कूल में तुलसी-जयंती होनेवाली थी। मैंने केशव जी से कहा कि उस जयंती में तुलसी-साहित्य पर व्याख्यान दें और उसकी तुलना संस्कृत साहित्य से करें। केशव जी का वह व्याख्यान इतना विद्वत्तापूर्ण और साथ ही रोचक हुआ कि मालवीय जी पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। मालवीय जी बड़े भावुक थे और केशव जी ने अपने भाषण में विनयपत्रिका की अधिक चर्चा की। मालवीय जी बहुत गद्गद् हुए और मुझसे वहीं धीरे से कहा कि ये तो बड़े विद्वान् मालूम होते हैं। मैंने सुअवसर पाकर तुरंत कहा कि इसी लिये तो बा० श्यामसुंदरदास इनको विश्वविद्यालय में लेना चाहते हैं।

इसके कुछ महीने बाद अखिल-भारतीय संस्कृत-सम्मेलन हिंदू स्कूल के काशी-नरेश हाल में हुआ, जिसके अध्यक्ष मालवीय जी थे। उसमें भी मेरे बहुत आग्रह करने पर केशव जी ने संस्कृत में भाषण दिया। वे धाराप्रवाह संस्कृत बोल सकते हैं यह उसी दिन लोगों को विदित हुआ। केशव जी में आत्मविज्ञापन का भाव नहीं था। स्वेच्छा से वे व्याख्यान देने खड़े नहीं हो जाते थे। बहुत आग्रह करने पर राजी होते थे। शायद यही कारण है कि उनके व्याख्यानों से जितना ज्ञान प्रकट होता था वह सब वे लिखित रूप में नहीं छोड़ गए। सार्वजनिक जीवन में थोड़ी-बहुत अपने को अग्रसर करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। यह बात केशव जी में बिलकुल नहीं थी। जहाँ तक मुझे याद है, जब कभी उनसे व्याख्यान आदि देने के लिये कहा जाता था तो वे यही कहा करते थे कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। संभव है वे ठीक कहते हों, पर जब उनका व्याख्यान हो जाता था तो वह इतना सुंदर होता था कि लोग चाहते थे कि उसे छाप डालें। पर उन दिनों शीघ्रलिपि हिंदी में नहीं चली थी।

जब हिंदू विश्वविद्यालय में नियुक्ति का समय आया तो महामना मालवीय जी ने स्वयं प्रस्ताव किया कि पं० केशवप्रसाद मिश्र चुने जायँ, और वे नियुक्त कर लिए गए। मालवीय जी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे। यहाँ तक कि जब कभी वे उनसे मिलने जाते थे तब भीड़ रहने पर भी उनको अवश्य बुला लेते थे। केशव जी के हृदय में आत्मसम्मान की दृढ़ भावना के साथ-साथ बड़ों के लिये आदर का भाव भी बहुत अधिक था। संसार में बहुधा आत्मसम्मान के साथ अहंकार का भाव लोगों में आ जाया करता है, पर उनमें यह बात नहीं थी।

वे बहुत मिलने-जुलनेवाले आदमी नहीं थे। पढ़ाते तो थे ही, और अच्छा पढ़ाते थे परंतु पढ़ने में उनको अधिक रस मिलता था। स्कूल में भी अवकाश के समय वे एक कोने में बैठकर कोई न कोई पुस्तक पढ़ते हुए दिखाई देते थे। बहुत से लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनके अंग्रेजी में भी लेख बहुत सुंदर भाषा में हुआ करते थे। जब हिंदी-विभाग में अध्यक्ष का चुनाव हो रहा था तब पं० इकबाल नारायण गुर्टू विश्वविद्यालय के प्रो-वाइस-चांसलर थे। केशव जी का एक अंग्रेजी लेख लेकर मैं गुर्टू जी के पास पहुँचा। उन्होंने, उसे रख लिया। जब नियुक्ति का समय आया तब उन्होंने समिति में केशव जी की

बड़ी प्रशंसा की। गुट्टू जी हिंदी साहित्य के पंडित नहीं हैं और यही उनकी कठिनाई थी, पर उस लेख से केशव जी की विद्वत्ता उनको विदित हो गई और केशव जी अध्यक्ष चुन लिए गए।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा सदा उनकी ऋणी रहेगी। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के परीक्षार्थियों के हितार्थ सभा में जब कभी साहित्यिक व्याख्यान हुआ करते थे, केशव जी को लोग आग्रहपूर्वक पकड़कर ले आते थे, पर उनके आलोचनात्मक, विशेष कर भाषाविज्ञान संबंधी भाषणों से केवल परीक्षार्थी ही नहीं, अन्य श्रोतागण भी प्रसन्न हो जाते थे। भाषाओं के संबंध में तो उनकी रुचि अद्भुत थी। गाँववालों की बोली, पंजाबियों की बोली और आसाम और उड़ीसा की भाषा के एक-एक शब्द तुलनात्मक दृष्टि से जब वे सामने रखा करते तब मुझे तो मैक्समूलर का वह लेख (Migration of Words) याद आ जाता था जिसमें उन्होंने यह बतलाया है कि एक स्थान के शब्द और कहानियाँ किस प्रकार परिवर्तित रूप में दूसरे स्थान में पहुँच जाती हैं।

—रामनारायण मिश्र

'पत्रिका की परिवर्तन-सूची, सं० २००८

हिंदी

अदिति	पांडिचेरी
आगामी कल	खँडवा
आज (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	काशी
आर्यमार्तंड	अजमेर
कर्मवीर	खँडवा
कल्पना	हैदराबाद(दक्षिण)
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
किशोर	पटना
जनवाणी	काशी
जीवन साहित्य	नई दिल्ली
जैन-सिद्धांत-भास्कर	आरा
ज्ञानोदय	काशी
दीदी	प्रयाग
दीपक	अबोहर
धर्मदूत	सारनाथ
नईधारा	पटना
नयासमाज	कलकत्ता
प्राणिशास्त्र	लखनऊ
भारत (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारती	नागपुर
भारतीय विद्या	बंबई
राष्ट्रभारती	वर्धा
लोकमान्य	कलकत्ता
विशाल भारत	कलकत्ता
विश्ववाणी	प्रयाग
वीर अर्जुन	दिल्ली
वीणा	इंदौर
वेंकटेश्वर समाचार	बंबई
वैदिक धर्म	औंध
व्रजभारती	मथुरा
शांतिदूत	काशी
शिक्षा	इलाहाबाद,
शुभचिंतक	जबलपुर
शोध पत्रिका	उदयपुर
संगीत	हाथरस
सचित्र आयुर्वेद	कलकत्ता

समाजशास्त्र	वनस्थली, जयपुर
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सार्वदेशिक	दिल्ली
साहित्य	पटना
साहित्य संदेश	आगरा
सैनिक	आगरा
स्वतंत्र भारत	लखनऊ
हंस	काशी
हरिजन सेवक	अहमदाबाद
हिंदुस्तानी प्रचार	मद्रास

अँगरेजी

अद्यार लायब्रेरी बुलेटिन	अद्यार
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली	कलकत्ता
ईस्ट ऐंड वेस्ट	रोम (इटली
एंशंट इंडिया	नई दिल्ली
एनल्स आव द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
एनल्स आव द श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टिट्यूट	तिरुपति
ऐनुअल बिब्लियाग्रफी आव इंडियन आक्योंलाजी	लीडन (हालैंड)
जर्नल आव दि इंडियन हिस्ट्री	त्रिवेंद्रम
जर्नल आव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास
जर्नल आव द बांबे ब्रांच आव रायल एशियाटिक सोसायटी	बंबई
जर्नल आव द बांबे युनिवर्सिटी	बंबई
जर्नल आव द बिहार रिसर्च सोसायटी	पटना
जर्नल (क्वार्टर्ली) आव द मीथिक सोसायटी	बंगलोर
जर्नल आव दि आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी	राजमहेंद्री
जर्नल आव दि ओरियंटल इंस्टीट्यूट	बड़ोदा
थियासाफिस्ट	काशी
दि जैन ऐंटिक्वेरी	आरा
बुलेटिन आव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज	लंदन
सेल्फ रिअलिजेशन मैगजीन	कैलिफोर्निया (सं० रा० अमेरिका)
हार्वर्ड जर्नल आव एशियाटिक स्टडीज	केंब्रिज (मसाचुसेट्स)

अन्य

केसरी (मराठी)	पूना
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
भारत इतिहास संशोधक मंडल पत्रिका (मराठी)	पूना